5

विराट् पुरुष

राष्ट्रऋषि नानाजी

विराट् पुरुष

राष्ट्रऋषि
नानाजी

विराट् पुरुष

राष्ट्रऋषि

नानाजी

विराट् पुरुष

राष्ट्रऋषि

नानाजी

दीनदयाल शोध संस्थान, नई दिल्ली

प्रभात प्रकाशन, दिल्ली

ISO 9001:2008 प्रकाशक

प्रकाशक • **प्रभात प्रकाशन**
4/19 आसफ अली रोड,
नई दिल्ली–110002
सर्वाधिकार • सुरक्षित
संस्करण • 2017
मूल्य • तीन सौ पचास रुपए
मुद्रक • ग्राफिक वर्ल्ड, नई दिल्ली

VIRAT PURUSH : RASHTRARISHI NANAJI ₹ 350.00
Published by Prabhat Prakashan, 4/19 Asaf Ali Road,
New Delhi-110002 • e-mail: prabhatbooks@gmail.com
in association with Deendayal Research Institute,
7-E, Swami Ramtirth Nagar, Rani Jhansi Road, New Delhi-55
e-mail: dridelhi1@gmail.com
Vol. 5 ISBN 978-93-5186-080-8
Set of 6 Vols. ISBN 978-93-5186-082-2 • Price: ₹ 2000.00

आमुख

नानाजी देशमुख देश के उन गिने-चुने स्वयंसेवकों में से थे, जो प्रत्यक्ष रूप में संघ के संस्थापक डॉ. केशव बलिराम हेडगेवार की प्रेरणा से स्वयंसेवक बने थे। बारह वर्ष की अल्पायु में ही उन्होंने डॉक्टरजी का भाषण सुनकर स्वयं को राष्ट्रसेवा के लिए समर्पित कर स्वयंसेवक बनने का निश्चय कर लिया था। अठारह वर्ष की आयु में डॉक्टरजी ने ही उन्हें स्वयंसेवक की प्रतिज्ञा कराई। तब से वे जीवनपर्यंत खांटी स्वयंसेवकत्व के आग्रही रहे।

आरंभिक समय संघ के प्रत्यक्ष कार्य में लगाने के बाद नानाजी ने स्वयं को अपने जीवन-ध्येय यानी शिक्षा को देशानुकूल बनाने के काम में लगाने का निर्णय किया, और कल्पनाशील नानाजी ने प्रारंभ की शिशु मंदिर की परंपरा। अल्पकाल में ही उन्होंने अपनी दूरदृष्टि, लगन और संपर्कों के माध्यम से इसे स्थापित करने में सफलता हासिल कर ली थी। और तभी उदय हुआ जनसंघ का। संघ नेतृत्व को नानाजी के अंदर का राजनीतिज्ञ नजर आया और उन्हें दीनदयालजी के साथ जनसंघ में भेज दिया गया। लगभग तीन दशक तक नानाजी देश के राजनीतिक पटल पर छाए रहे। उनका राजनीतिज्ञ स्वरूप पाठकों को अंतिम खंड में पढ़ने को मिलेगा।

लेकिन राजनीति में काम करने के बाद भी नानाजी संघ के प्रति पूरी तरह समर्पित रहे। यह भी सत्य है कि व्यावहारिक और तात्कालिक राजनीति के मामले में भी नानाजी का कोई सानी नहीं रहा। लेकिन जनसंघ हो या जनता पार्टी, नानाजी ने संघ के सिद्धांतों से समझौता नहीं होने दिया। जब 1979 में देश राजनीतिक झंझावात से गुजर रहा था, तब भी संघ के दृष्टिकोण से ही राजनीति का सिंहावलोकन करते हुए एक बहुचर्चित पुस्तक लिखी, जिसका शीर्षक ही था 'राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ'।

इमर्जेंसी के पश्चात् जब नानाजी देश की राजनीति में अपने शिखर पर थे, उन्होंने सक्रिय राजनीति से संन्यास लेकर देश के सामने एक नई मिसाल रखी और युवाओं को आगे आने का आह्वान किया। यहां से आरंभ हुआ उनके जीवन का नया और सबसे उल्लेखनीय अध्याय। अपने इस नए अवतार में नानाजी ने देश पर अपनी सबसे ज्यादा छाप छोड़ी—एक स्टेट्समैन, एक आधुनिक ऋषि, राष्ट्रऋषि के रूप में। दलगत भावना से बिलकुल हटकर चलनेवाले राजनेता के रूप में। वास्तव में उन्होंने राजनीति को छोड़, राष्ट्रनीति प्रतिपादित करने का रास्ता अपनाया।

नानाजी ने समाजसेवा को नया आयाम दिया, एक नया रूप। जिसमें उन्होंने जनसाधारण की

पहल और उसकी सहभागिता को प्रमुख स्थान दिया। समाजसेवा से कहीं अधिक वह सामाजिक पुनर्रचना और उसके माध्यम से राष्ट्र नवनिर्माण का उपक्रम था। गोंडा, बीड़, चित्रकूट व नागपुर प्रकल्पों के माध्यम से उन्होंने देश के सामने विकास का ऐसा मॉडल खड़ा किया, जो देशानुकूल होते हुए भी समयानुकूल था। सचमुच में वह पंडित दीनदयाल उपाध्याय द्वारा प्रतिपादित एकात्म मानवदर्शन का मूर्त रूप था।

अपनी खोज यात्रा में, और अधिक जानने-समझने की जिज्ञासा में उन्होंने देश को अपने विचारों और कर्तृत्व से बहुत कुछ दिया। कई बार ऐसा लगा कि नानाजी वर्तमान परिस्थितियों और व्यवस्थाओं से निराश हो रहे हैं, लेकिन उन्होंने संघ से अपने संबंधों के साथ कभी कोई समझौता नहीं किया। आगे आनेवाले पन्नों में नानाजी के राष्ट्रजीवन के विविध रूप उन्हीं के शब्दों में हमें पढ़ने को मिलेंगे। इनमें कुछ ऐसे पत्र भी हैं, जो उन्होंने संघ अधिकारियों को लिखे, लेकिन जिन्हें अपने जीते जी सार्वजनिक नहीं किया। परंतु नानाजी वाङ्मय के साथ न्याय करने के लिए आवश्यक है कि उन पत्रों को अब सर्वसाधारण के सामने प्रस्तुत कर दिया जाए।

विराट् पुरुष
नानाजी देशमुख

जिन दिनों प्रस्तुत वाङ्मय का संकलन व संपादन चल रहा था, उन्हीं दिनों अंग्रेजी की एक उपन्यास श्रृंखला चर्चा में आई–शिवा ट्रायोलॉजी। एक युवा भारतीय लेखक अमीश ने उसमें भगवान् शिव की एक मनुष्य-रूप में कल्पना कर उनकी स्तुति की है। बहुत खूबसूरत वर्णन है। देवों के देव महादेव का उन्होंने दुष्टता का नाश करनेवाले, प्रचंड प्रेमी, महान् योद्धा, नृत्यकला में निपुण, एक करिश्माई नेतृत्व क्षमता वाले, परम शक्तिशाली लेकिन फिर भी सब प्रकार के दोषों से मुक्त, अद्भुत वाक्पटु, पूरे ब्रह्मांड को कंपा देनेवाला गुस्सा, लेकिन विशाल, दया व करुणा से भरपूर हृदय, ऐसे व्यक्तित्व के रूप में चित्रण किया है।

लेखक का संभवतः नानाजी से परिचय नहीं रहा होगा। वरना वे नानाजी को सामने रखकर भी एक जीवंत उपन्यास की रचना कर सकते थे–देवताओं के सभी गुणों से परिपूर्ण, राजनीति में दुष्ट लोगों को साफ-साफ खरी-खोटी सुनानेवाले और उन्हें राजनैतिक तौर पर ही नष्ट करनेवाले, स्वयं ब्रह्मचारी लेकिन गृहस्थ जीवन के कट्टर समर्थक व गृहस्थों को प्रेम का पाठ पढ़ानेवाले, महान् रणनीतिकार, ललित कलाओं के प्रेमी, करिश्माई नेतृत्व क्षमता वाले, अपने समय के सर्वाधिक शक्तिशाली राजनेताओं में से एक, लेकिन महत्त्वाकांक्षाओं व अहंकार से पूर्णतया मुक्त, वाक्पटुता अद्वितीय, आवश्यकता पड़ने पर गजब का गुस्सा, यानी वही सब गुण, जिनको आधार बनाकर वह उपन्यास लिखा गया।

नानाजी के निधन के पश्चात् हम सबने उनका राष्ट्रऋषि के रूप में स्मरण किया। अपने जीवनकाल में मानव कल्याण के लिए उन्होंने जो साधना की, जो तपस्या की, उसे देखते हुए तो उनके जीवित रहते हुए ही उन्हें इस रूप में संबोधित किया जा सकता था। लेकिन नानाजी को यह स्वीकार्य नहीं होता। चित्रकूट में नानाजी से मिलने व उनके काम को देखने के बाद तत्कालीन राष्ट्रपति डॉ. ए.पी.जे. अब्दुल कलाम उन्हें एक ऋषि-तुल्य व्यक्ति के रूप में ही संबोधित करते थे।

अपने शास्त्रों में विराट् पुरुष की जो व्याख्या की गई है, नानाजी उसके मूर्त रूप थे। आमजन के लिए तो विराट् पुरुष वह है जो चतुष्पुरुषार्थ–धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष–सभी में संतुलन बैठा सकता हो।

विराट् पुरुष

नानाजी का समस्त जीवन, विचार व कर्तृत्व उन्हें विराट् पुरुष के फ्रेम में ही रखते हैं। जिन लोगों के बीच वे काम करते थे, जो वंचित थे, उनके लिए तो नानाजी विराट् पुरुष ही थे। नानाजी के सहयोगी रहे लोग या जिन्होंने नानाजी के साथ कुछ भी समय काम किया, वे भी उनके इस वर्णन से सहमत होंगे।

देश के स्वतंत्रता आंदोलन में अपना योगदान करने से लेकर, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के एक प्रचारक के रूप में नानाजी ने पहले राष्ट्रीय राजनीति में और बाद में सामाजिक पुनर्रचना के कार्य में अपनी जो छाप छोड़ी, वह अद्वितीय है।

राजनीति में उनके विरोधी भी उनका लोहा मानते हैं। नानाजी ने देश में राजनीति की विभिन्न धाराओं को राष्ट्रहित के लिए एकजुट करने का जो अनोखा काम किया, उनके अलावा कोई अन्य राजनीतिज्ञ वैसा फिर नहीं कर पाया। यहां तक कि जिस कांग्रेस को हराने के लिए वे जीवन भर प्रयासरत् रहे, समय आने पर उन्होंने उसे भी राष्ट्रहित में साथ आने का निमंत्रण देने में संकोच नहीं किया। संघ जीवनपर्यंत उनकी जीवनरेखा रहा। संघ पर जब भी कोई अनर्गल आक्षेप लगा तो नानाजी उसके सामने एक ढाल की तरह खड़े रहे, एक योद्धा के रूप में।

एकात्म मानववाद के प्रणेता पंडित दीनदयाल उपाध्याय उनके सखा व प्रेरणास्रोत थे। लेकिन जब उन्हें लगा कि बदले परिवेश में अन्य विचारों को साथ लेना भी जरूरी हो गया है तो उन्होंने डॉ. राममनोहर लोहिया और आचार्य कृपलानी जैसे लोगों को भी अपने साथ आत्मसात् करने में कोई परहेज नहीं किया। 70-80 के दशकों में ऐसा समय आया जब लोकनायक जयप्रकाश नारायण अपने राजनैतिक कार्यों के लिए पूरी तरह नानाजी पर निर्भर हो गए।

60 बरस की उम्र होने पर सक्रिय राजनीति छोड़कर सामाजिक पुनर्रचना के काम में उन्होंने स्वयं को समर्पित कर देश के राजनीतिज्ञों के लिए एक अनूठा उदाहरण प्रस्तुत किया। इसे देश का दुर्भाग्य ही कहा जाएगा कि उनके इस कदम का बाद में किसी ने अनुकरण नहीं किया और अधिकांश राजनेता दलगत व स्वार्थपरक राजनीति में उलझे रहे। हां, उनके कुछ साथी राजनेताओं ने नानाजी के काम को आगे बढ़ाने में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान अवश्य दिया।

सामाजिक कार्यों में उन्होंने समाज की पहल और उसकी भागीदारी के आधार पर जो मॉडल देश के सामने प्रस्तुत किया, उसकी सराहना देश भर में होती रही है। आज विदेशों से भी कई शोधार्थी और विद्यार्थी उस मॉडल को समझने व उसे अपने यहां दोहराने की दृष्टि से चित्रकूट आते रहते हैं। देश के तत्कालीन राष्ट्रपति व प्रधानमंत्री स्वयं इस मॉडल को देखकर आने के बाद इसकी प्रशंसा ही नहीं करते रहे बल्कि इसके अनुसरण की अनुशंसा करने में भी उन्होंने कोई संकोच नहीं किया। गोंडा तो प्रारंभ से ही उनकी कर्मभूमि रहा और बाद में बीड़ व नागपुर भी।

नानाजी के बहुआयामी व्यक्तित्व को टुकड़ों में बांटकर नहीं देखा जा सकता। मानव जीवन में जिस समग्रता के वे आग्रही थे, उन्हें भी उसी समग्रता से देखने की आवश्यकता है। उनके जीवन के हर आयाम, हर पहलू को आनेवाली पीढ़ी के समक्ष रखने का प्रकल्प है यह नानाजी वाङ्मय। नानाजी ने अपने सार्वजनिक जीवन के सात से अधिक दशकों में बहुत कुछ बोला और लिखा। राष्ट्रहित में शायद उससे भी ज्यादा उन्होंने अपने सीने में छुपाकर रखा।

नानाजी द्वारा स्थापित दीनदयाल शोध संस्थान ने उनके निधन के पश्चात् जब 'नानाजी समग्र' प्रकाशित करने का निर्णय लिया तो उसकी संपादकीय टीम के सामने एक प्रश्न खड़ा हुआ कि नानाजी के विचारों का संकलन कैसे किया जाए? नानाजी के बहुत से सहयोगी उनसे पहले ही स्वर्गवासी हो गए थे। उनके साथ काम कर चुके या उनसे संपर्क में रहे बहुत से सहयोगियों की स्मृति काफी क्षीण हो चली थी। फिर भी लगभग दो वर्ष तक अलग-अलग स्रोतों से सामग्री जुटाने का प्रयास हुआ। संस्थान के दिल्ली व चित्रकूट कार्यालयों में काफी सामग्री मिली भी; लेकिन इमरजेंसी से पूर्व की सामग्री नहीं मिल पाई।

इस तैयारी के प्रारंभिक दिनों में कल्पना यह थी कि नानाजी ने अपने जीवनकाल में जो भी लिखा व बोला, उसे एकत्र कर कालखंड या विषयवार रूप में प्रकाशित किया जाए, ताकि आनेवाली पीढ़ियां जान सकें कि इस युग में भी एक ऋषि-तुल्य व्यक्ति ने जन्म लिया था। जिसने अपना संपूर्ण जीवन दीन-दुखियों की सेवा, मानव जीवन को सार्थक बनाने, भारतीय मूल्यों के संदर्भ में जीवन की गुणवत्ता बढ़ाने, व्यक्ति, समाज व राष्ट्र को एकात्म करने, देश की राजनीति को नई दिशा देने, विकास का देशानुकूल, परंतु साथ ही युगानुकूल प्रतिमान खड़ा करने में समर्पित कर दिया।

लगभग पांच हजार पन्नों की सामग्री को संकलित कर उन्हें नए सिरे से कंप्यूटरीकृत किया गया। इस बीच इस बात पर मंथन चलता रहा है कि समग्र को किस रूप में पेश किया जाए—कालखंडानुसार, विषयानुसार अथवा विधानुसार, यानी पत्रों, भाषणों, बौद्धिकों आदि को अलग छापा जाए। यों तो समग्र को कालखंडानुसार प्रकाशित करना सर्वाधिक श्रेयस्कर होता, लेकिन नानाजी के जीवनकाल के एक बहुत बड़े हिस्से का रिकॉर्ड तो बिलकुल ही उपलब्ध नहीं है। यह कालखंड यानी इमरजेंसी (1975) से पहले का काल।

ऐसा नहीं कि नानाजी व उनके सहयोगियों ने इससे पहले के नानाजी के भाषणों, पत्रों आदि का संग्रह नहीं कर रखा था। स्वयं नानाजी इस बारे में बताते रहे कि इमरजेंसी से पहले का उनका बहुत ही समृद्ध अभिलेखागार कहीं सुरक्षित जगह पर छिपाकर रखा गया था। क्योंकि उन परिस्थितियों में वह राजनीतिक दृष्टि से बहुत ही संवेदनशील था। जिन मित्रों के पास नानाजी की बहुत सी सामग्री थी, उनसे बीच-बीच में नानाजी की अनबन की बात समग्र में कहीं न कहीं पढ़ने को मिलेगी। लेकिन यह अनबन उनके अभिलेखागार के न मिल पाने का कारण नहीं रही होगी, ऐसा हमारा विश्वास है। बहरहाल, इस महत्त्वपूर्ण और दीर्घकालीन कालखंड की सामग्री तथा अन्य कुछ सामग्री अंत तक उपलब्ध नहीं हो पाई। दैवयोग से अगर कभी मिली, तो संस्थान उसे प्रकाशित करने में अपना सौभाग्य समझेगा।

बीते तीन बरसों में सभी संभावित और उपलब्ध स्रोतों से जो भी सामग्री एकत्र हो पाई, उसके आधार पर नानाजी समग्र को विषयवार प्रकाशित करने का निर्णय लिया गया। लेकिन नानाजी के कुछ वरिष्ठ सहयोगियों का मानना है कि इसे समग्र नहीं कहा जाए। क्योंकि नानाजी के जीवनकाल का एक बहुत बड़े भाग का लेखा-जोखा, जो उन्होंने स्वयं संजोकर रखा था, उपलब्ध नहीं है और उसके बिना उन्हें समग्रता से नहीं देखा जा सकता। वास्तव में, यह बहुत तकनीकी विषय है। उपलब्ध सामग्री के आधार पर भी नानाजी का व्यक्तित्व समग्रता से देखा जा सकता है। बहुत से साक्षात्कारों व उनके द्वारा बाद में लिखे गए पत्रों आदि में नानाजी ने कई बार अपने उस कालखंड का विस्तार से उल्लेख किया है।

इसलिए उपलब्ध सामग्री के आधार पर ही यह नानाजी वाङ्मय तैयार करने का निर्णय लिया गया।

विराट् पुरुष

नानाजी ने जिन विषयों पर विशेष जोर दिया, उन्हें प्रमुख रूप से निम्न विषयों में विभाजित किया गया। ये हैं–

1. सामाजिक पुनर्रचना

2. स्वावलंबन

3. शिक्षा

4. लोकनीति व राजनीति

5. राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ

इनमें से प्रथम तीन विषय गोंडा, बीड़ और चित्रकूट प्रकल्पों से संबंधित हैं। इनमें प्रकल्पों की विस्तृत जानकारी (जो नानाजी के स्वयं के शब्दों में ही है), उनके लेख, भाषण, बौद्धिक व पत्रों का संग्रह है। सक्रिय राजनीति से दूर हो जाने के बाद भी नानाजी राजनैतिक मामलों में गहरी दिलचस्पी लिया करते थे, लेकिन दखल नहीं दिया करते थे। वस्तुतः वह राजनीति से अधिक लोकनीति थी। यह एक ऐसा विषय रहा, जिस पर अन्य लोगों की नजर नानाजी के वक्तव्यों व विचारों पर रही। इसलिए कहीं-न-कहीं राजनीति पर उनके विचार संगृहीत होते ही रहे। संघ के मामले में तो वे जीवनपर्यंत स्वयं को स्वयंसेवक ही मानते रहे, और उनका कर्तृत्व भी उसी अनुरूप रहा। संघ के स्वयंसेवकों व अन्य पाठकों के लिए यह विषय भी बहुत रोचक रहेगा।

लेकिन यह समग्र तैयार करने की अंतिम अवस्था में संपादकों को एक नई समस्या से जूझना पड़ा। पुनरावृत्ति टालने के लिए जब Process of Elimination अपनाया गया, तब महसूस हुआ कि किन्हीं खंडों में सामग्री बहुत ही कम हो गई है और किसी में अधिक। इसलिए विभिन्न खंडों में विषयों का जिस प्रकार समावेश प्रस्तावित था, उसे बदलना आवश्यक हो गया।

वैसे भी इस वाङ्मय को अब समग्र न कहकर 'विराट् पुरुष नानाजी के जीवन के विभिन्न आयामों के प्रतिबिंब' के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास है। विराट् पुरुष के चारों पुरुषार्थ–धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष–की प्रतिमूर्ति थे नानाजी। उनके विचारों व कर्तृत्व को इन चारों विषयों में अलग-अलग तो विभाजित नहीं किया जा सकता, न ही यह संभव है, न ही वांछित। इसलिए प्रकाशन व पठनीयता की दृष्टि से इन्हें निम्न रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है–

1. साक्षात् नानाजी

2. समाजशास्त्री नानाजी

3. अर्थशास्त्री नानाजी

4. शिक्षाविद नानाजी

5. राष्ट्रऋषि नानाजी

6. राजनीतिज्ञ नानाजी

उपलब्ध सामग्री के आधार पर उपर्युक्त छह खंड आपके सम्मुख प्रस्तुत हैं। संपादकीय टीम इनकी

विश्वसनीयता की पूरी जिम्मेदारी लेती है। यों तो प्रकाशन में किसी प्रकार की गलतियां न रह जाएं, इसका भरपूर प्रयास किया गया है, लेकिन फिर भी कोई गलती रह गई है तो उसके लिए संपादकीय टीम क्षमाप्रार्थी है।

इसके साथ ही सुधी पाठकों से निवेदन है कि अगर उन्हें नानाजी से संबंधित सामग्री कहीं भी उपलब्ध होने का भान होता है तो कृपया संस्थान के पते या दूरभाष पर संपादक को सूचित करने का कष्ट करें।

इस वाङ्मय के प्रकाशन में अनेकों लोगों का प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष सहयोग रहा है। संस्थान के संरक्षक व पालक माननीय मदनदासजी इसमें निरंतर रुचि लेते रहे, इसकी प्रगति की जानकारी लेते रहे, मार्गदर्शन व सुझाव देते रहे। प्रधान सचिव डॉ. भरत पाठक ने चित्रकूट में जो सामग्री थी, उसे संपादकीय टीम को उपलब्ध कराने में स्वतःस्फूर्त भूमिका निभाई। उनके नेतृत्व में चित्रकूट की टीम ने बिना किसी हस्तक्षेप के बहुत ही सटीक और व्यावहारिक सुझाव दिए। नानाजी के साथ भरतजी का लंबा अनुभव संपादकीय टीम के लिए बहुत काम आया। नानाजी के प्रति असीम भक्ति-भाव में डूबे संगठन सचिव श्री अभय महाजन को तो इसके प्रकाशन की चिंता निरंतर सताए रहती थी। उसके लिए उन्होंने कभी भी किसी भी प्रकार के संसाधनों की समस्या खड़ी नहीं होने दी। कुछ ऐसी समस्याओं के समाधान में भी उनकी भूमिका उल्लेखनीय रही, जिनका उल्लेख किया जाना वांछनीय नहीं है।

नानाजी के सहयोगी रहे डॉ. देवेंद्र स्वरूपजी और श्री यादवराव देशमुख से भी प्रारंभिक काल में विस्तार से चर्चा हुई। संस्थान के सचिव तथा दीर्घकाल तक नानाजी के सहयोगी रहे डॉ. महेश चंद्र शर्मा पिछले तीन वर्षों में लगातार इसकी तैयारियों में रुचि लेते रहे। वाङ्मय का प्रथम प्रारूप उन्हीं के मार्गनिर्देशन में और सहमति से तैयार हुआ तथा उसका वर्तमान स्वरूप भी। हर कदम पर उन्होंने वाङ्मय के लिए स्वयं को प्रस्तुत किया।

श्रीमती सुमेधा मिश्रा ने इसके प्रकाशन में सूत्रधार की महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। बहुत विशाल भंडार था उनके सामने। उसमें से छंटाई करना, पुनरावृत्ति को टालना, संपादन करना, संदर्भ ढूंढ़ना, सामग्री को सिलसिलेवार संजोना, सचमुच भारी-भरकम काम था। इसके लिए लगन, निष्ठा, मेहनत व तन्मयता के साथ-साथ धैर्य की भी आवश्यकता थी। इन सभी गुणों का सुमेधाजी ने खूब परिचय दिया।

संस्थान के हर काम में सहयोगी रहने वाले पत्रकार राकेश शुक्ल ने संपादन में भी एक गुणी सहयोगी की भूमिका निभाई। समय-समय पर अन्य पत्रकार मित्रों ने भी पन्नों को पलटा और अपने बहुमूल्य सुझाव दिए।

संस्थान के दिल्ली कार्यालय में उपमहाप्रबंधक और वरिष्ठ कार्यकर्ता श्री अमिताभ वशिष्ठ ने वाङ्मय के प्रकाशन के लिए सभी आवश्यक सुविधाएं जुटाकर काम को आसान किया। नानाजी के साथ बरसों तक कंधे-से-कंधा मिलाकर काम करनेवाले संस्थान के महाप्रबंधक मेजर टी.आर. वर्मा इस महायज्ञ के लिए सदैव उपस्थित रहे।

बहुआयामी नानाजी के अनन्य सहायक रहे हेमंत पांडे संस्थान के हर काम में बहुपयोगी रहते हैं। नानाजी के साथ उनका लंबा अनुभव बहुत काम आया। इस वाङ्मय के प्रकाशन में भी उनकी उपयोगिता

हर कदम पर महसूस हुई और काम आई। ऐसे ही अंशुमान सिंह भी ऑलराउंडर हैं। हर किसी तरह के काम में मुसकराते हुए प्रस्तुत रहे। मुकेश का संस्थान या नानाजी से पहले का कोई परिचय नहीं रहा। लेकिन उन्होंने बहुत जल्दी ही पूरे काम को अच्छे से आत्मसात् कर लिया। श्री गब्बर सिंह रावत ने संस्थान के अभिलेखागार से पुरानी पुस्तकें व अन्य संदर्भ ढूंढ़ने में बहुत मदद की।

सुश्री दीपा सूद लगभग एक दशक से संस्थान के प्रकाशनों हेतु ग्राफिक व लेआउट डिजाइनिंग में जुड़ी हुई हैं। मामूली से संकेतों से ही नानाजी की पसंद, नापसंद को समझ जाती हैं और उसी के अनुरूप आउटपुट देती हैं।

प्रभात प्रकाशन किसी भी राष्ट्रवादी प्रकाशन में बढ़-चढ़कर हिस्सा लेता है। नानाजी के लिए तो प्रभात कुमारजी ने स्वयं को समर्पित कर ही रखा है। उन्होंने इस वाङ्मय के प्रकाशन की जिम्मेदारी स्वेच्छा से ली। उनका हार्दिक साधुवाद।

इस महत्त्वपूर्ण प्रकाशन में सहयोग देने वाले जिन सहयोगियों के नाम यहां उल्लेख होने से रह गए हैं, उनसे करबद्ध क्षमाप्रार्थना।

युगाब्द 5116, कार्तिक शुक्ल चतुर्थी
11 अक्तूबर, 2014, नई दिल्ली

अतुल जैन
संपादक

(प्रस्तुत वाङ्मय में प्रकाशित सामग्री के अतिरिक्त नानाजी ने अपने जीवनकाल में एक पुस्तक 'राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ' शीर्षक से 1979 में लिखी थी, जिसे दीनदयाल शोध संस्थान ने प्रकाशित किया था। उस समय देश भयंकर राजनैतिक झंझावात से गुजर रहा था। संघ के बहाने कुछ राजनैतिक तत्त्वों ने देश को फिर से अस्थिरता के दौर में ढकेल दिया था। इस पुस्तक में राजनैतिक दुर्भावना के शिकार संघ का विचारोत्तेजक अध्ययन अद्वितीय है। अगस्त 2011 में प्रभात प्रकाशन ने इसका दूसरा संस्करण प्रकाशित किया।)

विषय-सूची

आमुख v

विराट् पुरुषः नानाजी देशमुख vii

1. राष्ट्रीय पुनर्रचना : युवा पीढ़ी का दायित्व 1
2. सत्ताभिमुखी राजनीति : चिंता का विषय 10
3. संगठन का विकास : व्यक्तिवाद बाधक 15
4. नौकरशाही : लोकाभिमुखी बने 19
5. सक्षमता व योग्यता : सिफारिश की बैसाखी अवांछनीय 23
6. काला धन : सत्ता का आधार न बने 27
7. प्रतिपक्ष : सकारात्मक बने 31
8. ग्राम स्वराज्य : लक्ष्य की अवहेलना 35
9. आंदोलन की राजनीति : सामयिक नहीं 39
10. सामाजिक एकता : तुष्टीकरण से संभव नहीं 43
11. विशाल हृदय के धनी : रामकृष्ण डालमिया 47
12. आशा का दीप : लाला श्रीराम 50
13. सर्वधर्म समभाव : संघ हर मौके पर खरा उतरा है 54
14. स्वयंसेवक का दायित्व : सतत गतिमान रहने की आवश्यकता 62
15. संघ का व्याप : समाज के हर क्षेत्र में फैले 78
16. सत्ता-प्राप्ति : स्वयं में साध्य नहीं 84
17. सामाजिक पुनर्रचना : संघ की अवधारणा में निहित 95
18. संघ कार्य : व्यक्ति विकास का उपकरण 101
19. महापुरुषों का प्रसाद : दीनदयाल शोध संस्थान 108

20.	राष्ट्र-पुरुष की परिभाषा : परमपूज्य गुरुजी	114
21.	मेरे मित्र एवं पथ-प्रदर्शक : पं. दीनदयाल उपाध्याय	117
22.	कार्यकर्ता गढ़ने में अद्वितीय : भाउराव देवरस	121
23.	पत्र	123

राष्ट्रीय पुनर्रचना
युवा पीढ़ी का दायित्व

मैंने राजधानी (दिल्ली) के कुछ पत्रकार बंधुओं के समक्ष 20 अप्रैल को अपने मन का यह भाव प्रकट किया था कि युवा पीढ़ी की कार्य-शक्ति को रचनात्मक दिशाओं में प्रवाहित करने के लिए कुछ वरिष्ठ एवं प्रभावशाली नेताओं को राजसत्ता से अलग होकर रचनात्मक कार्य का प्रत्यक्ष उदाहरण प्रस्तुत करना चाहिए। उसी समय मैंने अपना यह व्यक्तिगत संकल्प भी घोषित किया था कि एक साधारण राजनीतिक कार्यकर्ता के नाते मैं अपनी शेष आयु को युवा-पीढ़ी के साथ सहयोग करते हुए देश की सामाजिक-आर्थिक पुनर्रचना की दृष्टि से कुछ रचनात्मक प्रयोगों में व्यतीत करना चाहूंगा।

मेरे लिए यह बहुत संतोष और उत्साह की बात है कि मेरी इस विनम्र घोषणा की ओर संपूर्ण देश का ध्यान आकर्षित हुआ। देश भर के समाचार-पत्रों, युवा संगठनों, राजनीतिक तथा बुद्धिजीवी क्षेत्रों में उस पर प्रतिक्रिया और चर्चा हुई। इस राष्ट्रीय बहस का मैं स्वागत करता हूं, क्योंकि यह मेरे लिए बहुत ही उद्बोधक एवं प्रेरक सिद्ध हुई है। इस बहस का गंभीर अध्ययन करते हुए भी कुछ लोगों को यह विश्वास नहीं हो पा रहा है कि अपने जीवन का लंबा भाग राजनीति में खपा देने एवं राजनीति में थोड़ा आगे बढ़ने के पश्चात् क्या कोई राजनीतिज्ञ सचमुच रचनात्मक कार्य में लगने का विचार कर सकता है अथवा ऐसे विचार को सच्चे हृदय से क्रियान्वित कर सकता है! कुछ लोगों को यह शंका हुई कि कहीं इस कथन के पीछे कोई राजनीतिक रणनीति तो नहीं है! कुछ बंधुओं ने इसे सत्तारूढ़ दल की आंतरिक स्पर्धा राजनीति से जोड़कर कुछ नेताओं को सत्ता से हटाने की सुनियोजित व्यूह रचना ही मान लिया। मैं इन शंकालु बंधुओं को इसके लिए कतई दोषी नहीं ठहराता। उनके मन की ये शंकाएं भारत की राजनीतिक कार्यप्रणाली, उस कार्यप्रणाली में से निकले नेतृत्व और उपजी राजनीतिक संस्कृति के प्रति जनमानस में व्याप्त गहरी अनास्था की ही परिचायक है। इस अनास्था को उत्पन्न करने के लिए समाज नहीं, राजनीतिक नेतृत्व स्वयं दोषी है।

नानाजी द्वारा जनसेवा का निर्णय। 'जय मातृभूमि' साप्ताहिक के उद्घाटन अवसर पर लोकनायक श्री जयप्रकाश नारायण की उपस्थिति में 8 अक्तूबर, 1978 को पटना में श्री नानाजी देशमुख का ऐतिहासिक भाषण।

विराट् पुरुष

मैं समझता हूं कि इन शंकाओं का निवारण केवल शाब्दिक तर्कवाद द्वारा होना संभव नहीं है। इसके लिए कथनी और करनी में विद्यमान अंतर को दूर करना होगा। मैं अन्य राजनीतिक कार्यकर्ताओं की ओर से कुछ कह सकने की स्थिति में नहीं हूं, किंतु अपनी ओर से देशवासियों को यह बताना आवश्यक समझता हूं कि मेरे संकल्प को कार्यरूप में परिणत करने का समय आ पहुंचा है। 11 अक्तूबर, 78 को मेरी आयु के 62 वर्ष पूरे हो रहे हैं। गत वर्ष आयु के 61 वर्ष पूरे होने पर मैंने अपने मन ही मन यह संकल्प किया था। तभी से मैं अपने मन-मस्तिष्क को इस दिशा में तैयार करने एवं अपने वर्तमान राजनीतिक दायित्वों से धीरे-धीरे मुक्त होने की दिशा में आगे बढ़ता रहा हूं। अब मैं यह सार्वजनिक घोषणा करने की स्थिति में हूं कि 11 अक्तूबर से मैं सत्ता और पदों की राजनीति से अलग होकर अपने समय को पहले से प्रारंभ हुए एवं आवश्यकतानुसार नवीन रचनात्मक कार्यों में लगा सकूंगा।

गत अप्रैल मास में मेरे मनोभाव की सार्वजनिक अभिव्यक्ति को लेकर जो राष्ट्रीय बहस छिड़ी थी, उसके अध्ययन से मुझे यह आवश्यक प्रतीत होता है कि देशवासियों को अपने इस निश्चय से अवगत कराते समय मुझे अपनी उस विचार प्रक्रिया को भी विस्तारपूर्वक देशवासियों के समक्ष रखना चाहिए, जिसने मुझे इस निर्णय पर पहुंचाया। यह एक प्रकार से मेरे 20 अप्रैल के सूत्रमय वक्तव्य की व्याख्या मात्र होगी।

आज से 44 वर्ष पूर्व सन् 1934 में एक छात्र के रूप में मेरा जीवन सार्वजनिक कार्य से जुड़ा था। तब देश के वायुमंडल में स्वाधीनता आंदोलन के नारे गूंज रहे थे। भावुक युवा अन्त:करण में देश की स्वाधीनता के लिए छटपटाहट सर्वव्यापी थी। स्वाधीन भारत के कितने ही उदात्त और आकर्षक सपने उस संघर्ष युग की युवा आंखों में तैर रहे थे। स्वतंत्रता प्राप्ति के 31 वर्ष पश्चात् जब मैं स्वाधीन भारत के वर्तमान दृश्य पर दृष्टिपात करता हूं तो मन में सहसा ही यह प्रश्न खड़ा हो जाता है कि क्या स्वाधीन भारत का यही चित्र है, जिसका निर्माण करने के लिए देश ने अनेक पीढ़ियों तक स्वाधीनता के लिए लंबी और विकट लड़ाई लड़ी थी। दयानंद, विवेकानंद से लेकर गांधी तक और लोकमान्य तिलक से लेकर नेताजी सुभाष चंद्र बोस तक महापुरुषों की वह मालिका, जिसने हमारे स्वाधीनता संग्राम का जीवन-दर्शन गढ़ा, उसके लिए त्याग और बलिदान की नींव तैयार की और अंतत: उसे सफलता के द्वार पर पहुंचाया, यदि स्वाधीन भारत में एकाएक अवतरित हो जाए तो आज का दृश्य देखकर उन्हें कैसा लगेगा? इस दृश्य में उन्हें अपने सपनों की पूर्ति दिखेगी अथवा समाधि?

स्वाधीनता की लड़ाई क्यों

इन प्रश्नों की भूलभुलैया में उलझकर जब मैं स्वाधीनता आंदोलन की मूल प्रेरणाओं को टटोलने की कोशिश करता हूं तो निम्नलिखित सूत्र मेरी पकड़ में आते हैं—

- स्वाधीनता की हमारी लड़ाई एक राजनीतिक लड़ाई नहीं थी, जिसका लक्ष्य राजसत्ता को विदेशी हाथों से छीनकर देशी हाथों को सौंपने तक सीमित हो, अपितु यह दो

सभ्यताओं का संघर्ष था, सच्चे अर्थों में एक सांस्कृतिक युद्ध था। भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवाद की स्थापना के साथ ही नवोदित औद्योगिक सभ्यता का भी प्रवेश हुआ था और उन्नीसवीं शती की भारतीय मनीषा ने इसे सभ्यता की चुनौती के रूप में स्वीकार किया था। स्वाधीनता संग्राम के दार्शनिकों और अग्रणियों ने स्पष्ट शब्दों में घोषणा की थी कि भारत इस औद्योगिक सभ्यता की बाढ़ में प्रवाह-पतित के समान कदापि नहीं बहेगा अपितु अपने पूर्वजों द्वारा प्रदत्त श्रेष्ठ जीवनदर्शन, वैज्ञानिक समाज रचना तथा अखंड अनुभव परंपरा के प्रकाश में अपनी मौलिक प्रतिभा से श्रेष्ठ मानवी मूल्यों पर आधारित तथा विज्ञान के आधुनिक आविष्कारों को ध्यान में रखकर युगानुकूल एक ऐसी नवीन सामाजिक-आर्थिक रचना खड़ी करेगा, जो शेष विश्व के लिए भी अनुकरणीय बन सके। विवेकानंद, अरविंद, तिलक एवं गांधी आदि मनीषियों ने बार-बार दोहराया था कि नियति द्वारा निर्धारित अपने इस जीवन लक्ष्य की पूर्ति हेतु ही भारत स्वाधीनता के लिए संघर्ष कर रहा है। अतः भारत की स्वाधीनता के बल उसके अपने हित के लिए ही नहीं बल्कि संपूर्ण विश्व के लिए आवश्यक है।

- स्वतंत्रता के लिए संघर्ष करते हुए भी भारतीय मनीषा भावी समाज रचना के नियामक सिद्धांतों व आदर्शों की खोज में लगी रही। गरीबी की रेखा के नीचे जी रहे कोटि-कोटि भारतवासियों को जीवन की न्यूनतम आवश्यकताएं उपलब्ध कराते हुए उच्चतर जीवन की ओर बढ़ने की सुविधा प्रदान करना। शताब्दियों से चली आ रही सामाजिक और आर्थिक विषमता की खाई को पाटना। आधुनिक विज्ञान द्वारा प्रदत्त शरीर सुख के अनेक नए-नए उपकरणों का उपयोग करते हुए भी 'सादा जीवन उच्च विचार' के सनातन आदर्श को सामने रखकर ही व्यक्तिगत एवं पारिवारिक जीवन स्तर का मापदंड निर्धारित करना और व्यक्ति के भौतिक व आध्यात्मिक विकास में संतुलन कायम रखना।
- धर्म, भाषा, क्षेत्रीयता व जातिवाद के कारण उत्पन्न भेदों को आसेतु हिमाचल संपूर्ण राष्ट्र के प्रति भक्ति की गंगा में डुबोकर एकरस शक्तिशाली राष्ट्र जीवन खड़ा करना।
- एक ऐसी राजनीतिक एवं संवैधानिक रचना को खड़ा करना, जो राष्ट्रीय एकता को पुष्ट करने के साथ-साथ प्रत्येक भारतीय को राष्ट्र-निर्माण और राष्ट्र-जीवन के संचालन की प्रक्रिया में सहभागी होने का अवसर प्रदान कर सके।
- राष्ट्र की नवीन आर्थिक-सामाजिक व राजनीतिक रचना को प्रतिबिंबित करनेवाले नागरिकों का विकास करनेवाली शिक्षा-प्रणाली का आविष्कार करना।

किंतु स्वाधीनता संघर्ष काल के इन प्रेरणा सूत्रों के प्रकाश में जब हम स्वाधीन भारत के आज के चित्र पर दृष्टि डालते हैं तो क्या दिखाई देता है? क्या हम उपरोक्त राष्ट्रीय लक्ष्यों की पूर्ति की दिशा में एक पग भी आगे बढ़े हैं? राष्ट्र जीवन के आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक, शैक्षणिक आदि किसी भी क्षेत्र में क्या हम अपने राष्ट्रीय आदर्शों के अनुरूप कोई भी मौलिक रचना खड़ी कर पाए हैं? विगत 30 वर्षों में जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रगति के नाम पर जो कुछ हुआ है, उसे

पश्चिमी अर्थरचना के अंधानुकरण के अलावा और क्या कहा जा सकता है? प्रत्यक्ष कृति के क्षेत्र में स्वाधीन भारत के द्वारा स्वाधीनता आंदोलन की मूल प्रेरणाओं से इस संबंध-विच्छेद का कारण क्या है? क्या स्वाधीनता आंदोलन की ये प्रेरणाएं ही गलत थीं अथवा स्वाधीन भारत उनके प्रति शाब्दिक निष्ठा का बार-बार उद्‍घोष करते हुए किसी गलत मार्ग पर भटक गया है?

युगानुकूल समाज रचना के आविष्कार का कार्य केवल बौद्धिक व्यायाम द्वारा पूरा होना संभव नहीं है। बनी बनाई आयातित विचारधाराओं के दायरे में बहस द्वारा कभी राष्ट्रों का नवनिर्माण नहीं हुआ करता। उसके लिए व्यक्तिगत एवं सामूहिक आचरण के क्षेत्र में लंबे एवं बहुविध प्रयोगों की प्रक्रिया से गुजरना अनिवार्य होता है। प्रत्यक्ष आचरण की प्रयोगशाला की भट्‍ठी में तपकर ही नवनिर्माण का सांचा तैयार हो सकता है। इसलिए हम देखते हैं कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद के साथ भारत की लड़ाई के दौरान दो धाराएं साथ-साथ बहती रही हैं। एक राजनीतिक आंदोलन की तो दूसरी रचनात्मक प्रयोगों की। बंगभंग आंदोलन के समय से ही राष्ट्रीय शिक्षा के क्षेत्र में अनेक प्रयोग प्रारंभ हो गए थे। गांधीजी ने तो एक केंद्रीय जीवनदर्शन की धुरी के चारों ओर आहार-विहार से लेकर आर्थिक-सामाजिक रचना तक सर्वांगीण राष्ट्रीय पुनर्निर्माण की दिशा में प्रयोग किए थे।

वस्तुतः गांधीजी की दृष्टि में इन रचनात्मक प्रयोगों का स्थान राजनीतिक संघर्ष से कम महत्त्व का नहीं था। सत्ता उनके लिए राष्ट्र निर्माण के अनेक साधनों में से एक साधन थी—सर्वस्व नहीं—स्वयं में साध्य नहीं। अतः राजनीति उनकी गतिविधियों का केंद्रबिंदु न होकर एक पूरक अंग मात्र थी।

सत्ता केंद्रित राजनीति का उदय

स्वाधीनता प्राप्ति के पश्चात् सत्ता को ही राष्ट्र निर्माण का एकमात्र साधन मान लिया गया। इसीलिए सत्ताभिमुखी राजनीति संपूर्ण सार्वजनिक जीवन पर छा गई। परिणामस्वरूप गत 30 वर्ष में सामाजिक, शैक्षणिक या राष्ट्रीय जीवन के अन्य किसी भी क्षेत्र में नेतृत्व का विकास न हो सका। सत्ता के आंगन में प्रवेश करना ही प्रत्येक का लक्ष्य बन गया। संसद् और विधान सभाओं की 5000 सीटों के लिए छीनाझपटी और जोड़तोड़ का नाम ही स्वाधीन भारत की राजनीति बन गई। येन-केन प्रकारेण चुनाव जीतना, विधान सभा या लोक सभा में प्रवेश हो जाने के पश्चात् मंत्रिपदों की ओर आगे बढ़ने का रास्ता खोजना—यही है संक्षेप में राजनीतिक कार्यकर्ता की प्रातः से रात्रि तक की दौड़धूप का मर्म। सत्ता प्राप्त करना और प्राप्त सत्ता को किसी भी प्रकार अपने हाथ से निकलने न देना—यही आज अधिकांश भारतीय राजनीतिज्ञों की मुख्य प्रेरणाएं हैं।

स्वाभाविक ही, इस मानसिकता ने ऐसी कार्य प्रणाली को जन्म दिया, जिसमें जनजीवन से प्रत्यक्ष नाता तोड़कर जन-सहयोग से सामाजिक आर्थिक परिवर्तन की प्रक्रिया को खड़ा करने की बजाय सस्ती प्रदर्शनकारिता, विरोध के लिए विरोध एवं जोड़तोड़ के द्वारा चुनाव जीतने को ही सर्वोपरि महत्त्व दिया जाने लगा। प्रेस, प्लेटफॉर्म और प्रोटेस्ट पर आधारित कार्यप्रणाली ने

ऐसे-ऐसे नेताओं को उभारकर सामने लाया है, जो राष्ट्र के सामने विद्यमान सामाजिक-आर्थिक समस्याओं में गहरे पैठकर उनका व्यावहारिक हल खोजने की बजाय भेदों पर पलनेवाली— संकुचित निष्ठाओं को उभाड़ने, जनमानस को भ्रमित करने के लिए आकर्षक वायदों और उत्तेजक नारों को उछालने को ही राजनीतिक सफलता की एकमात्र कुंजी मानने लगे हैं। निश्चय ही, जोड़तोड़ और आंदोलन की राजनीतिक कार्यशैली में से उभरे हुए नेतृत्व के हाथों राष्ट्र निर्माण के लिए सत्ता का रचनात्मक उपकरण बन पाना असंभव है। राष्ट्र निर्माण हेतु सत्ता का रचनात्मक प्रयोग करने के लिए आवश्यक है कि सत्ताधारी को प्रत्यक्ष जनसहयोग, गहन चिंतन एवं रचनात्मक प्रयोगों के माध्यम से समस्याओं के स्वरूप एवं उनके हल का व्यावहारिक ज्ञान हो। दुर्भाग्य से वर्तमान राजनीतिक कार्यशैली में इस रचनात्मक दृष्टि की कोई उपयोगिता ही नहीं रह गई, क्योंकि येन-केन-प्रकारेण चुनाव जीत जाना ही राजनीतिक सफलता की एकमात्र कसौटी बन गई है।

इसका ही परिणाम है कि विगत तीस वर्षों में राष्ट्र के सामाजिक-आर्थिक पुनर्निर्माण की दिशा में स्वाधीनता की मूल प्रेरणाओं एवं आदर्शों के अनुरूप आधारशिलाएं तो रख ही नहीं पाए, उलटे स्वतंत्रता संग्राम के दौरान उपजी राष्ट्रीय एकता को दुर्बल बनाने तथा सामाजिक एवं धार्मिक भेदों का पोषण करने की, भारतीय राजनीतिज्ञों द्वारा भयंकर भूल हो रही है। अब तो यह लगने लगा है कि सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक भेद कायम रखने में राजनीतिज्ञों का निहित स्वार्थ हो गया है। अतः वर्तमान राजनीतिक प्रक्रिया के द्वारा राष्ट्र के सामाजिक-आर्थिक पुनर्निर्माण के लक्ष्य की पूर्ति तो दूर, बची-खुची राष्ट्रीय एकता भी खतरे में पड़ गई है। वस्तुतः इस संकट के लिए किसी विशिष्ट विचारधारा, दल अथवा व्यक्ति विशेष को दोषी नहीं ठहराया जा सकता। यह संकट प्रचलित राजनीति कार्यशैली की देन है।

समग्र क्रांति आंदोलन क्यों

सर्वप्रथम लोकनायक जयप्रकाश ने राष्ट्र के इस रोग की जड़ को पकड़ा। उन्होंने अनुभव किया कि विगत 30 वर्ष में हमारी राष्ट्रीय यात्रा एक भटकाव की यात्रा है। उसका स्वाधीनता आंदोलन के दौरान निरूपित राष्ट्रीय लक्ष्यों से संबंध-विच्छेद हो चुका है और वह सत्ता के चारों ओर घूमनेवाली बांझ शैली के भंवर में फंस चुकी है। उसके भीतर से श्रेष्ठ, अनुशासित एवं उद्देश्यपूर्ण राष्ट्रजीवन का निर्माण असंभव है, इसलिए लोकनायक ने संपूर्ण क्रांति का नारा देकर जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में राष्ट्रीय आदर्शों की पुनर्व्याख्या की आवश्यकता प्रतिपादित की। लोकनायक जयप्रकाश के संपूर्ण क्रांति आंदोलन का लक्ष्य एक दल को हटाकर दूसरे दल को सत्तारूढ़ करना नहीं था अपितु सत्ताभिमुख राजनीतिक कार्यशैली का स्वस्थ विकल्प ढूंढ़ना था और एक प्रबल जन आंदोलन की सृष्टि कर राजशक्ति पर रचनात्मक लोकशक्ति की महत्ता को पुनर्प्रतिष्ठित करना था।

जयप्रकाश के रूप में स्वतंत्रता संग्राम की प्रथम पंक्ति में लड़नेवाले एक तपोपूत सत्ताविमुख,

दल निरपेक्ष एवं निस्पृह व्यक्तित्व के मैदान में कूद पड़ने से जनमानस में, विशेषकर युवा-पीढ़ी में अभूतपूर्व आशावाद एवं उत्साह का संचार हुआ। जयप्रकाश, जिन्हें राजनीतिक दृष्टि से लगभग निष्प्राण घोषित कर दिया गया था, रातोरात भारत के सार्वजनिक जीवन के आकाश पर सबसे प्रबल शक्ति-ध्रुव बनकर उदित हो गए। उनका उपहास करनेवाले राजनीतिज्ञों एवं दलों को भी उनके पीछे खड़े होने का निर्णय लेना पड़ा। जयप्रकाशजी का यह आकस्मिक पुनरोदय ही इस बात का प्रमाण है कि राष्ट्रीय मानस विगत 30 वर्ष की राजनीतिक कार्यशैली एवं उसमें से जनमी राजनीतिक संस्कृति के प्रति अनास्था से भरा हुआ था और उसके विकल्प की खोज में व्याकुल था।

जयप्रकाशजी का व्यक्तित्व जुड़ जाने के कारण भारतीय राजनीति को कुछ समय के लिए पुन: एक नैतिक अधिष्ठान प्राप्त हुआ। उनके नैतिक बल के कारण ही प्रबल जनांदोलन की सृष्टि हुई, सत्ता का आसन डोल गया और आत्मरक्षा में उसे लोकतंत्र की पीठ में आपातस्थिति की घोषणा का छुरा भोंकने का सहारा लेना पड़ा। आपातकालीन अत्याचारों की तीव्र प्रतिक्रिया तथा जे.पी. के आंदोलन से उत्पन्न नैतिक वातावरण के फलस्वरूप ही केंद्र में सत्ता परिवर्तन का अभूतपूर्व व अकल्पित चमत्कार घटित हो सका।

सत्ता बदली पर कार्यशैली वही

जयप्रकाश के नेतृत्व और समग्र क्रांति आंदोलन की पृष्ठभूमि में घटित सत्ता-परिवर्तन ने राष्ट्र के उज्ज्वल भविष्य के प्रति एक बार फिर वैसी ही उमंग, उत्साह एवं आशावाद का वातावरण उत्पन्न कर दिया था जैसा कि सन् 1947 में स्वतंत्रता प्राप्ति के समय हुआ था। निश्चय ही भाव-विह्वलता की इस मन:स्थिति का लाभ उठाकर राष्ट्र की कर्मशक्ति को रचनात्मक दिशाओं में प्रवाहित किया जा सकता था। जाग्रत् लोक-शक्ति पर अधिष्ठित एक स्वच्छ एवं उदात्त सार्वजनिक जीवन को खड़ा किया जा सकता था, किंतु इसे राष्ट्र के दुर्भाग्य के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है कि इस सत्ता परिवर्तन में ही लोकनायक के समग्र-क्रांति आंदोलन की इतिश्री मानी गई और देश का राजनीतिक नेतृत्व सत्ता प्राप्ति की उठा-पटक में व्यस्त हो गया। परिणामस्वरूप, जाग्रत् लोकशक्ति के निर्माण के लिए राष्ट्र के नाम लोकनायक का आह्वान अरण्यरोदन मात्र बनकर रह गया।

सत्ता और दलों की राजनीति का विकल्प ढूंढ़नेवाला समग्र क्रांति आंदोलन भी मानो सत्ता और दलगत राजनीति की भंवर में फंसकर रह गया। वरिष्ठ नेतृत्व की देखा-देखी समग्र-क्रांति आंदोलन की रीढ़ कहलानेवाला युवा नेतृत्व भी टिकटों और मंत्रिपदों के लंबे क्यू में खड़ा हो गया। राजसत्ता को ही सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन के एकमात्र माध्यम के रूप में फिर से प्रस्तुत किया जाने लगा और पुन: सत्ताभिमुखी राजनीति संपूर्ण सार्वजनिक जीवन का केंद्र-बिंदु बन गई। फिर वही टिकटों और मंत्रिपदों के लिए जोड़-तोड़ और राजनीतिक स्वार्थों की पूर्ति के लिए जातिवाद, भाषावाद, क्षेत्रीयता, सांप्रदायिकता के दानव को उभारने के राष्ट्रघाती प्रयत्न और वही चरित्र-हनन की ओछी राजनीति चल पड़ी। इससे अधिक और पीड़ा की बात क्या हो सकती

है कि आपातकाल की भट्ठी में भुन जाने के बाद भी भारत की राजनीतिक संस्कृति में कोई गुणात्मक परिवर्तन नहीं हुआ और वही पुरानी घिनौनी राजनीति ज्यों-की-त्यों वापस लौट आई। वस्तुतः प्रत्यक्ष जन-सहयोग पर आधारित रचनात्मक कार्यशैली के अभाव में आत्मप्रचार, आंदोलन और जोड़-तोड़ पर आधारित वर्तमान राजनीति के गर्भ में से इससे भिन्न चरित्र की राजनीतिक संस्कृति का जन्म असंभव है।

समय की पुकार

राष्ट्रीय राजनीति के इस पतन और दिशा भ्रम का युवा पीढ़ी पर जो परिणाम होना चाहिए था, वही हुआ। युवा पीढ़ी जो समग्र क्रांति आंदोलन में उभरकर आगे आई, आपातकालीन अधिनायकवाद के विरुद्ध हुए संघर्ष में जिसने साहस और बलिदान का परिचय दिया, हताश और थके हुए विपक्षी नेतृत्व को सत्ता के सिंहासन पर आरूढ़ करने में अपना योगदान दिया, वहीं युवा पीढ़ी आज फिर से अपने पथ से भटक गई है। योग्य रचनात्मक नेतृत्व के अभाव में वह पुनः निरुद्देश्य आंदोलन, उच्छृंखलता और विध्वंस के पथ पर बढ़ रही है। युवा-पीढ़ी की कर्मशक्ति को रचनात्मक कार्यों में लगाना है तो उसके सामने प्रत्यक्ष आचरण का उदाहरण प्रस्तुत करना होगा। युवा-पीढ़ी को यह विश्वास दिलाना होगा कि राजनीतिक नेतृत्व के लिए सत्ता ही सर्वस्व नहीं है। इसी बात को ध्यान में रखकर मैंने अपने 20 अप्रैल, 1978 के वक्तव्य में विनम्रतापूर्वक सुझाव दिया था कि इस आत्मघाती दिशा को नया मोड़ देने के लिए कुछ वरिष्ठ एवं प्रभावशाली राजनेताओं को स्वेच्छा से सत्ता से अलग होकर रचनात्मक कार्य का ठोस उदाहरण युवा पीढ़ी के सम्मुख प्रस्तुत करना चाहिए। विगत 30 वर्षों के अनुभवों के प्रकाश में अब हमें उपर्युक्त कटु सत्य को सार्वजनिक रूप में और खुले मन से स्वीकार कर, आत्मविश्वास तथा दृढ़ निश्चय के साथ रचनात्मक कार्यशैली के विकास में जुट जाना चाहिए। जनमानस तीव्रता से अनुभव कर रहा है कि उसे अब आंदोलनात्मक या जोड़-तोड़ में प्रवीण नेतृत्व की नहीं, रचनात्मक प्रवृत्ति के एवं रचनात्मक प्रयोगों की अनुभूति की भट्ठी में पके नेतृत्व की आवश्यकता है। अतः हमें रचनात्मक कार्यप्रणाली का ही अवलंबन करना होगा। यह कार्यप्रणाली समाज में से रचनात्मक प्रवृत्ति के युवा नेतृत्व को आकर्षित कर सकेगी। आज यही देश की आवश्यकता है।

मेरा संकल्प

यहां प्रश्न खड़ा होता है कि आज की स्थिति में इस कठिन दायित्व को कौन संभाले? लोकनायक के स्वास्थ्य की वर्तमान स्थिति को देखते हुए उन पर यह बोझ डालना उनके प्रति अन्याय होगा। लोकनायक के आदर्शों के प्रति सच्ची आस्था रखनेवाले लोगों को ही अब यह दायित्व ग्रहण करना और अपनी संपूर्ण शक्ति लगाकर उनके जीवनकाल में ही रचनात्मक लोकशक्ति के निर्माण के उनके स्वप्न को साकार करना होगा। यह स्मरण कर मुझे बड़ा गर्व और संतोष का अनुभव होता है कि लोकनायक के समग्र क्रांति के आह्वान की ओर सर्वप्रथम

आकर्षित होनेवाले मुट्ठी भर राजनीतिक कार्यकर्ताओं में मैं भी एक था। अनेक वर्षों से चुनाव राजनीति की प्रक्रिया का अभिन्न अंग होने के बाद भी समग्र क्रांति के आह्वान की ओर अपने आकर्षण का मूल खोजने की दृष्टि से जब मैं अपने अतीत को टटोलने की कोशिश करता हूं तो मुझे दिखाई देता है कि जिस संगठनात्मक प्रक्रिया के माध्यम से सार्वजनिक जीवन में मेरा प्रवेश हुआ था वह मूलतः रचनात्मक तथा उदात्त जीवन-मूल्यों के आधार पर सर्वांगीण राष्ट्र निर्माण के एकमेव लक्ष्य से प्रेरित थी। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् सन् 1950 में मैंने यदि राजनीति में प्रवेश किया तो स्वयं चुनाव लड़कर सत्ता प्राप्त करने के हेतु से नहीं, अपितु राजनीति और राजसत्ता को राष्ट्र निर्माण का रचनात्मक माध्यम बनाने के प्रयत्नों में अपना विनम्र योगदान देने की इच्छा से। मार्च 1977 में पहली बार मुझे स्वयं ही चुनाव के मैदान में उतरना पड़ा तो आपातकालीन अधिनायकवाद के द्वारा उत्पन्न आतंक और भय की चुनौती को स्वीकार करने की विवशता के कारण ही।

वर्तमान राजनीतिक कार्य प्रणाली का 28 वर्ष तक अंतरंग परिचय प्राप्त कर लेने के पश्चात् अब मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा हूं कि प्रचलित राजनीति के माध्यम से न तो रचनात्मक नेतृत्व का उभरकर आना संभव है और न राजसत्ता का रचनात्मक उपकरण बन पाना। इसके हल के लिए वर्तमान राजनीतिक कार्यप्रणाली के स्थान पर किसी वैकल्पिक रचनात्मक कार्यप्रणाली की खोज करनी होगी। अपनी अल्पक्षमता और दुर्बलताओं से अवगत होते हुए भी मैं अपनी शेष आयु को इस खोज कार्य के लिए ही समर्पित करने की इच्छा रखता हूं। स्वाभाविक ही, इसके लिए मुझे वर्तमान राजनीतिक दायित्वों से स्वयं को मुक्त करना होगा और चुनाव राजनीति से संबंध-विच्छेद करना होगा। मैं जानता हूं कि यह कहने में जितना सरल है, करने में उतना ही कठिन। मेरी ईश्वर से प्रार्थना है कि वह मेरे इस कठिन व्रत पालन के संकल्प को आवश्यक बल प्रदान करे।

यहां प्रश्न उठ सकता है कि मेरे रचनात्मक प्रयोगों का स्वरूप एवं कार्यक्षेत्र क्या होगा? मेरी भावी कार्यप्रणाली क्या रहेगी? इस संबंध में मुझे यह जानकारी देते हुए प्रसन्नता होती है कि ईश्वरीय प्रेरणा से उत्तर प्रदेश के गोंडा जिले में कुछ माह पूर्व एक रचनात्मक प्रयोग प्रारंभ हो चुका है। 'ग्रामोदय' के इस प्रयोग के निम्नलिखित लक्ष्य निर्धारित किए गए हैं—

- श्रम प्रधान विकेंद्रित अर्थव्यवस्था के राष्ट्रीय आदर्श को ध्यान में रखते हुए कृषि एवं औद्योगिक उत्पादन वृद्धि के लिए आधुनिक विज्ञान एवं टेक्नोलॉजी को भारतीय स्थिति के अनुरूप विकसित करना।
- आर्थिक विषमता को मिटाते हुए समृद्ध एवं आत्मनिर्भर ग्राम जीवन की रचना करने की दृष्टि से भूमि संबंधों का पुनर्निर्धारण करना एवं कुटीर उद्योगों को लोकप्रिय बनाना।
- जातिवाद, सांप्रदायिकता एवं अस्पृश्यता आदि के भेदों को मिटाकर समरस, सौहार्दपूर्ण एवं परस्पर सहयोगी सामाजिक जीवन का निर्माण करना।

- प्रत्येक व्यक्ति की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करते हुए उसे नैतिक विकास के पथ पर बढ़ने के लिए अनुकूल वातावरण उत्पन्न करना।

व्यक्ति के आर्थिक, सामाजिक एवं नैतिक विकास के त्रिविध लक्ष्यों पर आधारित उपरोक्त कार्यक्रम को एक वाक्य अर्थात् 'सर्वांगीण विकास के माध्यम से समग्र परिवर्तन' के अंतर्गत रखा जा सकता है।

इसी प्रकार के अनेक अन्य प्रयोगों को प्रारंभ करने की आवश्यकता है। इन सभी प्रयोगों का दायित्व युवा-पीढ़ी के कंधों पर सौंपना होगा। इसके लिए उसमें समाज के पिछड़े, उपेक्षित एवं दुर्बल वर्गों की जिंदगी में झांकने, उनके साथ समरस होने एवं उनके सुख-दु:ख में सहभागी बनने की तड़पन जगानी होगी। इस कार्य में मुझे कितनी सफलता मिल पाएगी, यह कह पाना कठिन है, किंतु यदि राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के इस कार्य को करते हुए मैं कुछ श्रेष्ठ युवा अंत:करणों को इन रचनात्मक प्रयोगों के अभियान के पथ पर आकर्षित कर सका तो मैं अपने जीवन को सार्थक मानूंगा और मेरे संतोष के लिए यही पर्याप्त होगा। इन्हीं शब्दों के साथ मैं स्वयं को रचनात्मक कार्यों के लिए समर्पित करता हूं और राजनीतिक क्षेत्र के अपने उन सभी सहयोगियों से क्षमा मांगता हूं, अनजाने में मेरे किसी शब्द-प्रयोग, व्यवहार या निर्णय से कोई मानसिक कष्ट पहुंचा हो। मुझे विश्वास है कि राष्ट्र सेवा के इस दुर्गम और अनजाने पथ पर कदम बढ़ाते समय मेरे आज तक के सभी सहयोगियों, मित्रों और समस्त देशवासियों के स्नेह और सहयोग का वरदहस्त मेरी पीठ पर सदैव विद्यमान रहेगा। यात्रा के इस अंतिम चरण में वही मेरा एकमात्र पाथेय होगा। जय भारत!

□

सत्ताभिमुखी राजनीति
चिंता का विषय

अभी-अभी नौ विधान सभाओं के मध्यावधि चुनाव हो चुके हैं। उनके परिणाम भी सामने आ गए हैं। किसी ने चुनाव परिणामों को काले दिन की संज्ञा दी है और किसी ने शुभ दिन की, किंतु आवश्यकता है हर एक राजनीतिज्ञ को आत्मालोचन करने की।

आम जनता की प्रतिक्रिया क्या है? संभवत: नेतागण इसे महत्ता देने की आवश्यकता अनुभव नहीं करते। आम जनता तो स्वयं बोलती नहीं। उसकी प्रतिक्रिया समझनी पड़ती है। उसे समझे बिना लोकतंत्र के विकास की बातें निरर्थक हैं।

इस समय आम तौर से मतदान कम हुआ है। मतदातागण आए दिन होनेवाले चुनावों से ऊब गए हैं। चुनाव से परिस्थिति में परिवर्तन हो सकेगा, इस पर मतदाताओं का विश्वास नहीं रहा। राजनेतागण अपने अवसरवादी व्यवहार के कारण विश्वसनीयता खो बैठे हैं। जनता चुनाव से उदासीन होती जा रही है। मतदाताओं की उदासीनता लोकतंत्र के लिए खतरा माना जाना चाहिए। सत्ता के लालच ने लोकतंत्र को चुनावतंत्र में बदल दिया है। इन चुनावों में केवल सत्तापिपासु वर्ग ही उत्साह एवं रुचि रखता है। लोकतंत्र के लिए यह खतरनाक बात है।

स्वतंत्रता प्राप्त कर 33 वर्ष का लंबा काल बीत रहा है। संसदीय लोकतंत्र को हमने अपने शासन का माध्यम बनाया है। इसके लिए कम-से-कम ऐसे दो दलों की आवश्यकता है, जो देशव्यापी एवं प्रभावशाली हों। अपने देश में दिखाई देने के लिए तो अनेक दल हैं, किंतु वस्तुस्थिति है कि 33 वर्ष के काल में लोकतंत्र में निष्ठा रखनेवाला एक भी सुसंगठित दल देश में खड़ा नहीं हो पाया है। हर एक नेता लोकतंत्र की दुहाई अवश्य देता है, किंतु सिद्धांत, नीति और लोकोपयोगी कार्यक्रमों के आधार पर सुसंगठित देशव्यापी दल खड़ा करने की आवश्यकता अनुभव नहीं करता। अन्यथा लोकतंत्र की निरंतर चर्चा के बावजूद भारतव्यापी सुसंगठित दल का अभाव न होता।

नौ विधान सभाओं के इन मध्यावधि चुनाव परिणामों ने यह सिद्ध कर दिया है कि इन चुनावों में किसी भी दल को सफलता नहीं मिली है। सफलता मिली है दो व्यक्तियों को, आठ राज्यों में श्रीमती इंदिरा गांधी को तथा तमिलनाडु में श्री एम.जी. रामचंद्रन को।

नौ लेखों की यह श्रृंखला पाञ्चजन्य और ऑर्गनाइजर में क्रमश: 'आज की राजनीति का संकट' एवं 'नीड फॉर इंट्रॉस्पेक्शन' (Need for Introspection) के नाम से 15 जून-30 अगस्त, 1980 के बीच छपी। ये नौ लेख क्रमवार यहां दिए जा रहे हैं।

लोकतांत्रिक कार्यशैली मजबूत हो

आवश्यकता है कि लोकतंत्र में विश्वास करनेवाले नेतागण इस पहलू पर भी गंभीरतापूर्वक विचार कर भविष्य के लिए अपनी कार्यशैली में आवश्यक परिवर्तन करें, अन्यथा देश में लोकतंत्र टिक नहीं पाएगा। विभिन्न दलों के सत्तारूढ़ दल सहित नेतागण आपस में मिलकर निर्णय करें कि ग्राम पंचायत से लेकर लोकसभा तक सभी निकायों के चुनाव पांच वर्ष में एक बार और साथ-साथ हों। मतदाताओं को आए दिन चुनावों के चक्कर में उलझना न पड़े। उनकी गाढ़ी कमाई का अंश, जो टैक्स के रूप में सरकारी खजाने में जमा होता है, राजनीतिज्ञों की तमन्नाओं को पूरा करने में नेताओं को इच्छानुरूप चाहे जब चुनाव कराकर बरबाद न किया जाए

इसके अतिरिक्त अन्य अति महत्त्वपूर्ण पहलू है, जिन पर गंभीर चिंतन एवं उचित निर्णय लिये बिना भारत का भविष्य बनाया नहीं जा सकेगा। 1950 में हमने देश का संविधान स्वीकार किया था। बालिग मताधिकार को मान्यता दी गई। तदनुसार 1952 से बालिग मताधिकार के आधार पर लोकसभा से लेकर ग्राम पंचायत तक के चुनाव होते आ रहे हैं।

बालिग मताधिकार के कारण कोई भी परिवार मतदाता के बिना नहीं है। फलस्वरूप चुनाव लड़नेवाली सभी पार्टियां विभिन्न माध्यमों से घर-घर पहुंचकर मतदाताओं से संपर्क करती हैं। जहां तक मतदाताओं से अनुरोध का प्रश्न है, सब उम्मीदवारों की एक वाक्यता रहती है। वे मतदाताओं से अनुरोध करते हैं कि मतदाता अपना मत उन्हें दे। इसके अतिरिक्त मतदाताओं को कुछ करने की आवश्यकता नहीं है। उनकी सब समस्याओं का निराकरण तथा सभी आवश्यकताओं की पूर्ति चुनाव जीतने पर वे उम्मीदवार करेंगे। यही एक बात 1952 से हर मतदाता के मन पर जमती जा रही है। परिणामतः आम नागरिकों में दो धारणाएं दृढ़मूल हो गई हैं। एक, नागरिकों का मतदान के अतिरिक्त देश या समाज के प्रति अन्य कोई दायित्व नहीं है। और दूसरी, उनकी सब समस्याओं का निराकरण एवं आवश्यकताओं की पूर्ति सरकार करेगी। क्या सर्वसाधारण नागरिकों की यह धारणा बनना लोकतंत्र के विकास को मजबूती के लिए लाभदायक है? इस धारणा का परिणाम नई पीढ़ी के मानस पर क्या हो रहा है?

जिस समय देश अंग्रेजों की गुलामी से मुक्त होने के संघर्ष में संलग्न था, देश के हर पढ़े-लिखे और बेपढ़े नागरिकों को सहज में ही समझ में आ जाता था कि देशभक्ति का अर्थ है — 'अंग्रेजों की सत्ता को अपने देश से उखाड़ फेंकना।' उसके लिए वे चाहे अहिंसात्मक तरीके से जेल यातनाओं को सहने का मार्ग अपनाएं या बम फेंककर अंग्रेजों को भयभीत कर भाग जाने के लिए मजबूर करें या इन कामों में संलग्न लोगों के प्रति सहानुभूति रखें तथा अवसर मिलने पर उनकी सहायता करें। देशभक्ति का मार्ग उनके सामने स्पष्ट था किंतु आजादी प्राप्त होने के बाद से देशभक्ति करना यानी प्रत्यक्ष क्या करना, यह बात सर्वसाधारण समझ नहीं पा रहा है। बड़े-बड़े विद्वान् भी इसे समझ पाते हैं या नहीं, कहा नहीं जा सकता। इसके लिए कौन जिम्मेदार है? देशभक्तिपूर्ण व्यवहार की आज कोई कसौटी नहीं है, कितनी दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है यह? देश में नेतृत्व का अर्थ बन गया है केवल राजनीतिक नेतृत्व। सामाजिक या राष्ट्रीय

जीवन के अन्य क्षेत्रों में न नेतृत्व का कोई प्रभावी स्वरूप है, न उसके विकास की संभावना ही नजर आती है।

युवाशक्ति का रचनात्मक प्रयोग

बड़े दु:ख के साथ लिखना पड़ता है कि देश की असीम युवाशक्ति का उपयोग देश के नव-निर्माण में करने की दिशा में न कोई क्रियाशील है न चिंतनशील। 1952 से जो बात मतदाताओं के मानस पर अंकित की जा रही है, उसी बात से नई पीढ़ी भी प्रभावित है। उनकी धारणा बनी है कि जो भी करना है, वह सरकार करेगी। हमें तो केवल मांग करना और पाना मात्र है। इसमें युवाओं का क्या दोष है? वे तो नेताओं द्वारा निर्मित वातावरण के शिकार हैं। आज की वस्तुस्थिति है कि सत्ताभिमुखी राजनीति के घनीभूत वातावरण के कारण ध्येयवाद का कोई रूप किसी के सामने नहीं है। नेतागणों को चुनावों के अतिरिक्त अन्य अधिक महत्त्वपूर्ण बातों पर चिंतन की आवश्यकता अनुभव नहीं होती।

जब से बालिग मताधिकार प्रचलित हुआ है, चुनाव जीतना और सत्ता पाना यही नेतृत्व के जीवन का सार सर्वस्व बना है। इसके लिए कुछ भी करना जायज माना जा रहा है। 1952 से प्रगतिशीलता एवं विशालता का दंभ भरनेवाले बड़े-बड़े नेतागण भी सत्ता की होड़ में मजहबी तथा जातिगत भावनाओं को उभारकर चुनावों में विजय पाने का प्रयास करते आ रहे हैं। भाषावाद और क्षेत्रीयवाद सत्ता प्राप्ति का सुगम माध्यम बन गया है। उन्हीं आधारों पर नवीन समुदायों द्वारा आरक्षण की मांगों को बल प्राप्त हो रहा है। राष्ट्रवादी कहलानेवालों ने भी जातिवादी नेतृत्व को प्रतिष्ठा दिलाने में संकोच नहीं किया। सत्ता प्राप्ति के लिए समाज विघटन एवं जाति तथा मजहबी द्वेष को भड़काना भी राजनीति में ग्राह्य माना जा रहा है। इन सब बातों का परिणाम नौकरशाही पर होना भी स्वाभाविक है। नियुक्तियों में ये बातें प्रतिबिंबित हो रही हैं। उसमें योग्यता का महत्त्व घटता जा रहा है। ऐसे क्रियाकलापों से लोकतंत्र मजबूत होने के स्थान पर समाज बिखरता जा रहा है। भावात्मक एकता परिषदें केवल दिखाने के दांत हैं—एकात्मता के प्रामाणिक प्रयास नहीं। इन दोषों से कोई दल या नेता अछूता नहीं है।

चुनाव काले धन से मुक्त हो

इससे भी अधिक भयानक बात है चुनाव में काले धन के प्रभाव की। सभी प्रगतिवादी एवं राष्ट्रीय नेताओं ने लोकसभा के द्वारा कानून बनाया है कि कोई कंपनी या उद्योगपति राजनीतिक दलों को चुनाव के लिए धन नहीं दे सकता, किंतु क्या कोई भी दल कहने की स्थिति में है कि यह कानून बनने के बाद उसने उद्योगपतियों से चुनाव के लिए काला धन नहीं लिया है? क्या ऐसा सत्तारूढ़ दल या नेतृत्व प्रशासन से भ्रष्टाचार समाप्त कर पाएगा? देश के गरीब और निर्धनों को खुशहाल बना पाएगा? ये ऐसे प्रश्न हैं, जिनका व्यावहारिक हल खोजना समय की अनिवार्यता ही नहीं लोकतंत्र में सर्वसाधारण नागरिक की आस्था बनाए रखने के लिए भी आवश्यक है।

विधानसभा और लोकसभा के उम्मीदवारों के लिए चुनाव में खर्च करने की धनराशि कानून द्वारा निश्चित है। उससे अधिक व्यय करना गैर-कानूनी है। हर उम्मीदवार को चुनाव के बाद अपने चुनाव-व्यय का विवरण चुनाव आयोग के यहां प्रस्तुत करना होता है। क्या बड़े से बड़े नेतागण अपने चुनाव-व्यय का विवरण सही रूप में प्रस्तुत करते हैं? कानून बनानेवाला ऐसी करतूत से ही विधायक जीवन प्रारंभ करता है। क्या ऐसे नेताओं के प्रति प्रशासकों के दिल में आदर की भावना रह सकती है? क्या ऐसे लोग देश का प्रशासन प्रामाणिक, कुशल, प्रभावी और जनहितकारी बना सकते हैं? क्या इन सब बातों का परिणाम युवा मानस को ध्येयहीन और विकृत करने का कारण नहीं बनता? अनेक बार चुनाव पद्धति में परिवर्तन कर इन दोषों को हटाने के अनेक सुझाव सामने आए हैं, किंतु शासन में आकर भी इन सुझावों को कानूनी रूप न दिए जाने का दोष किसके माथे मढ़ा जाएगा?

सत्तारूढ़ दलों के द्वारा चुनाव में विजय पाने के लिए प्रशासनिक तंत्र का दुरुपयोग किया जाना सर्वविदित है। सत्ता पाने के बाद प्रशासनिक अधिकारियों से बदला लेने में संकोच नहीं किया जाता। राजनीतिक स्वार्थवश नियुक्तियां तथा तरक्कियां करने के उदाहरण कम नहीं हैं। फलस्वरूप प्रशासन में गुलामी के काल में पनपनेवाली चाटुकारिता ही सर्वव्यापी बन रही है। क्या यह लोकतंत्र की जड़ खोदने का कारण नहीं बनेगी?

इन विधानसभा चुनावों के काल में श्रीमती इंदिरा गांधी हर समस्या के लिए जनता शासन को दोषी बता रही थी। चाहे डीजल या पेट्रोल का अभाव हो या अन्य जीवनावश्यक वस्तुओं के बढ़ रहे दामों का प्रश्न हो, इसके उत्तर में कुछ ही दिन पहले, पूर्व प्रधानमंत्री ने एक नामी अंग्रेजी साप्ताहिक में अपने विचार व्यक्त किए हैं। उसमें उन्होंने कहा है कि उनके ढाई साल के काल में जीवनावश्यक वस्तुओं की कीमतें केवल स्थिर ही नहीं रहीं, अपितु अनेक वस्तुओं के दाम घटाए जा चुके थे। अन्य बातों का भी उन्होंने ठीक-ठाक उत्तर दिया है। किंतु क्या उतना ही करना पर्याप्त था।

1947 के समान ही 1977 के लोकसभा चुनावों के बाद राष्ट्रीय नेतृत्व के लिए एक महान् सुअवसर प्राप्त हुआ था। युवा-शक्ति जाग्रत् एवं सक्रिय थी—स्वार्थ के लिए नहीं, राष्ट्र के लिए कुछ करने की आकांक्षा दिल में लिये। उसे देश के नवनिर्माण में संलग्न करने का महान् सुअवसर प्राप्त हुआ था। 1947 में यह सुअवसर तत्कालीन नेतृत्व ने खो दिया था। वही गलती दुहराई जानी नहीं चाहिए थी। ऐसे सुअवसर बार-बार नहीं आते। किंतु राष्ट्र के उज्ज्वल भविष्य के लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण इस पहलू को पूर्ण रूप से नजरअंदाज किया गया। बड़े नेतागण सर्वोच्च सत्ता के लिए लालायित हो उठे। अपनी व्यक्तिगत आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए राष्ट्र जीवन के साथ खिलवाड़ करने में उन्हें संकोच नहीं हुआ।

स्वेच्छा से सत्ता त्याग

आवश्यकता थी वयोवृद्ध नेताओं को स्वेच्छा से सत्तामुक्त होने की। बिना सत्ता या पद के नवनिर्माण का कार्य कर दिखाने की। देश में करोड़ों की संख्या में युवा हैं। स्वराज्य प्राप्ति

के बाद उनके सम्मुख देश के नेतृत्व ने राष्ट्र के नवनिर्माण का मार्ग प्रशस्त नहीं किया है। आवश्यकता थी उनके सामने आदर्श प्रस्तुत करने की। आवश्यकता थी, केवल सत्ता के माध्यम से ही राष्ट्र निर्माण संभव है, इस गलत धारणा को बदलने की। इसी पावन हेतु से सुझाव रखा गया था कि साठ साल से अधिक आयु के नेतागण स्वेच्छा से सत्तामुक्त होकर इस दिशा में कदम बढ़ाएं, किंतु यह सुझाव बिच्छू के डंक के समान अनुभव किया गया। दुर्भाग्य की बात है कि इस पहलू को सभी ने नजरअंदाज कर दिया।

यह एक महत्त्वपूर्ण एवं सामयिक कदम होता। यह कदम उठानेवाले नेता की इज्जत बढ़ती। वे देश की सत्ता राजनीति को सेवा की राजनीति की दिशा में मोड़ने का श्रेय पाते। देश की युवा-शक्ति जिस लगन के साथ जयप्रकाशजी के साथ जुड़ गई थी इनके साथ जुड़ जाती, किंतु राष्ट्र नव-निर्माण से सत्ता का आकर्षण अधिक समर्थ बना। राजनीति सत्ता की उसी दलदल में फंसी रह गई। जे.पी. का सपना धरा रह गया। आदर्शवाद का उल्लेख एक-दूसरे को बदनाम करने के प्रयोग में आया। नेतागण भारत का नहीं, अपना भविष्य बनाने में जुट गए।

आज सबसे बड़ी आवश्यकता है गत तैंतीस साल की राजनीति की कार्यशैली को बदलने की। वर्तमान शैली देश के करोड़ों नौजवानों को राष्ट्र-निर्माण के आवश्यक कार्य में जुटने की प्रेरणा नहीं दे सकती। केवल राजसत्ता भारत का समयानुकूल नवनिर्माण नहीं कर सकती। सत्ता में कौन आया, यह अधिक महत्त्व का प्रश्न नहीं है, आवश्यकता है समुचित राजनीतिक कार्यशैली के खोज करने की तथा उसे अपनाने की। केवल सत्तारूढ़ नेतृत्व में परिवर्तन ही पर्याप्त नहीं है। यह बात अनुभव से सिद्ध हो गई है।

□

संगठन का विकास व्यक्तिवाद बाधक

मैं जो कुछ लिख रहा हूं, उसका यह अर्थ नहीं है कि मैं स्वयं इन दोषों से पूर्णतः अलिप्त रहा हूं, किंतु मैं अति तीव्रता से अनुभव करता आ रहा हूं कि प्रचलित राजनीति हमें सर्वनाश की ओर ले जा रही है। इसे समय रहते ही रोका जाना चाहिए। उसकी दिशा एवं कार्यशैली में आवश्यक परिवर्तन करना चाहिए।

1952 से बालिग मताधिकार के आधार पर होनेवाले चुनावों में अनेक राजनीतिक दल शामिल होते आ रहे हैं। उनके चुनाव घोषणा-पत्र समय-समय पर प्रकाशित हुए हैं। वे चाहते हैं कि जनता उनकी घोषणाओं पर भरोसा करे तथा उनके उम्मीदवारों के पक्ष में मतदान करे। यदि इन राजनीतिक दलों के घोषणा-पत्रों का ठीक से अध्ययन किया जाए तो सहज में ही ध्यान में आएगा कि अनेक बातों में सब दलों की घोषणाओं में साम्य है। जैसे—

- गरीबी एवं बेकारी मिटाना।
- आर्थिक एवं सामाजिक विषमता मिटाना।
- हरिजनों एवं वनवासियों को शिक्षित एवं खुशहाल बनाना।
- ग्रामों का विकास करना।
- उत्पादन में वृद्धि करना।
- मजदूरों का शोषण रोकना तथा उन्हें व्यवस्था एवं लाभ में सहभागी बनाना।
- वितरण प्रणाली को अधिक सक्षम बनाना तथा उसका समुचित विकास करना।

गत 28 सालों में सार्वजनिक तौर पर ये घोषणाएं अपने देश के नेता अपने दलों की ओर से करते आ रहे हैं। इन्हीं आश्वासनों के आधार पर पांच पंचवर्षीय योजनाएं बनीं और कार्यान्वित हुईं। इन योजनाओं पर अब तक नब्बे हजार करोड़ रुपयों की विशाल राशि व्यय हुई। आश्चर्य है कि सत्तारूढ़ एवं विरोधी दलों में एक राय होते हुए भी इन समस्याओं का निराकरण एवं आवश्यकताओं की पूर्ति क्यों नहीं हुई? अपितु समस्याएं योजनाओं के काल के 28 सालों में अधिकाधिक विकराल रूप धारण करती गईं। जीवनावश्यक वस्तुओं को खरीदना समाज के पचासी प्रतिशत से अधिक लोगों के लिए असंभव होता जा रहा है। जिन बातों पर सभी दल एक राय के हैं, उन बातों का भी फल

विपरीत क्यों—यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। इस पर जिम्मेदार राजनेताओं को गंभीरता से विचार करना चाहिए।

आजादी प्राप्त होने तक अर्थात् 1947 तक राजनेताओं पर आम जनता का तथा विशेष रूप से नौजवानों का अटूट विश्वास था। वे इन नेताओं के इशारों पर अपने प्राण संकट में डालकर भी असंभव को संभव करने के लिए आत्मविश्वास के साथ अग्रसर होते रहे हैं। राजनेता जनता की नजर में इतने ऊंचे उठ गए थे कि उन्हें ईश्वर जैसा आदर मिलता था, किंतु आजादी के गत 33 सालों में स्थिति यहां तक पहुंच गई है कि आम जनता एवं नौजवानों का मानस एकदम बदल गया है। उनका राजनेताओं पर से विश्वास पूर्ण रूप से उठ गया है। राजनेताओं के प्रति न उसमें आदर है न आस्था। इसके लिए दोषी कौन है—नेता या जनता?

अखबारों में प्रकाशित होता है कि जिसे लोकसभा या विधान सभाओं में बहुमत मिला, उन पर जनता का विश्वास है। किंतु क्या यह सत्य है? चुनाव आयोग के दफ्तर में अधिकृत जानकारी प्राप्त हुई है कि मई मास के विधानसभा मध्यावधि चुनाव में उत्तर प्रदेश तथा पंजाब में कुछ ग्रामों के सभी मतदाताओं ने सामूहिक रूप से मतदान का बहिष्कार कर दिया था। यह किस भावना का परिचायक है।

उदाहरण के लिए हम उत्तर प्रदेश एवं तमिलनाडु के मतदान की ओर ध्यान दें। उत्तर प्रदेश में 425 में से 305 स्थान कांग्रेस को प्राप्त हुए तथा तमिलनाडु में अन्ना डी.एम.के. को भारी बहुमत प्राप्त हुआ है, किंतु उत्तर प्रदेश में कुल मतदान पैंतालीस प्रतिशत से कम हुआ है। जो मतदान हुआ है, उसमें से इंदिरा कांग्रेस को साढ़े सैंतीस प्रतिशत मत प्राप्त हुए। उत्तर प्रदेश में कुल मतदाताओं की संख्या पांच करोड़ तिरासी लाख सोलह हजार बासठ है। अतः कुल मतदाताओं का केवल अठारह प्रतिशत ही समर्थन कांग्रेस को मिला है। इसका अर्थ हुआ कि सौ में से बहत्तर लोगों का विश्वास इंदिरा कांग्रेस को प्राप्त नहीं है। इसका अर्थ इतना ही हुआ कि इंदिरा कांग्रेस को सत्ता भले ही प्राप्त हुई हो किंतु जनविश्वास या जनसमर्थन प्राप्त नहीं हो सका। यह तो चुनाव पद्धति का करिश्मा है।

उसी प्रकार तमिलनाडु में इन चुनावों में पैंसठ प्रतिशत मतदाताओं ने मतदान किया है। उसमें से अन्ना डी.एम.के. को उनतालीस प्रतिशत मत मिले हैं। अर्थात् कुल मतदाताओं में से पच्चीस प्रतिशत मतदाताओं का ही समर्थन मिला है। अर्थात् तीन चौथाई मतदाता अन्ना डी.एम.के. के साथ नहीं हैं। यह वस्तुस्थिति है। इन प्रत्यक्ष अनुभवों से स्पष्ट हो जाता है कि सत्तारूढ़ हुए दल एवं उसके नेता पर भी आम जनता को विश्वास नहीं है। क्या यह लोकतंत्र के लिए शोभादायक है?

वर्तमान दुर्दशा के लिए क्या कारण हैं, यह जानने की दृष्टि से आप किसी राजनेता को प्रश्न करेंगे तो वह सहज रूप में अन्य राजनेताओं पर इसका दोषारोपण करेगा। उसके ही दल के पैर उखड़ गए होंगे तो उसके लिए भी वह अपने दल के अन्य नेताओं को कारण बताएगा। आजकल कोई राजनेता अपना दोष भी कबूल नहीं करना चाहता। हां, श्रेय प्राप्ति का प्रसंग उपस्थित हुआ तो उसे अपनी ही झोली में डालने में सब नेताओं में होड़ सी लगी दिखाई पड़ती है। वस्तुस्थिति है कि

वर्तमान दुर्दशा के लिए हर एक राजनेता, चाहे वह सत्तारूढ़ दल का हो या विरोधी दलों में से हो, कारण है। किंतु इस बात को स्वीकार करने का उनमें साहस नहीं है। अत: सुधार कैसे संभव होगा?

दुर्भाग्य से कहना पड़ता है कि हमारे देश की राजनीति व्यक्तिवाद से ऊपर उठ नहीं पाई। इसमें जो भी व्यक्ति प्रबल एवं प्रभावी रहा, उसकी चाटुकारिता करने में ही अन्य रस लेते रहे। संभवत: यह गुलामी के काल में घर कर गई प्रवृत्ति आजादी के बाद भी काम करती आ रही है। यह बात केवल सत्तारूढ़ दल के साथ ही नहीं रही। विरोधी दल भी ऐसे व्यक्तियों ने अपनी आकांक्षापूर्ति के लिए बनाए या बने हुए दलों को व्यक्तिवादी नेता अपने चंगुल में रखते आ रहे हैं। फलस्वरूप लोकतंत्र के विकास के लिए अनुकूल वातावरण पनप न सका। अधिकांश राजनीतिक दलों का जीवन अपने नेता की लहरों पर तैरता रहा है। यही कारण है कि दल टूटता गया किंतु नेता का नेतृत्व कायम है। या दल को तोड़-तोड़कर अपना नेतृत्व कायम रखा गया। फलस्वरूप आज एक भी देशव्यापी राजनीतिक दल अस्तित्व में नहीं है। इस पर भी व्यक्तिवाद के चंगुल से छुटकारा पाने की संभावना नजर नहीं आ रही है।

अत: व्यक्तिवाद को व्यक्तिवाद से ही परास्त करने की तरकीबें अपनाने की चर्चाएं सुनाई पड़ती हैं। यह चिंतन लोकतंत्र के उज्ज्वल भविष्य का द्योतक नहीं है। व्यक्तिवाद चाहे जिस किसी का हो, संगठन को कभी पनपने नहीं देता। वह सहयोगियों की नहीं, चाटुकारों की विशाल सेना खड़ी करता है। चाटुकारिता गुलामी की निशानी है, व्यक्ति स्वातंत्र्य और लोकतंत्र की नहीं।

व्यक्तिवाद : प्रतिभा का दुश्मन

व्यक्तिवाद साथियों में पहल-शक्ति एवं प्रतिभा पनपने नहीं देता। वह अपने से अधिक प्रतिभाशाली व्यक्तित्वों को सहन नहीं कर सकता। व्यक्तिवादी नेतृत्व में प्रतिभा पलायन का क्रम अधिकाधिक तीव्र हो जाता है। भारत इसे भुगत रहा है। ग्यारह सौ सालों के बाद आजाद हुए देश का शासक और नेता वर्ग ही इस बीमारी से पीड़ित हो तो सर्वसाधारण नागरिकों में सामाजिक प्रवृत्ति, स्वाभिमानी वृत्ति, कर्तृत्वशक्ति और आत्मविश्वास का विकास कैसे संभव होगा? स्वतंत्र भारत संसार के अन्य देशों में अपना प्रभावपूर्ण स्थान कैसे बना पाएगा?

इसके अतिरिक्त देश का वर्तमान नेतृत्व सत्तामोह का शिकार बना हुआ है। महाभारत काल में अर्जुन को सर्वोत्कृष्ट निशानेबाज माना जाता रहा। द्रोणाचार्य ने अपने सब शिष्यों को पेड़ पर रखी चिड़िया की आंख में निशाना मारने के लिए सिद्ध होने को कहा था। द्रोणाचार्य ने सबसे पूछा कि तुम्हें क्या-क्या दिखाई दे रहा है? किसी ने पेड़ कहा, किसी ने चिड़िया कहा, किंतु अर्जुन ने कहा कि मुझे तो केवल आंख ही दिख रही है। अन्य कुछ भी दिखाई नहीं देता। इस कारण अर्जुन सबसे बड़ा और सफल निशानेबाज बन गया, किंतु वर्तमान काल में अपने देश में अर्जुन होता तो उसकी विशेष महत्ता न होती। अपने देश के वर्तमान राजनेताओं को सत्ता की कुरसी के अतिरिक्त अन्य कुछ भी दिखाई नहीं देता। इतना ही नहीं, वे अपने निशाने पर इतने एकाग्र हैं कि असंख्य पीड़ित-प्रताड़ितों की आर्त पुकार भी उन्हें सुनाई नहीं देती। इतनी एकाग्रता अर्जुन में कहां थी?

विराट् पुरुष

1967 तक तो साधारण विधायकों ने आयाराम–गयाराम के मार्ग की खोज की थी, किंतु धीरे–धीरे हमारे वृद्धतम तथा ज्येष्ठतम नेताओं ने उसे राजमार्ग बना दिया है। कौन ऐसा नेता है जो आज जहां है, वहां ही रहेगा और आज जो कह रहा है, कल वही कहेगा? यह उनके साथी भी विश्वास से कह नहीं सकते। दुनिया क्या कहती है, इसकी परवाह करना वे निरर्थक मानते हैं। स्थितप्रज्ञता का वे नमूना पेश कर रहे हैं। देश की नई पीढ़ी के सामने अपनी सत्ताभक्ति का अनोखा आदर्श प्रस्तुत कर रहे हैं। ज्येष्ठतम कोटि के अधिकतर नेताओं ने सिद्ध किया है कि सत्ता तुरानाम न भयं न लज्जा। सत्ता की पावन पीड़ी का स्पर्श बड़े–से–बड़े पाप से मुक्ति दिलाने की क्षमता रखता है। उनके शब्दकोष में लोकतंत्र के लिए जनविश्वास नाम का कोई शब्द ही नहीं है। सत्ता प्राप्त होते ही संपूर्ण जीवन की आकांक्षा पूर्ण हुई, उसकी सार्वजनिक घोषणा कर वे नई पीढ़ी पर सत्ता ही सर्वस्व है, इसके संस्कार कर रहे हैं। अविश्वसनीयता में भी सफलता प्राप्ति का अभूतपूर्व आदर्श देश की नई पीढ़ी के सम्मुख प्रस्तुत कर रहे हैं। इसके जनजीवन पर कितने घातक परिणाम हो रहे हैं।

□

नौकरशाही लोकाभिमुखी बने

शासकों की नीतियों को कार्यान्वित करने का नौकरशाही पुरातन माध्यम है। राजतंत्र हो या अधिनायकवाद, संसदीय प्रणाली हो या लोकतंत्र की अन्य पद्धति–नौकरशाही सबके साथ समान रूप से जुड़ी रहती है। यह शासन का अनिवार्य अंग है। इसे प्रशासनतंत्र भी कहा जाता है।

लोकतंत्र में शासक बदलते रहते हैं, किंतु नौकरशाही स्थायी रूप से बनी रहती है। इसमें संलग्न व्यक्ति अवकाश को आयु पूर्ण करने पर पेंशन पाते हैं। उनकी जगह पर नए लोग नियुक्त होते रहते हैं। इस प्रकार नौकरशाही शासन के साथ अखंड रूप से चलती चली आ रही है।

स्थानीय स्तर से अखिल भारतीय स्तर तक की नौकरशाही एक कड़ी के रूप में कार्य करती है। उसका कार्यक्षेत्र अंतरराष्ट्रीय संबंधों को भी अपने में समेटे रहता है। नौकरशाही का देश के नागरिकों के साथ सभी स्तरों पर सीधा, स्थायी एवं अटूट संबंध रहता है। जनता का हित या अहित नौकरशाही की चुस्ती, वृत्ति एवं कार्यक्षमता पर निर्भर करता है। अतः प्रशासनतंत्र (नौकरशाही) दलगत राजनीति से अछूता बना रहे, यह अपेक्षित है। लोकतंत्र की सफलता के लिए यह अनिवार्य है। यह तंत्र जितना शुद्ध, जितना निष्पक्ष, जितना चुस्त तथा जितना न्यायप्रिय—उतना ही जनजीवन शांत, संतुष्ट एवं प्रगतिशील होता है।

इस प्रशासनतंत्र को या नौकरशाही को देश की आवश्यकतानुसार ढालना तथा कार्यक्षम बनाना स्वतंत्र भारत के शासकों का प्राथमिक एवं अति महत्त्वपूर्ण कर्तव्य था। सदियों बाद भारत आजाद हुआ था। हमारी गुलामी के काल में संसार के कुछ राष्ट्रों ने विज्ञान एवं तकनीकी के क्षेत्र में आश्चर्यजनक प्रगति की थी। इस प्रगति का संसार के हर देश पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। अतः स्वतंत्रता प्राप्त करते ही इस आधुनिक प्रगति की पृष्ठभूमि पर अपने राष्ट्रजीवन के सभी क्षेत्रों में युगानुकूल पुनर्रचना का व्यापक अभियान प्रारंभ करना शासनारूढ़ नेतृत्व का स्वाभाविक दायित्व था। देश में अंग्रेजों द्वारा विकसित किया हुआ प्रशासनतंत्र अर्थात् नौकरशाही विद्यमान थी। वह अंग्रेजों की हुकूमत भारत में कायम रखने की दृष्टि से प्रशिक्षित की गई थी। उसकी दिशा एवं कार्यशैली सत्ताभिमुखी थी। परकीय शासन के लिए यह ही जरूरी था।

भारत स्वतंत्र होने के बाद शासन का लक्ष्य बदल चुका था। अब हमारा अपना शासन स्थापित हुआ था। लोकतांत्रिक पद्धति को हमने स्वीकार किया था। लोकतांत्रिक शासन के लिए प्रशासनतंत्र

की प्रवृत्ति एवं कार्यशैली को सत्ताभिमुखी नहीं, लोकाभिमुखी बनाना आवश्यक था। गुलामी के काल में अंग्रेजों को सत्ता कायम रखने के लिए प्रशासनतंत्र को शांति और सुरक्षा बनाए रखने के लिए ही कार्यरत रहना पर्याप्त था, किंतु स्वतंत्र भारत में राष्ट्रजीवन के हर क्षेत्र में नवनिर्माण करने का माध्यम बनने की क्षमता अर्जित करने के लिए विरासत में मिली नौकरशाही को इस नूतन दायित्व का बोध कराने, उसकी दिशा बदलने तथा उसकी प्रचलित प्रवृत्ति में परिवर्तन करने के लिए कदम उठाने की जरूरत थी। नए दायित्व को निभाने की उसमें क्षमता निर्माण करने के लिए उपयुक्त प्रशिक्षण की व्यवस्था करना स्वतंत्र भारत के नए शासकों का आद्यकर्तव्य था। इस संबंध में उस समय चिंतन ही नहीं हुआ, यह कहना तो गलत होगा, किंतु वस्तुस्थिति है कि इस दिशा में कारगर कदम उठाए नहीं गए।

मुझे स्मरण है कि उस समय सरकारी अफसरों की मानसिकता उपर्युक्त परिवर्तन के लिए बहुत अनुकूल थी। उनके दिल और दिमाग में स्वतंत्र भारत के स्वातंत्र्य संघर्ष की भट्ठी में तपेतपाए नए शासकों के लिए बहुत बड़ी इज्जत थी। दिशा एवं कार्यशैली में परिवर्तन होने की वे अपेक्षा कर रहे थे। इस दिशा में नए शासकों से मार्गदर्शन पाने के लिए वे आतुर थे, किंतु दुर्भाग्य से कहना पड़ता है कि हमारे शासनारूढ़ नेतृत्व ने समय से ही इस दिशा में पहल नहीं की। हम सब जानते हैं कि स्वतंत्रता प्राप्त होते ही अनेक भीषण समस्याएं नेतृत्व के सामने मुंह बाए खड़ी थीं। संविधान निर्माण का भी कार्य करना था, किंतु इन कारणों के होते हुए उपर्युक्त काम की उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए थी। यह काम नौकरशाही के मानस को आवश्यक मोड़ देने का था। आवश्यक सतर्कता बरती जाती तो यह कार्य करना संभव था।

शासन बदला, चिंतन नहीं

संविधान निर्माण के काल में देश के सर्वोच्च संवैधानिक प्रमुख का विषय चर्चा के लिए आया। इसके लिए राष्ट्रपति पद के निर्माण का निर्णय हुआ। राष्ट्रपति के निवास एवं वेतन पर विचार होने लगा। वायसराय के निवास को ही राष्ट्रपति भवन नाम देकर राष्ट्रपति निवास बनाने का निर्णय लिया गया। महात्मा गांधी द्वारा प्रचारित आदर्श को इस निर्णय से ठेस पहुंची। इसका नौकरशाही के मानस पर भी खराब परिणाम हुआ। अंग्रेजों के काल में काम करनेवाली नौकरशाही पर्याप्त चतुर एवं संकेतग्राही थी। उसने इस निर्णय से अनुमान लगाना प्रारंभ किया कि स्वतंत्र भारत की शासन शैली में विशेष परिवर्तन की संभावना कम है। राष्ट्रपति के वेतन निर्धारण का प्रश्न उपस्थित हुआ। उस समय तर्क प्रस्तुत किया कि भारत जैसे महान् देश के सर्वोच्च सत्ताधीश का वेतन स्थान की गरिमा के अनुरूप ही होना चाहिए। यह तर्क भारत के सर्वोच्च समाजवादी महापुरुष द्वारा प्रस्तुत किया गया था। तदनुसार राष्ट्रपति का वेतन दस हजार रुपया मासिक निश्चित किया गया। अपने राष्ट्र की परंपरा में धन की महत्ता कभी सर्वश्रेष्ठ नहीं मानी गई थी। यह निर्णय भारतीय जीवन-मूल्यों के प्रतिकूल था। अंग्रेजों के काल में विकसित और हमें विरासत में मिली नौकरशाही की इस निर्णय के कारण धारणा

बन गई कि अपने नए शासकों के चिंतन की दिशा अंग्रेजों से विशेष भिन्न नहीं है।

खुदरी खादी में लिपटे हमारे लोकप्रिय शासकों ने, जो देशभक्ति तथा त्यागवृत्ति के कारण आम जनता के लिए परम आदरणीय बने थे, अपने लिए अंग्रेजों के काल का ही रुआबदार एवं खर्चीला तामझाम कायम रखा। लोगों के प्राणप्रिय शासकों के लिए भी विदेशी शासकों के समान ही पुलिस द्वारा कड़ी सुरक्षा की व्यवस्था बरकरार रखी गई। सवारियों का ठाट-बाट भी वह ही बनाए रखा गया, जो वायसराय या गर्वनर के लिए हुआ करता था। विदेशी शासकों ने यहां के लोगों को गुलाम बनाए रखने के लिए रुआबदार तौर-तरीके अपनाए थे, उन्हीं तौर-तरीकों को स्वतंत्र भारत के लोकप्रिय शासकों ने अपने लिए भी बनाए रखा।

स्वातंत्र्य प्राप्ति के प्रारंभिक काल में ही अंग्रेजों से प्राप्त नौकरशाही के सहज में ही ध्यान में आ गया कि मालिक (शासक) जरूर बदलते हैं किंतु शासनशैली अंग्रेजों के काल की ही चलती रहेगी। धीरे-धीरे नौकरशाही के ध्यान में यह भी आने लगा कि अंग्रेजों के काल में प्रशासनतंत्र के लिए जनता की भलाई से अधिक शासकों की मर्जी का ध्यान रखना आवश्यक था। उसी प्रकार भारत के लोकतंत्र में भी शासकों की मर्जी को ही अधिक महत्त्व देना जरूरी है। हुकुम के बंदे बनकर रहना ही अपनी तरक्की की दृष्टि से अधिक श्रेयस्कर है।

इस प्रकार एक के बाद एक ऐसे प्रसंग उपस्थित होते गए कि स्वातंत्र्य-प्राप्ति के समय अंग्रेजों से प्राप्त नौकरशाही के मानस में प्रशासन की दिशा एवं कार्यशैली के परिवर्तन की जो अपेक्षा थी, वह धीरे-धीरे मिटती गई। फलस्वरूप नौकरशाही का रवैया आज तक वह ही कायम है जो गुलामी के काल में था।

अपने देश का आजादी का संघर्ष बहुत लंबा चला। कई पीढ़ियों बाद अपने देश की सत्ता अपने हाथ में आई। सत्ता का अपना अलग ही प्रभाव हुआ करता है। स्वातंत्र्य संघर्ष की भट्ठी में तपेतपाए नेताओं पर भी सत्ता ने अपना रंग जमाया। कुछ मानव सुलभ कमजोरियां भी होती हैं। उनसे बचना मामूली बात नहीं है। सदियों की गुलामी में जीवन बिताने के कारण आम नागरिकों के दिल में सत्तारूढ़ व्यक्तियों के प्रति विशेष प्रतिष्ठा की भावना जमी हुई थी। गुलामी के काल में ही अपने देश में 'दिल्लीश्वरो वा—जगदीश्वरो वा' की कहावत चल पड़ी थी। ऐसी स्थिति में आजादी पाने के बाद शासनारूढ़ हुए अपने शासकों के प्रति जनसाधारण में अनन्य निष्ठा जाग्रत् होना स्वाभाविक ही था। विशेषतः स्व. पंडित जवाहर लालजी तो सबकी आस्था एवं श्रद्धा के केंद्र बन गए थे। उनका केवल दर्शन पाना भी सबकी आकांक्षा का विषय बना हुआ था।

गुलामी के काल में शासकों के विशेष कृपापात्र बनने की वृत्ति में विशेष वृद्धि हुआ करती है। धनीमानी तथा प्रभावशाली माने जानेवाले लोग इस दृष्टि से विशेष रूप से प्रयत्नशील रहा करते हैं।

ये लोग शासकों को प्रसन्न रखने की कला में सिद्धहस्त रहते हैं। अतः यह वर्ग स्वातंत्र्य प्राप्ति के बाद नए शासकों के आगमन पर भी पीछे कैसे रहता। विधायक, सांसद, मंत्री, मुख्यमंत्री तथा प्रधानमंत्रियों के यहां ऐसे तथा सामान्य जनों का तांता लगना स्वाभाविक ही था। अतः सत्तारूढ़ दल से संबंधित लोगों के यहां दरबार लगने लगे। प्रशंसा आदर व्यक्त करने का माध्यम है। प्रशंसा

से तो भगवान् भी प्रसन्न होते हैं। अतः हमारे नए शासक ही उसके अपवाद कैसे होते?

मानव साधारण समस्याओं से सताया हुआ एवं आवश्यकताओं से घिरा रहता है। अपना जनजीवन तो अनगिनत समस्याओं से त्रस्त एवं अभावों से ग्रस्त था। शासकों के लिए किसी की समस्याओं का निराकरण करना कठिन नहीं रहता। स्वतंत्र भारत के अपने शासकों से अपेक्षा थी कि वे साधारणतः व्यक्तिगत समस्याओं का निराकरण एवं आवश्यकताओं की पूर्ति के चक्कर में न पड़ते। प्रशासन में ही ऐसी व्यवस्था खड़ी करते कि हर स्तर पर नागरिकों की समस्याओं का सहज रूप में न्याय के आधार पर निवारण हो सके। वे स्वयं सामूहिक समस्याओं के निराकरण एवं सामूहिक आवश्यकताओं की पूर्ति की ही चिंता करते। इससे न किसी के साथ पक्षपात करने का प्रशासन में दोष उत्पन्न होता, न किसी के साथ अन्याय होने की गुंजाइश रहती, किंतु हमारा शासनारूढ़ नेतृत्व इस विषय में सतर्क न रह सका।

साधारणतः देखने में आता है कि सत्ता का प्रभाव व्यक्ति के विवेक को मंद बना देता है। इस कारण अपने हर कदम का दूरगामी परिणाम क्या होगा, इसका सत्तारूढ़ व्यक्ति अवधान नहीं रख पाता। हमारे शासक भी इसी बात का शिकार बने।

□

सक्षमता व योग्यता
सिफारिश की बैसाखी अवांछनीय

स्वतंत्र भारत के अपने शासकों के यहां निजी काम को लेकर लोगों का पहुंचना स्वाभाविक ही था। चलकर आए लोगों के व्यक्तिगत काम करना या नहीं, यह प्रश्न संभवतः अपने नए शासकों के मन में उठा होगा। उचित-अनुचित कामों के करने न करने की बात भी मन में आई होगी, किंतु यह विचार टिक नहीं पाया। संभवतः ऐसे काम करने के दूरगामी परिणाम क्या होंगे, इसकी कल्पना वे उस समय कर नहीं पाए। काम लेकर आए अपने व्यक्तियों को खाली हाथ लौटा देना अपनी असमर्थता स्वीकार करना होगा। इस विचार ने संभवतः हमारे शासनासीन नेताओं को प्रभावित किया हो। जो भी हो हमारे शासकों के लिए अपने लोगों के काम करा देने का मोह संवरण न हो सका। सिफारिशों के आधार पर काम होते गए। जिसका काम हो गया वह सहज में ही पांच-पच्चीस लोगों में काम करा देनेवाले की तारीफ कैसे न करता? वैसे भी शासकों का आशीर्वाद या निकटता समाज में प्रतिष्ठा का परिचायक माना जाता है। अतः काम करा देनेवाले की चर्चा तो होती ही। इस कारण अपने देशी शासन में सिफारिशों के माध्यम से काम हो रहे हैं, ऐसी हवा तेजी के साथ चारों ओर फैलने लगी।

सिफारिशों के काम भी प्रत्यक्ष रूप से तो सरकारी अधिकारियों द्वारा ही कार्यान्वित होते हैं। सिफारिशों से होनेवाले अधिकांश काम प्रशासन के नियमों का उल्लंघन किए बिना नहीं हो पाते। अतः प्रशासन में संलग्न अधिकारियों ने अनुभव किया कि प्रशासन के नियमों की शासकों की मर्जी के सामने विशेष महत्ता नहीं है। एक बार शासन किसी गलत दिशा में चल पड़ा तो उसकी सीमा नहीं रह पाती। उसी के दुष्परिणाम आज संपूर्ण समाज भुगतने के लिए विवश हुआ है।

सिफारिशों से काम होने की संभावना ने सिफारिशों को बहुत बढ़ावा दे दिया। इसी में भाई-भतीजावाद का प्रवेश होना स्वाभाविक ही था। सिफारिशों से काम होने लगे—प्रशासन के नियमों का उल्लंघन होता गया—सरकारी अधिकारी इस कुकर्म के माध्यम बन गए—फिर बचा ही क्या? सरकारी अधिकारी भी इस स्थिति का लाभ क्यों नहीं उठाते? उनके प्रभाव का दायरा भी कम नहीं रहता। उनके पास भी अपना-अपना काम लेकर पहुंचनेवालों की संख्या कम नहीं होती। लोगों के ध्यान में यह भी आ गया कि आखिर काम तो सरकारी अधिकारी ही करते हैं। अतः

जिनकी एम.एल.ए., एम.पी. या मिनिस्टर तक पहुंच नहीं थी, वे अपने निकटतम सरकारी अधिकारी के पास पहुंचने लगे।

रिश्वत को बढ़ावा

सिफारिश की 'परी' अधिक काल तक अकेली काम नहीं करती। वह अपने साथ अपने से अधिक लुभावनी अप्सरा 'रिश्वत' को आगे बढ़ाने लगती है। इस प्रकार धीरे-धीरे परदे की रानी रिश्वत भी प्रशासन में प्रवेश कर गई। सिफारिश एवं रिश्वत के लुभावने और सुहावने स्वरूप की तुलना में योग्यता तथा क्षमता की सूरत का आकर्षण फीका पड़ने लगा। मेरिट की कीमत घटने लगी। साधारण से साधारण व्यक्ति सिफारिश या रिश्वत की सवारी कर योग्य से योग्य व्यक्ति को पछाड़ने लगा। रिश्वत की माया सिफारिश से अधिक प्रभावी बनती गई।

सामाजिक जीवन एवं प्रशासन पर इसके महा भयानक परिणाम हुए। फलस्वरूप देश के युवा वर्ग की दिशा ही बदल गई। अवसर पाने के लिए योग्यता और क्षमता का मूल्य नहीं रहा। जीवन-मूल्य उपेक्षित हुए। सद्गुणों की खिल्ली उड़ने लगी। देश की उभरती हुई नई पीढ़ी दिग्भ्रमित हो गई। योग्यता अर्जित करने की उमंग मंद पड़ गई। लगन और परिश्रम का नौजवानों के जीवन से लोप होने लगा। जीवन में सिफारिश एवं रिश्वत के प्रवेश का यह ही परिणाम होना था। देश की नई पीढ़ी योग्यता-क्षमता-आत्मविश्वास-साहस और दृढ़ता की आराधना के स्थान पर सिफारिश एवं रिश्वत की माया में उलझती गई। ऐसी स्थिति में देश का भवितव्य क्या होगा? इस बात का ध्यान सबकी नजर से ओझल हो गया। इस चिंताजनक दशा के लिए देश का युवा वर्ग जिम्मेदार है या उनके सम्मुख आदर्श प्रस्तुत करने का दायित्व निभाने की जिनसे अपेक्षा थी, वह नेता वर्ग जिम्मेदार है?

अपना देश और समाज विशाल है। उसमें अनेक परंपरागत जातियां एवं मजहब मौजूद हैं। अनेक परिधान विभिन्न रीति-रिवाज एवं कितनी ही भाषाएं प्रचलित हैं। आर्थिक एवं सामाजिक विषमताओं के कारण ऊंच-नीच की भावनाएं बलवान हैं। पचास प्रतिशत तक समाज गरीबी की रेखा के नीचे कंगाली का जीवन व्यतीत करने के लिए बाध्य है। ऐसे दुर्दशाग्रस्त समाज का प्रशासन जब सिफारिशों एवं रिश्वत के आधार पर चले तो समाज में कितनी बेचैनी फैलती है, इसकी अनुभूति किसे नहीं है?

कितने प्रतिशत ऐसे भाग्यशाली होंगे, जो सिफारिश या रिश्वत का सहारा पा सकते हैं? केवल गिनती के लोग ही ऐसे भाग्यशाली होंगे जो सिफारिश या रिश्वत देने की क्षमता रखते हैं। शेष संपूर्ण युवा वर्ग बेचैनी का शिकार बना है। इसी का परिणाम है कि महाविद्यालय एवं विश्वविद्यालय अध्ययन के नहीं अशांति के केंद्र बन रहे हैं। जहां योग्यता की कद्र नहीं, सद्गुणों की कीमत नहीं, प्रतिभा का आदर नहीं, वहां उद्दंडता, विद्रोह और विनाश के अतिरिक्त क्या होगा? क्या गत तैंतीस साल की राजनीतिक संस्कृति की ही यह देन नहीं है?

न्यायप्रियता पर आघात

दूसरा परिणाम है अपने प्रशासनतंत्र की विकृति का। सरकार की हर एक नीति के कार्यान्वयन का प्रशासनतंत्र (नौकरशाही) एकमेव माध्यम है। उसे ही प्रशासन के नियमों का उल्लंघन करने के अवसर दिए गए तो उसकी न्यायप्रियता कैसे टिक पाती? रिश्वत के लालच में फंसने के मौके देकर उससे निष्पक्षता के व्यवहार की अपेक्षा कैसे की जा सकती थी? सामाजिक भलाई के स्थान पर व्यक्तिगत स्वार्थपूर्ण करवाने के काम उनसे करवाकर उसमें संलग्न लोगों को निस्स्वार्थ बनाए रखना कैसे संभव होता? कर्तव्यभावना की उपेक्षा करवाकर उन्हें कर्तव्यनिष्ठ कैसे बनाया रखा जा सकता था? शासन की असावधानी ने प्रशासनतंत्र को ही बेकार बना दिया। सरकारी नौकरशाही के ये दोष, अर्धसरकारी संस्थाओं में तथा कंपनियों एवं उद्योगों में संलग्न नौकरशाही में भी कम-अधिक मात्रा में पहुंच गए।

इन दोषों के स्वाभाविक परिणाम हैं प्रशासन की आवश्यक चुस्ती की समाप्ति। न्यायसंगत काम होने की संभावना का अभाव। अपने से संबंधित व्यक्ति के गलत काम भी करा देने की वृत्ति का विकास। रिश्वत लेकर काम करने की आदत में वृद्धि। कर्तव्य तत्परता का विनाश और काम की गति में ह्रास। यही कारण है कि प्रशासन में एक ही जगह चार-बार व्यक्ति लगाए जाने पर भी काम पचास प्रतिशत भी होना कठिन हो गया। कम काम और अधिक दाम की प्रवृत्ति पनपती गई। सर्वसाधारण नागरिकों की प्रशासन द्वारा उपेक्षा होने लगी। न्यायसंगत जीवन की संभावना न रही। आज यह ही जीवन बना है अपने समाज का।

देश आजाद हुआ—सदियों बाद आजाद हुआ। परकीय शासकों ने देश को लूटा था, किंतु अंग्रेजों ने इसमें कीर्तिमान प्रस्थापित किया। ग्रेट ब्रिटेन की संपन्नता के लिए यहां के पुरातन एवं पूर्ण विकसित कुटीर उद्योगों को खत्म किया गया। भारत की संपत्ति का प्रवाह ब्रिटेन की ओर मुड़ा। भारत की आम जनता कंगाल बनती गई। ब्रिटेन संपन्न बनता गया। अतः आजादी मिलने पर हमें सर्वप्रथम आर्थिक विकास पर बल देना आवश्यक था। तदनुसार स्वतंत्र भारत के शासकों ने विकास के लिए चिंतन किया। विकास की पंचवार्षिक योजनाएं बनीं। सबके हृदय महत्त्वाकांक्षाओं से परिपूर्ण थे। अतः योजनाएं भी बहुत महत्त्वाकांक्षापूर्ण बनीं। उसके लिए देश के खजाने में आवश्यक मात्रा में धन नहीं था। बनी योजनाएं कार्यान्वित करनी थीं। अतः दुनिया के संपन्न देशों से विशाल धनराशि कर्ज के रूप में ली गई। विकास योजनाएं कार्यान्वित की जाने लगीं। हर जिले एवं विकास प्रखंडों के पास विकास के कामों के लिए लाखों रुपया पहुंचने लगा। हमने अपना प्रशासन-तंत्र इन रचनात्मक एवं निर्माणात्मक कार्यों के लिए सक्षम बनाने की दृष्टि से कोई प्रयास नहीं किया था। किंतु इस पहलू पर हम यहां विचार नहीं करेंगे। सरकार के पास अपनी योजनाएं कार्यान्वित करने का माध्यम केवल अपना प्रशासन-तंत्र ही था। उस प्रशासन-तंत्र को देश के शासकों ने किस दिशा में गतिमान किया था, इसका विवरण ऊपर दिया जा चुका है।

आज तक पंचवार्षिक योजनाओं के कार्यान्वयन पर हजारों करोड़ रुपया व्यय किया जा चुका है। देश के विकास की दृष्टि से इन योजनाओं की उपलब्धियां नहीं हैं, यह कोई नहीं कह सकता।

वे स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ती हैं, किंतु जितना धन लगाया गया, जितना काल व्यय हुआ, दुनिया के जितने विशेषज्ञों ने अपना दिमाग एवं अनुभव खपाया—उसकी तुलना में देश और समाज का लाभ हुआ क्या? यह देखना होगा। गांधीजी कहा करते थे, ''भारत गांवों में बसता है। गांव खुशहाल होंगे तो भारत खुशहाल होगा।'' हमारे शासक गांधीजी के अनुयायी और भक्त हैं। इसकी वे रात-दिन माला जपते आ रहे हैं। किंतु गत 33 साल की अपनी हुकूमत के काल में देहातों की दुर्दशा वैसी ही कायम है जैसी अंग्रेजों के काल में थी। बेकार नवयुवकों की संख्या निरंतर बढ़ती ही जा रही है। गरीबी की रेखा के नीचे जीनेवाले कंगालों की संख्या में भी सतत वृद्धि हो ही रही है। देश के अनेक इलाके गुलामी के काल के जैसे ही अविकसित पड़े हैं। योजनाओं के चलते हुए हजारों करोड़ रुपयों का व्यय होते हुए—समतामय समाज या समाजवाद का आदर्श सम्मुख रहते हुए—हमारी विकास योजनाओं के परिणाम इतने विपरीत क्यों हुए? देश के विभिन्न प्रदेशों एवं समाज के अंगों में विषमता खतरनाक बिंदु तक क्यों नहीं पहुंच रही है? इन सब सवालों की जड़ में एक ही बीमारी सर्वप्रमुख है—हमारे शासकों की असावधानी तथा सत्ता मोह के कारण विकास योजनाओं को कार्यान्वित करने का एकमेव माध्यम प्रशासनतंत्र को पक्षपातपूर्ण राजनीति प्रभावित, भ्रष्ट तथा बेकार बना देना।

☐

काला धन
सत्ता का आधार न बने

सत्ता मोह के वशीभूत होकर नौकरशाही का दुरुपयोग न किया गया होता तो आर्थिक विकास के लिए बनाई गई पंचवार्षिक योजनाओं के मधुर परिणामों से आम जनता लाभान्वित हुई होती। इन योजनाओं पर अब तक लगभग नब्बे हजार करोड़ रुपया व्यय हुआ है। इतनी विशाल धनराशि गई कहां—समझते सब हैं, लेकिन कुछ नहीं किया जा सकता।

विभिन्न निर्माण कार्यों के लिए अरबों के ठेके दिए गए। इनमें से कितना धन जनकल्याण के नियोजित कामों में लगा और कितना योजनाएं कार्यान्वित करनेवालों के निजी काम में आया? इन निर्माण कार्यों के लिए उपलब्ध सीमेंट, लोहा तथा अन्य सामानों से कितने ही लोगों की निजी कोठियां खड़ी हो गई हैं। जनकल्याण के ऐसे लाखों काम हैं, जिनके लिए सरकारी खजाने से रुपया व्यय होने का दफ्तरों में हिसाब जरूर लिखा हुआ है, किंतु वे काम धरती पर कभी हुए ही नहीं। कितनी विडंबना है यह?

आवश्यक माल की कमी के कारण कंट्रोल की व्यवस्था बनाई गई, किंतु कंट्रोल में बिकनेवाला माल काले बाजार में ऊंचे दाम पर चाहे जितनी मात्रा में उपलब्ध होता है। काले बाजार में उस माल की कमी कभी अनुभव नहीं होती। आए दिन चोरियां और डकैतियां होती हैं, किंतु शासन, पुलिस तथा गुप्तचरों की विशाल सेना होते हुए भी न वे पकड़े जाते हैं न चोरी गया माल ही मिलता है। डकैती की समस्या के हल की तो संभावना ही समाप्त सी लगती है। चाहे जिसकी हत्या की जा सकती है और हत्यारा आराम से रफू-चक्कर हो जाता है। अपराधी को सजा न मिलना अपराधी वृत्ति को बढ़ावा देना है। यह कुकर्म प्रशासन के द्वारा हो रहा है। अनेक सरकारी दवाखानों में गरीब मरीजों के लिए आई दवाएं बाजार में बिकती हैं। यहां तक कि अकाल पीड़ितों के लिए बांटा जानेवाला अनाज बाजार में बेचकर खाया जाता है। इससे अधिक पतन की कौन सी अवस्था हो सकती है? किंतु यह वस्तुस्थिति है। सरकारी दफ्तर के अनेक बाबुओं के बच्चे लिखने-पढ़ने के लिए सरकारी दफ्तर की स्टेशनरी काम में लाते हैं, यह कौन नहीं जानता? अपने प्रशासन की यह लज्जाजनक दुर्दशा क्या सता में बने रहने के लिए नौकरशाही के दुरुपयोग का ही परिणाम नहीं है? क्या निजी स्वार्थ के लिए प्रशासन तंत्र को भ्रष्ट बनाने का ही यह नतीजा नहीं है।

सरकार अपनी आय बढ़ाने के लिए टैक्स लगाती है, किंतु टैक्स का पूरा पैसा सरकारी खजाने में जमा होता है? कौन नहीं जानता सेल्स टैक्स की हालत। कितना सेल्स टैक्स सरकारी खजाने में पहुंचता है? सेल्स टैक्स इंस्पेक्टर की आर्थिक स्थिति उसके वेतन के अनुरूप हो, ऐसा सेल्स टैक्स इंस्पेक्टर शायद ही मिलेगा। सेल्स टैक्स इंस्पेक्टर का पद पाना धनार्जन की दृष्टि से भाग्योदय की बात मानी जाती है। अनेक इनकम टैक्स देनेवाले खुलेआम कहते हैं कि जितना इनकम टैक्स बचाया जाता है उतना ही हमारा शुद्ध मुनाफा होता है। शायद ही कोई ऐसा इनकम टैक्स देनेवाला हो, जो ईमानदारी से शत-प्रतिशत इनकम टैक्स देता हो। शासक मौजूद है। शासन चल रहा है और हर स्तर पर भ्रष्टाचार, अनाचार और लूट चल रही है। सत्य और अहिंसा का आदर्श प्रस्थापित करनेवाले महात्मा गांधी के देश में आम व्यक्ति कहता है कि ईमानदारी से रोजगार करना असंभव है। क्या यह ही स्वातंत्र्य प्राप्ति के संघर्ष में बलिदान हुए देशभक्तों की स्वतंत्र भारत से अपेक्षा थी? क्या उनके प्रति वफादारी का यह ही तरीका है?

खुला धन मात खा रहा है

काले धन के आधार पर ही तथाकथित बड़े लोग समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त कर रहे हैं। ऐसी परंपरा बन गई है कि काले धन के बिना राजनेता देश और प्रदेश का शासक नहीं बन पाता। कानून और व्यवस्था को बनाए रखनेवाला शासक ही काले धन की नींव पर खड़ा है। ऐसी हालत में कानून और व्यवस्था कैसे कायम रहेगी? आज देश में कितना काला धन है, कहना कठिन है। खुले धन के साथ काले धन की होड़ लगी हुई है। इस प्रतिस्पर्धा में खुला धन मात खा रहा है। आर्थिक स्थिति सुधारने की रोज गंभीर चर्चा चलती है। आर्थिक समस्याओं का निराकरण करने के विषय में बड़े-बड़े लेख प्रकाशित होते हैं। नई-नई थ्योरियां प्रस्तुत की जाती हैं, किंतु क्या काले धन को निरंतर बढ़नेवाली असीम राशि के होते हुए देश की आर्थिक स्थिति सुधारी जा सकती है?

शासकों के शासन में रहने का आधार ही काला धन है तो काले धन की समाप्ति कैसे संभव होगी? प्रशासन से भ्रष्टाचार समाप्त करने की बातें केवल हिप्पोक्रैसी मात्र है। शासन तंत्र पर हावी इस हिप्पोक्रैसी के चलते राष्ट्र जीवन में सुधार की अपेक्षा करना मृग-मरीचिका के पीछे दौड़ना मात्र है। गरीबों के लिए आंसू बहाने में कोई प्रामाणिकता नहीं है। काला धन गरीबी मिटाता नहीं, गरीबी बढ़ाता है। समाज के अधिकाधिक लोगों को गरीबी की रेखा के नीचे ढकेलने का काम करता है। काला धन गिनती के कुछ लोगों को ही खुशहाल बनाता है तथा सर्वसाधारण नागरिकों के लिए जीना असंभव कर देता है। आज काला धन ही शासकों की गद्दी का आधार और विरोधी दलों की गतिविधियों का सहारा है। इसी का परिणाम है कि नौकरशाही में भ्रष्टाचार, सामाजिक जीवन में अनाचार एवं देश में अराजकता निरंतर बढ़ रही है।

आध्यात्मिकता को जीवनाधार माननेवाले भारत में अनैतिकता की बाढ़ आई हुई है। शासन निकम्मा बनता जा रहा है। ऊपर से नीचे तक एक-दूसरे पर संदेह का वातावरण है। किसे

किसका समर्थन प्राप्त है और कौन किसका कोप भाजन है, यही दफ्तरों में चर्चा का खास विषय रहता है। अन्याय का शिकार न्याय की आशा लेकर किसी दफ्तर में पहुंचता है तो वहां के वातावरण को देखकर ही वह परेशान हो जाता है। कोई अधिकारी न उसे सांत्वना देता है, न न्याय पाने का आश्वासन। अधिकतर लोगों को तो चपरासी के स्तर पर ही दुतकार दिया जाता है, किंतु एकाध माई का लाल किसी प्रकार की हस्ती रखता है तो वह वरिष्ठ अधिकारी तक पहुंच पाता है, किंतु न्याय पाना उसे भी संभव नहीं होता। कारण अधिकारी न्यायसंगत अनुरोध पर भी निर्णय लेना नहीं चाहता। जिम्मेदारी निभाने का उसमें आवश्यक साहस ही नहीं दिखता। प्राप्त जिम्मेदारी निभाने की वृत्ति का शासन से लोप हो रहा है। हर अधिकारी ऊपर की ओर इशारा कर अपनी जिम्मेदारी टालने में ही अपनी चतुराई समझता है। न्याय की याचना करनेवाले पर अन्याय करनेवाले का किसी-न-किसी वरिष्ठ शासक के पास सिलसिला होगा, इस आशंका से सभी प्रभावित है। अतः न्यायपूर्ण जिम्मेदारी निभाने के गुण का प्रशासनतंत्र में अभाव हो गया है।

दरिद्रनारायण की अनदेखी

स्वतंत्र भारत में जिन्हें प्राथमिकता मिलनी चाहिए थी, उन्हीं की सर्वाधिक उपेक्षा होती आ रही है। गांधीजी ने दरिद्रनारायण की सेवा पर बल दिया था। इस बात की महत्ता सबके ध्यान में आए, इसलिए उन्होंने अपना निवास भंगी कॉलोनी में बना लिया था। स्वतंत्र भारत के शासकों को चाहिए था कि वे इस बात को समझकर अपने शासन की दिशा निश्चित करते। प्रशासन-तंत्र को उसी दृष्टि से ढालते और प्रशासकों को इसके लिए प्रशिक्षित करते, किंतु स्वतंत्र भारत के शासकों ने प्रशासनतंत्र की जो हालत बनाई है, उसका विवेचन किया जा चुका है। ऐसे प्रशासन में देश के सदियों से उपेक्षित एवं आर्थिक दृष्टि से विपन्न लोगों को प्राथमिकता कैसे प्राप्त होती?

देश के राजनीतिक नेता आए दिन दीन-दुखियों के लिए आंसू बहाते हैं। गरीबी मिटाने की बातें करते हैं। विषमता घटाने के प्रस्ताव पारित होते हैं। समाजवाद के नारे लगते हैं। गत 33 वर्षों के अनुभव से सब जान गए हैं कि यह सब नाटक है।

भारत गांवों में बसता है, क्या इसकी कल्पना नेता को नहीं थी? किंतु गत 33 साल का हम इतिहास देखें। गांवों के हाल क्या बनते जा रहे हैं? थोड़ा सा पढ़ा-लिखा या मन में महत्त्वाकांक्षा रखनेवाला व्यक्ति गांवों में रहना नहीं चाहता। अपना भविष्य किसी शहर में जाकर ही बनाया जा सकता है, ऐसा वह समझता है। आबादी बढ़ रही है किंतु खेती तो बढ़ नहीं सकती। वह तो उतनी ही बनी रहती है। अतः खेती के सहारे बढ़ती आबादी का जीवन चल नहीं सकता। खेत बंटकर छोटे-छोटे अर्थात् अलाभकर होते जा रहे हैं। खेतिहर मजदूरों की संख्या बढ़ती जा रही है। गांवों में नए रोजगारों की संभावना नहीं है। इतना ही नहीं नूतन आविष्कारों के कारण पुरातन धंधे बंद पड़ रहे हैं। रेलें, सड़कें और पुल आदि का जाल निरंतर बढ़ रहा है। नदियां यातायात के माध्यम के रूप में प्रयोग में नहीं आ रही हैं। उसमें जो लोग संलग्न थे उनका पुराना काम छिन गया, किंतु उनके लिए नए रोजगार की कोई व्यवस्था नहीं की गई। वे पूर्णतः उपेक्षित हैं। एक के बाद

एक पुरातन ग्रामीण उद्योग बंद होते जा रहे हैं। बेकारी बढ़ रही है। लोगों का गांवों में रहना असंभव हो रहा है। वे शहरों में पहुंच रहे हैं। गांवों की ओर का नारा निरर्थक बन रहा है। गांव उजड़ रहे हैं। शहरों में रहने के लिए जगह नहीं है। फिर भी लोगों का शहरों की ओर जाने का तांता बढ़ता ही जा रहा है।

देश आजाद हुआ तब अलाभकर जोतों की संख्या पचास प्रतिशत भी नहीं थी। अब अलाभकर जोतों की संख्या पचहत्तर प्रतिशत से अधिक है। किसी-किसी जिले में अलाभकर जोतों की संख्या तिरानबे प्रतिशत तक पहुंची है। किसानों की आबादी का अस्सी प्रतिशत से अधिक समाज इन अलाभकर जोतों पर निर्भर है। इन अलाभकर जोतों को लाभकर बनाने में स्वतंत्र भारत के तैंतीस वर्ष नाकामयाब सिद्ध हुए हैं। अस्सी प्रतिशत किसानों की क्रय शक्ति शून्य है। इस स्थिति में देश का आर्थिक विकास कैसे संभव है। देश में बड़े-से-बड़े और आधुनिकतम कारखाने खड़े हो रहे हैं। उनमें पैदा हुआ माल विदेशों में खपाया जा रहा है, किंतु अपने समाज की क्रय शक्ति बढ़ाए बिना केवल निर्यात के भरोसे भारत के पैंसठ करोड़ से अधिक लोगों को खुशहाल नहीं बनाया जा सकता। सत्तामोह या मद के प्रभाव में ये प्राथमिकताएं नजर से ओझल होती आ रही हैं। समाज की, विशेषतः अपना भवितव्य अंधकारमय है, यह जानकर नौजवानों की सहनशक्ति समाप्त हो रही है। इसकी परवाह वर्तमान राजनेताओं को नहीं है। इसके परिणाम कितने भयंकर हो सकते हैं?

अल्पसंख्यक एवं हरिजनों की चर्चा अखंड रूप से चलती है। सत्ता पाने में उनका समर्थन सर्वाधिक महत्त्व रखता है। उनका वोट संगठित रूप में लगभग शत-प्रतिशत पड़ता है। अतः उनके प्रति आत्मीयता प्रदर्शन की होड़ लगी हुई है। किंतु हम उनकी आर्थिक तथा शैक्षणिक स्थिति पर विचार करें। उनके जीवन स्तर को अधिक निकट से देखें। सहज में ही ध्यान में आएगा कि इनके प्रति की आत्मीयता शुद्ध नाटक है। मुसलमानों या हरिजनों के कुछ नेताओं को राष्ट्रपति या गवर्नर के पदों पर आसीन किया गया होगा। मंत्री या मुख्यमंत्री बना दिया होगा। पार्टी के अध्यक्ष या महामंत्री पद पर बिठाया होगा, किंतु क्या सर्वसाधारण मुसलमानों की या हरिजनों की गत तैंतीस सालों में आर्थिक स्थिति सुधरी है? क्या उनके जीवन की मामूली आवश्यकताएं भी पूर्ण हो रही हैं? क्या उन्हें सामाजिक न्याय मिल रहा है? क्या वे सर्वसाधारण समाज के स्वाभाविक एवं आत्मीय अंग बन पा रहे हैं? क्या उनके निवास मानव के रहने योग्य हैं? क्या उनकी महिलाएं ससम्मान जी रही हैं? क्या उनके बच्चों के विकास के लिए आवश्यक आहार उपलब्ध हो रहा है? प्रशासन तंत्र की जो हालत बना दी गई है, उसके द्वारा महात्मा गांधी की दरिद्रनारायण की सेवा की आकांक्षा कदापि पूर्ण नहीं हो सकती। इस दिशा में गत तैंतीस वर्षों में हमारे राजनेताओं ने कौन से व्यावहारिक कदम उठाए हैं? किसने इन समस्याओं को प्राथमिकता दिलाने में पहल की है? पांच-पचास हरिजन परिवारों को ऊंचा उठाने का स्वयं एक नमूने के रूप में भी किया हुआ काम क्या कोई नेता दिखा सकता है?

□

प्रतिपक्ष
सकारात्मक बने

लोकतंत्र में विशेषतः संसदीय पद्धति में विरोधी दलों का सुनिश्चित दायित्व है— शासनारूढ़ दल पर जनहित के पहरेदार के रूप में एक अंकुश का काम करना। शासक देश और समाज की दृष्टि से कोई गलत नीति अपनाता है या घातक कदम उठाता है तो विरोधी दल एक चट्टान के रूप में उसका वह रास्ता रोके। यदि शासन राष्ट्रीय गौरव का या सर्वसाधारण नागरिकों के हित संपादन का कदम उठाता है तो उसमें यथासंभव सहयोग दें। किंतु गत तैंतीस सालों का अनुभव इस बात का सबूत है, दोनों अपना-अपना दायित्व निभाने में पूर्णतः विफल रहे हैं।

1962-1965 तथा 1970 के अंत में विदेशी आक्रमणों के संकट के काल में शासनारूढ़ दल तथा विरोधी दलों ने अपना-अपना दायित्व सराहनीय ढंग से निभाया, किंतु पराए आक्रमणों के अतिरिक्त जो लंबा काल बीत गया है, उसमें विरोधी दलों ने भी क्या किया है? देश आजाद होते ही देश के सम्मुख एक नई परिस्थिति पैदा हुई थी। नए दायित्व उपस्थित हुए थे। नई दिशा निश्चित करनी थी। राष्ट्र के नवनिर्माण का महान् कार्य सामने आ खड़ा था। इस राष्ट्र कार्य में किस प्रकार सहभागी बनें, इसकी स्पष्ट कल्पना समाज को विशेषतः देश के युवावर्ग को देने की आवश्यकता थी। देश का विभाजन हुआ था। लाखों लोग उजड़कर अपने पास बचे भूखंड पर आए थे। विस्थापितों की समस्या ने विकराल रूप धारण किया था। अखंडता का आदर्श क्षत-विक्षत हुआ था। भावनाएं भड़क उठी थीं। परिस्थिति नाजुक थी। गहन चिंतन एवं समुचित दिशा दर्शन की जरूरत थी। राष्ट्र के नवनिर्माण का सर्वप्रमुख दायित्व नजर से ओझल होने की संभावना थी। राष्ट्र निर्माण केवल शासनारूढ़ दल या नेताओं का ही काम नहीं था। सर्वसाधारण समाज को उसमें संलग्न करना था। युवा-शक्ति को उसमें जुटाना था। यह सामयिक एवं श्रेष्ठतम कार्य करने में जहां सत्तारूढ़ दल विफल रहा, वहां विरोधी दलों का क्रियाकलाप भी भिन्न नहीं रहा। परिणामस्वरूप आजादी के प्रारंभ में ही स्वतंत्र भारत में देशभक्ति का क्या रूप हो—हर एक जागरूक नागरिक विशेषतः युवक राष्ट्र निर्माण में किस रूप में योगदान करें—यह किसी के सम्मुख स्पष्ट न हो सका। इसी कारण आजादी पाने के बाद संपूर्ण समाज दिशाहीन बन गया। इसमें विरोधी दल अपना रोल अदा न कर सके। वे लकीर के फकीर बन गए। इंग्लैंड में विरोधी

दल शासन की नीतियों का विरोध किया करते हैं। हमें भी उतना ही काम करना है, यही भावना संभवतः विरोधी दलों के नेताओं के दिमाग में काम करती रही। भारत सदियों बाद आजाद हुआ है। राष्ट्रजीवन के हर क्षेत्र में नए सिरे से काम करना जरूरी है। समाज की पुनर्रचना करनी है। यह महान् कार्य आम नागरिकों को सहभागी बनाकर ही करना संभव है। यह उस समय सोचा न जा सका। परिणामस्वरूप प्रारंभ में ही समाज आवश्यक मार्गदर्शन से वंचित रह गया। इस दोष से विरोधी नेता वर्ग स्वयं को अलिप्त नहीं कर सकता।

देश के विभाजन के कारण हमारे नेतृत्व को सबक सीखना चाहिए था। विभाजन के बावजूद देश विशाल था। उसमें अनेक भाषाएं चली आ रही थीं। खानपान में विभिन्नता थी। पहराव अलग-अलग थे। रीति-रिवाजों में एकता नहीं थी। असंख्य जातियों की प्रथा चली आ रही थी। पूजा की विधियां भी अनेक थीं। जिस मजहबी भावनाओं को भड़काकर देश का विभाजन किया गया था, उस मजहब के माननेवाले देश में कम नहीं थे। इन सब बातों के होते हुए अपने राष्ट्रीय समाज की एकता के लिए विशेष और अथक प्रयास गत अनुभवों की पृष्ठभूमि को ध्यान में रखकर करने की आवश्यकता थी। इसमें दलीय भावना से ऊपर उठकर सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, जातीय, वर्गीय एवं अन्य सब प्रकार के नेतृत्व को एकत्रित लाकर सामाजिक एकता के लिए सर्वसम्मत मार्ग निर्धारित करना जरूरी था। शासनारूढ़ नेतृत्व इन सब समस्याओं को शासन के माध्यम से हल करने की सोचता रहा, किंतु विरोधी नेताओं का काम था कि वे शासन को समझते कि यह कार्य केवल शासन के बलबूते का नहीं है।

सामाजिक एकता राष्ट्रीय समस्या है। इसका निराकरण समाज के सभी स्तरों पर सबका सहयोग प्राप्त करके ही संभव है, किंतु दुर्भाग्य से कहना पड़ता है कि विरोधी दलों ने उस समय इस महत्त्वपूर्ण बात की उपेक्षा की।

1952 के आम चुनाव आए। उसमें जाति, भाषा, मजहब को उभाड़ने का पाप शासनारूढ़ दल के साथ ही विरोधी दलों ने भी किया। अपने समाज में आज जातिवाद, भाषावाद, मजहबवाद एवं क्षेत्रीय भावनाओं का जो वीभत्स रूप दिखाई पड़ रहा है, उसके लिए शासनारूढ़ एवं विरोधी दलों के नेता समान रूप से दोषी हैं—देश का पूरा नेतृत्व जिम्मेदार है।

देश आजाद होने के बाद समाज में तीन प्रकार के वर्ग मौजूद थे, जो राष्ट्र के नवनिर्माण में तथा संपूर्ण देश को ठीक दिशा में चलाने में परिणामजनक कार्य कर सकते थे।

- राजनीति में कार्यरत नेतावर्ग (सत्तारूढ़ एवं विरोधी, दोनों)
- देश का बुद्धिजीवी वर्ग तथा
- उद्योगपति वर्ग

इन तीनों वर्गों के लोगों में देश की परिस्थिति समझने की क्षमता थी। जहां बुद्धिजीवी वर्ग में कल्पकता तथा ऐतिहासिक एवं अंतरराष्ट्रीय ज्ञान था, वहां ही उद्योगपतियों में कार्यकुशलता एवं व्यवस्थात्मक निपुणता थी। उनका समाज में अपना-अपना प्रभाव क्षेत्र था। वे चाहते तो देश को गलत दिशा में जाने से रोक सकते थे तथा देश को सही दिशा में अग्रसर करने में सहायक बन

सकते थे। जहां बालिग मताधिकार प्रदान किया गया हो, उस लोकतंत्र में उपर्युक्त तीनों वर्गों का यह स्वाभाविक दायित्व था कि वे इस दिशा में आगे बढ़कर हर नागरिक को राष्ट्रनिर्माण के कार्य में सक्रिय होने की प्रेरणा देते। राजनेता वर्ग सत्ता की होड़ में लग गया। शेष दोनों वर्ग राजनीति को अछूत मान बैठे। यहां तक तो कुछ गनीमत मानी जा सकती है। किंतु राष्ट्र के नवनिर्माण के तथा सामाजिक पुनर्रचना के कार्य से उनका अलिप्त रहना अक्षम्य था। राजनीति गलत दिशा में जा रही है, यह जानते हुए भी वे उन राजनेताओं को सहायता प्रदान करते रहे, जो देशहित की दृष्टि से गलत काम कर रहे थे। अपने लाभ के लिए देशहित की उन्होंने पूरी उपेक्षा की।

प्रामाणिकता के साथ हम आत्मालोचन करें तो सभी अनुभव करेंगे कि देश में जो जाति विद्वेष, मजहबी वर्गों में तनाव, भयानक रूप में आर्थिक एवं सामाजिक विषमता, गैर-जिम्मेदारी को सर्वव्यापी भावना के प्रति सबमें जो उदासीनता दिखाई पड़ती है, उसके लिए कम-अधिक मात्रा में हममें से हर एक दोषी है।

समयानुकूल पुनर्रचना का दायित्व

समाज में अनेक आवश्यक एवं अनुचित परंपराएं चलती चली आ रही हैं। उनके स्थान पर समयानुकूल एवं उपयोगी परंपराओं का निर्माण कर सामाजिक पुनर्रचना करने का दायित्व उन सबका है, जो इन बातों को समझते हैं—इस कार्य को करने की क्षमता रखते हैं। समाज का बुद्धिजीवी जिनमें अभिनेता वर्ग भी शामिल है तथा उद्योगपति वर्ग इन कामों को करने की अपने में क्षमता रखता है। इनमें से अनेक लोग संसार के विभिन्न देशों में जाते रहते हैं। उन देशों के जनजीवन को निकट से देखने का उन्हें अवसर प्राप्त होता है। अनेक उद्योगपतियों ने तो विभिन्न देशों में अपने उद्योग भी खड़े किए हैं। वे विकसित देशों की समृद्धि का गुणगान करते हैं। बुद्धिजीवी वर्ग देशव्यापी हैं। इस वर्ग में अध्यापक, वकील, डॉक्टर, लेखक, कवि, कथाकार, अभिनेता, पत्रकार एवं सरकारी, अर्धसरकारी तथा गैर-सरकारी सुशिक्षित कर्मचारी भी आते हैं। ये लोग इन बातों को केवल समझते ही नहीं, वे पुनर्रचना की आवश्यकता भी अनुभव करते हैं। उस पर आपस में चर्चा करते रहते हैं, किंतु इस कार्य को प्रत्यक्ष रूप से करनेवाला उनमें से शायद ही कोई दिखाई पड़ता है। बुद्धिजीवी एवं उद्योगपति वर्ग केवल अपने जीवकोपार्जन में ही व्यस्त है। स्वयं को अधिकाधिक समृद्ध बनाने में ही वह सदा सर्वदा व्यस्त रहता है। मानो जीवन में धन कमाने के अतिरिक्त अन्य कार्य मानव जीवन में स्थान ही नहीं रखता। इसका परिणाम नूतन पीढ़ी पर स्पष्ट दिखाई पड़ता है। उनका रहन-सहन, कपड़े-लत्ते तथा बोलचाल एकदम आधुनिकतम है। किंतु सामाजिक परंपराओं की दृष्टि से हमारी नई पीढ़ी सोलहवीं सदी में विचरण करती दिखाई पड़ती है। अन्यथा छुआछूत, ऊंच-नीच की भावना, जातिद्वेष, मजहबी तनाव, क्षेत्रीय प्रवृत्ति, भाषा दुरभिमान या दहेज आदि की असामयिक बातें इतिहास के पन्नों में ही पढ़ने को मिलतीं।

सत्तारूढ़ दल तथा विरोधी दलों के नेताओं को एवं बुद्धिजीवी और उद्योगपति वर्गों को

सार्वजनिक रूप से स्वीकार करना चाहिए कि देश की वर्तमान दुर्दशा के लिए सभी समान रूप से दोषी हैं, किंतु भविष्य के लिए हम सचेत होकर राष्ट्र के नवनिर्माण में पूरे मनोयोग से जुटेंगे। उसमें दलगत भावना एवं स्वार्थ का अंशमात्र भी नहीं रहेगा। हम अपने प्रत्यक्ष उदाहरण से आम लोगों के—विशेषतः युवाओं के सम्मुख ऐसा आदर्श प्रस्तुत करेंगे, जिससे उन्हें अपने परिवार का काम करते हुए राष्ट्र नवनिर्माण एवं सामाजिक पुनर्रचना के कार्य में संलग्न होने की प्रेरणा मिल सके।

□

ग्राम स्वराज्य
लक्ष्य की अवहेलना

अंग्रेजों की हुकूमत को हटाकर अपनी मातृभूमि की स्वतंत्रता पाने के लिए एक अनोखा माध्यम अपनाया गया था। सत्याग्रह का माध्यम—सविनय अवज्ञा आंदोलन का माध्यम। अंग्रेजों के विश्वव्यापी प्रबल साम्राज्य के खिलाफ शास्त्रों से लड़ना संभव नहीं, इस भावना से गांधीजी ने यह माध्यम अपनाया था, यह कहना गलत होगा। अन्य नेताओं की यह धारणा रही होगी। किंतु महात्मा गांधी सत्य एवं अहिंसा के प्रामाणिक पुजारी थे। वे मानव मात्र को ससम्मान जीने के लिए नई दिशा देना चाहते थे। अतः स्वराज्य प्राप्ति के लिए भी उन्होंने पूरे विश्वास के साथ यह मार्ग अपनाया था। वे अंतिम क्षण तक उसी मार्ग पर डटे रहे और उसी मार्ग पर बलिदान हुए। अतः स्वराज्य प्राप्ति का, पारतंत्र्य से मुक्ति का साधन बना—सत्याग्रह—सविनय अवज्ञा का देशव्यापी जनांदोलन। उस काल में देश का नेतृत्व उन्हीं आंदोलनों में से उभरता गया। जगह-जगह पर कानून तोड़-तोड़कर इन नेताओं ने स्वराज्य प्राप्ति के संघर्ष में आम जनता को विशेषतः देश की तरुणाई को सहभागी बनाया।

इसी साधन से स्थानीय स्तर से लेकर राष्ट्रीय स्तर तक के नेतृत्व का विकास हुआ था। सविनय अवज्ञा आंदोलन की पावन गंगा निस्स्वार्थ, सहनशील एवं बलिदानी देशभक्तों के निर्माण का कार्य कर रही थी। इतना विशाल समाज, अनेकानेक जातियां, विभिन्न संप्रदाय, पचीसों भाषाएं और सैकड़ों रीति-रिवाजों के होते हुए उस काल के नेतृत्व में किसी प्रकार की संकुचितता की गंध तक नहीं थी। फलस्वरूप आजादी की प्राप्ति तक वह नेतृत्व जनप्रिय, प्रभावी तथा सर्वमान्य बना रहा। स्वराज्य प्राप्ति तक नेतृत्व निर्माण का उपर्युक्त माध्यम उचित एवं उपयोगी था। उस काल में नेतृत्व का एकमेव कार्य था संघर्षरत रहना तथा उस संघर्ष में सहभागी बनने के लिए आम जनता को प्रेरित एवं प्रोत्साहित करना।

इस कार्य के लिए नेतृत्व में आवश्यकता थी देशभक्ति की, साहस की, त्याग की एवं जनता को संघर्ष के लिए प्रेरित कर पाने के गुणों की। नेताओं के हृदय में स्थित प्रखर देशभक्ति की भावना उनकी वाणी में ओज भर देती थी। उसके पीछे उनके जीवन की कठोर तपस्या काम कर रही थी। इन सब गुणों का जनमानस पर गहरा परिणाम हुआ करता था। फलस्वरूप आजादी

का आंदोलन व्यापक और प्रभावी बनता गया। स्वराज्य प्राप्ति तक राष्ट्र जीवन के अन्यान्य पहलू साधारणतः गौण बने रहे। यह स्वाभाविक भी था।

नेतृत्व आंदोलनात्मक न रहे

गांधीजी ने अपनी दूरदृष्टि एवं व्यावहारिकता के कारण इस बात की खबरदारी बरती कि देश का नेतृत्व केवल आंदोलनात्मक न बना रहे। उन्होंने स्वातंत्र्य प्राप्ति के संघर्ष काल में भी राष्ट्रीय नवनिर्माण एवं सामाजिक पुनर्रचना के अनेक प्रयोग चला रखे थे। गांधीजी ने नेताओं के लिए भी अनिवार्य कर दिया था कि वे प्रतिदिन कम-से-कम एक विशिष्ट मात्रा में सूत कातने का काम किया करें। वे जानते थे कि यह आंदोलनात्मक प्रवृत्ति बेलगाम रखी गई तो भारत के भविष्य निर्माण में बाधक बन सकती है। संभवतः इसी अनुभूति में से अपनी हत्या के एक दिन पूर्व ही अर्थात् 29 जनवरी को गांधीजी ने कांग्रेस के संविधान में सुधार करने के लिए एक मसविदा तैयार किया था। उनके हाथ से लिखा वह मसविदा आज भी मौजूद है। उसमें स्वतंत्र भारत में काम करने की उनकी दृष्टि स्पष्ट प्रकट होती है। उन्होंने लिखा था—''कांग्रेस ने देश को स्वाधीनता दिलाकर बहुत बड़ा काम किया है, किंतु उसे अभी बड़े-बड़े काम करने हैं। देश को राजकीय स्वतंत्रता मिली है, किंतु अभी जनता और खासकर गांवों की आर्थिक, सामाजिक तथा नैतिक स्वतंत्रता प्राप्त करनी बाकी है। भारत लोकतंत्र की दिशा में जैसे-जैसे आगे बढ़ता जाएगा, वैसे-वैसे नागरिक-शक्ति और सैनिक-शक्ति के बीच संघर्ष खड़ा होने की संभावना है। इसलिए सैनिक-शक्ति नागरिक-शक्ति के निर्माण में रहे, ऐसी समाज रचना हमें खड़ी करनी है।'' इसी काम के लिए उन्होंने कहा था—''इसके लिए आज की कांग्रेस को तोड़कर लोकसेवक संघ नाम का संगठन खड़ा करना चाहिए।''

मेरा अनुमान है कि उनके सैनिक-शक्ति शब्द के प्रयोग के पीछे मंतव्य रहा होगा शासन-शक्ति का। जो भी हो, उससे विशेष अंतर नहीं आता। प्रमुख हेतु लोक-शक्ति के निर्माण का ही था, जो शासन या सैनिक-शक्ति को नियंत्रण में रख सके। स्वतंत्र भारत के भविष्य के लिए उनका यह इशारा स्पष्ट था। उन्होंने अपने जीवन के अंतिम दिनों में कहा था—''मेरे काम की सही शुरुआत तो अब हो रही है और अपना ध्येय पूरा करने के लिए मैं सवा सौ वर्ष जीना चाहता हूं।'' इससे उनका उस आयु में भी आत्मविश्वास एवं पुरुषार्थ करने की प्रबल इच्छाशक्ति कितनी असामान्य थी, यह प्रकट होता है। उनकी दूरदृष्टि हमें सतर्क रखने के लिए अंतिम क्षण तक कार्यरत रही। किंतु हमने क्या किया?

ग्राम स्वराज्य भुला दिया गया

श्रद्धेय जे.पी. ने 'मेरी विचार यात्रा' में लिखा है—''स्वाधीनता आंदोलन के दरमियान हमने जिन भावनाओं और आदर्शों की कल्पना की थी, संविधान को उनकी हवा तक का स्पर्श नहीं हुआ। इसका एक उदाहरण दूं—संविधान का संपूर्ण मसविदा तैयार हो गया था। तब किसी ने—

श्री संथानम या श्री टी. प्रकाशम ने—ध्यान खींचा कि गांधीजी ने ग्राम स्वराज्य की कल्पना को स्वराज्य के ढांचे की बुनियाद माना था, किंतु हमारे संविधान में तो उसका जिक्र तक नहीं दिखता। हमारा संविधान तो उससे सर्वथा विपरीत बन गया है। उन्होंने संविधान सभा के अध्यक्ष डॉक्टर राजेंद्र प्रसाद से यह बात कही। डॉक्टर राजेंद्र प्रसाद को धक्का लगा। उन्होंने तुरंत संविधान सभा के कानून निष्णात डॉ. राव को बुलवाया और उनके सामने यह बात रखी। डॉ. राव ने कहा कि अब यदि हम ग्राम स्वराज्य को बुनियाद बनाकर यह संविधान सुधारने बैठेंगे तो उसका सारा रूप ही बदल जाएगा। चुनाव की पद्धति भी बदलनी पड़ेगी। बहुत समय लग जाएगा। नेहरू और सरदार के कानों तक यह बात पहुंचाई गई। उन्हें भी लगा कि अब संविधान सुधारने में बहुत समय लग जाएगा। इस संबंध में कुछ आवेशपूर्ण चर्चाएं भी हुईं, किंतु इन सबसे अंत में मात्र इतना ही निष्कर्ष निकला कि संविधान में एक धारा बढ़ी, जिसमें राज्यों को यह निर्देश दिया गया कि संविधान के मूल मार्गदर्शक सिद्धांतों को ध्यान में रखकर ग्राम पंचायत को स्वशासन की इकाई माना जाए।''

राष्ट्रीय क्रांति के केंद्र-रूप गांधीजी के इस राजनीतिक विचार को हमारे संविधान में मात्र इतना ही स्थान मिल सका। मैं मानता हूं कि उलटी दिशा में जाने की यह पहली महत्त्वपूर्ण शुरुआत थी। वर्षों बाद 1959 में पंचायती रात का कार्यक्रम लागू किया गया, किंतु उनके पीछे प्रेरणा गांधीजी की विचारधारा के अनुकरण की नहीं, बल्कि सामुदायिक विकास योजना के लिए ग्रामस्तर पर एक सरकारी ढांचा खड़ा करने की थी, इसीलिए आज पंचायत स्थानीय स्वशासन को इकाई बनने के बदले राज्य सरकार की इकाई बनकर रह गई। यह सारा इतिहास मैंने यह बताने के लिए दुहराया कि किस तरह शुरू से ही हमने ग्राम स्वराज्य की बात भुला दी और अभी तक उससे दूर ही दूर हैं।

सामुदायिक विकास का काम शुरू किया गया तब उसके पीछे प्रेरणा गांधीजी के आजीवन रचनात्मक कार्य की नहीं, पश्चिम की दिशा थी। इस योजना को अमल में लाने का काम भी ग्राम सेवा में अपना जीवन अर्पित किए हुए निष्ठावान कार्यकर्ताओं को नहीं, बल्कि सर्वज्ञ और सर्वव्यापी नौकरशाही को सौंपा गया। श्रद्धेय स्व. जे.पी. की विचार यात्रा में से उपर्युक्त उद्धरण इसीलिए दिए गए कि स्वातंत्र्य प्राप्ति के बाद हमारे नेताओं की मनोदशा एवं उनके काम की दिशा क्या थी, यह अधिक स्पष्ट हो सकें।

स्वातंत्र्य प्राप्ति के बाद पूरी परिस्थिति बदल चुकी थी। स्वराज्य प्राप्त हो गया था। सदियों बाद भारत स्वतंत्र हुआ था। अपना समाज पुरातनतम है। पारतंत्र्य के काल में उसको समयानुकूल पुनर्रचना करने का अवकाश ही नहीं था। अब उसकी समयानुकूल पुनर्रचना करनी थी। अंग्रेजों के काल में अपना आर्थिक ढांचा बिगाड़ दिया गया था। उसे भी नवयुग के संदर्भ में पुनर्गठित करना था। संक्षेप में, राष्ट्र का नवनिर्माण का स्वतंत्र भारत के नेताओं पर नया दायित्व आ पड़ा था। यह संपूर्ण कार्य केवल अंग्रेजों के काल में उनकी आवश्यकता पूर्ण करने के लिए निर्मित एवं प्रशिक्षित नौकरशाही के भरोसे नहीं किया जा सकता था। जिस प्रकार स्वराज्य प्राप्ति के महान् संघर्ष में आम जनता का और विशेषतः देश की युवा-शक्ति

का सहकार लिया गया था, इस नवनिर्माण के अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य में—जिसमें सामाजिक पुनर्रचना का भी कार्य था—समाज के सहकार की अधिक आवश्यकता थी। इस नए दायित्व को सफलता के साथ निभा पाने के लिए नए दृष्टिकोण और नए तरीकों से काम करना जरूरी था। इसी कार्य के लिए उपयुक्त नया नेतृत्व समाज के हर स्तर पर विकसित करना समय की मांग थी, किंतु हमारा तत्कालीन नेतृत्व इस दृष्टि से उदासीन रहा। संसार के विभिन्न देशों ने स्वराज्य पाने के बाद किस प्रकार अपने को विकसित किया, इस पर ध्यान नहीं दिया गया, अपितु उनके विकसित रूप को देखकर उनकी नकल करने में जुट गए। परिणामस्वरूप आजादी के 33 सालों में आवश्यक उपलब्धि न हो सकी।

□

आंदोलन की राजनीति सामयिक नहीं

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद देश की परिस्थिति में पूर्ण रूप से परिवर्तन हुआ था। पराई शक्ति से संघर्ष का काल बीत चुका था। स्वाभाविक रूप से देश के नेतृत्व पर सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक पुनर्रचना का दायित्व आया हुआ था। स्वराज्य प्राप्ति के संघर्ष से इस नूतन दायित्व को निभाना अधिक कठिन था। इसके लिए कल्पकता, प्रतिभा, परिश्रम एवं हर एक नागरिक का सक्रिय सहयोग पाना परमावश्यक था। स्वातंत्र्य संघर्ष के काल में अपनाए गए आंदोलनात्मक तरीकों के स्थान पर सामूहिक अभियानों को अपनाने की आवश्यकता थी। नकारात्मक भावना के स्थान पर सकारात्मक वृत्ति को अपनाना जरूरी था। नवनिर्माण के लिए उपयुक्त नेतृत्व के विकास पर बल देना समय की आवश्यकता थी। इस कार्य के लिए गांव-गांव और गली-गली में सहयोग का वातावरण निर्माण करने के काम को प्राथमिकता देनी थी। बदली परिस्थिति में देशभक्ति के कार्यों की रूपरेखा हर नागरिक के सम्मुख स्पष्ट रूप में रखना नेतृत्व का दायित्व था। इसके लिए राष्ट्रीय स्तर पर सहयोग का आदर्श रूप एवं वातावरण खड़ा करने की आवश्यकता थी। विकसित देशों की नकल करने के स्थान पर अपने इतिहास से सीख लेना अधिक महत्त्व का था। अपने समाज की प्रकृति, प्रवृत्ति एवं आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर कार्यों की रचना करनी थी। देश की हर इकाई को स्वावलंबी एवं आत्मनिर्भरता की दिशा में गतिमान करने पर बल देना था। आजादी मिल गई। हमारी सरकार बन गई। अब देशसेवा का काम पूर्ण हो गया। इस घातक प्रवृत्ति को निर्मूल करने की ओर ध्यान देना जरूरी था। गुलामी से हमने मुक्ति पाई है। हम स्वतंत्र एवं स्वाधीन हुए हैं। हमें अपने देश को महान्, समाज को समृद्ध एवं संसार के सम्मुख नैतिक मूल्यों का आदर्श प्रस्तुत करना है—यह भावना सामान्य नागरिकों में विशेषतः देश की नई पीढ़ी में जाग्रत् कर दायित्वपूर्ण समाज की रचना करने के लिए सबको सहभागी बनाना नेतृत्व का प्राथमिक कर्तव्य था।

भारत को स्वतंत्र करने के लिए आंदोलन छेड़ने में चतुर-वक्तृत्व कला में निपुण तथा भावना भड़काने में तेज नेतृत्व की आवश्यकता थी, किंतु स्वतंत्र भारत के लिए नेतृत्व चाहिए था निर्माणात्मक प्रतिभा संपन्न (Leadership of creative genius) तथा रचनात्मक प्रवृत्ति (Constructive attitude) वाला। ऐसा नेतृत्व स्थानीय स्तर से लेकर भारतीय स्तर तक विकसित करने की प्रक्रिया प्रारंभ करनी चाहिए थी। स्वतंत्र भारत में हमें विरासत में संसदीय लोकतंत्र

पद्धति प्राप्त हुई थी। हमने स्वयं अपने संविधान में उसी को अपना लिया। उसकी उपयुक्तता या अनुपयुक्तता की चर्चा यहां नहीं करूंगा, किंतु नेतृत्व चाहे सत्तारूढ़ हो, चाहे विरोधी पक्ष का हो— उन पर राष्ट्र के नवनिर्माण का दायित्व समान रूप से था। राष्ट्र के नवनिर्माण का कार्य स्वतंत्र भारत के हर नागरिक का था। ऐसी स्थिति में नेतृत्व इस मामले में साधारण नागरिकों से कम-से-कम दस कदम आगे तो चाहिए था। नवस्वतंत्र भारत के—देश के स्वातंत्र्य संघर्ष के काल के नेतृत्व को चाहिए था कि वह अपने नए दायित्व को समझे तथा स्वयं को तदनुसार बदले। किंतु हुआ क्या? यह समझना आवश्यक है, अन्यथा आजादी के तैंतीस साल बाद भी राष्ट्र नवनिर्माण का मार्ग स्पष्ट न हो सकेगा।

सत्तामोह में फंसा नेतृत्व

देश की आजादी के संघर्ष का नेतृत्व कांग्रेस ने किया था। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद उन्हीं का सत्तारूढ़ होना स्वाभाविक था। उसमें किसी को आपत्ति नहीं हो सकती थी। उस स्थिति में देश में इतना प्रभावी अन्य नेतृत्व होता भी कैसे? किंतु किसी ने भी यह कल्पना नहीं की थी कि गांधीजी के नेतृत्व में विकसित यह नेतृत्व गांधीजी के मार्गदर्शन को ही अमान्य करेगा। स्वातंत्र्य के लिए सर्वस्व लुटा देनेवाला नेतृत्व स्वातंत्र्य प्राप्ति के बाद सत्तामोह से इतना प्रभावित होकर काम करेगा, इसका अनुमान करना भी उस काल में किसी के लिए संभव नहीं था, किंतु जो कुछ हुआ है, वह ताजा इतिहास है—सूर्य के जितना स्पष्ट है।

कांग्रेस ही एकमेव ऐसी राजनीतिक पार्टी थी, जो देशव्यापी थी। उसी ने देश को स्वातंत्र्य प्राप्त करा दिया है, यह भावना संपूर्ण समाज में व्याप्त थी। गांधीजी के हरिजनोद्धार के लिए किए काम की पूंजी भी कांग्रेस के साथ जुड़ी हुई थी। गांधीजी द्वारा निर्मित खादी ग्रामोद्योग का देशव्यापी संगठन कांग्रेस का ही अंग बना हुआ था। देश में हुए हर कार्य का श्रेय कांग्रेस को प्राप्त था। अत: राजनीति के क्षेत्र में कांग्रेस की शक्ति अतुलनीय थी। अन्य दलों की हालत नगण्य सी थी। यही कारण रहा कि 1977 तक लोकसभा में मान्यता प्राप्त करने की क्षमता रखनेवाला एक भी दल उभर न सका। आज भी ऐसा दल अस्तित्व में नहीं है।

फलस्वरूप विरोधी दलों की गतिविधियां नैराश्य से प्रभावित रहीं। उनकी प्रवृत्ति नकारात्मक दिशा में बढ़ती गई। देश के दैनिक-पत्र सत्तारूढ़ पक्ष की खबरों से भरे रहते थे। इस कारण भी विरोधी दलों की गतिविधियों में उग्रता बढ़ी। आंदोलनात्मक एवं कानून तोड़ने के जो तरीके अंग्रेजों को सत्ता से हटाने के लिए काम में लाए गए थे, उन्हीं तरीकों से कांग्रेस को सत्ता से हटाने के प्रयास चल पड़े। चुनाव में विजय के लिए हर पाप जायज माना जाने लगा। विरोधी दलों के सामने से भी भारत के नवनिर्माण का लक्ष्य ओझल हो गया। सत्तारूढ़ दल को राष्ट्रीय दायित्व से भटकने न देने का दायित्व निभाने के स्थान पर विरोधी दल स्वयं भी भटक गए। इस प्रकार सत्तारूढ़ एवं विरोधी दलों का नेतृत्व वर्तमान चिंताजनक स्थिति के लिए समसमान जिम्मेदार है।

अखबार में साधारणत: विरोधी दलों के भाषण, प्रदर्शन या जुलूस के समाचार को स्थान नहीं

मिलता था। कितनी ही महत्त्वपूर्ण बात कही जाए, समाचार-पत्र उसकी उपेक्षा करते रहे। वोट की राजनीति में प्रेस और पब्लिसिटी का बहुत महत्त्व है। अतः प्रसिद्धि पाने के लिए विधानमंडलों और संसद् में भी देश के तथाकथित नेताओं ने कैसे-कैसे दृश्य उपस्थित किए, इसका उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार विरोधी दलों ने ऐसी दिशा अपना ली, जिससे वे अपनी न्यूज-वेल्यू बढ़ा सकें—चाहे देश का नुकसान हो।

प्रदर्शन पर जब तक आंसू गैस, लाठीचार्ज या गोलीवर्षा नहीं होती तो अखबार के प्रथम पृष्ठ पर खबर नहीं छपती, न फोटो ही प्रकाशित होता है। अतः प्रदर्शनों में इस बात का भी प्रबंध किया जाता रहा कि पुलिस को उत्तेजित होना पड़े। इसके लिए युवकों की ऐसी टोली साथ में रखी जाती है कि वह मौका देखकर पुलिस को पत्थरों से घायल कर दे। ऐसी हालत में आंसू गैस, लाठीचार्ज या गोली चलाना अनिवार्य हो जाए, इसी से वांछित प्रसिद्धि मिलती गई। यहां तक देश की राजनीति का पतन हुआ तथा नेताओं ने राष्ट्रीय पुनर्निर्माण का लक्ष्य नजर से ओझल कर अराजकता को बढ़ावा दिया।

वर्तमान परिस्थिति के लिए सत्तारूढ़ दल भी कम जिम्मेदार नहीं है। उसने भी स्वतंत्र भारत की आवश्यकताओं को नजरअंदाज कर हर हालत में सत्ता पर बने रहने के लिए हर पाप जायज माना। विरोधी दलों के नेतृत्व को प्रारंभ से ही तुच्छ समझा गया। स्वातंत्र्य प्राप्ति का स्वयं को ठेकेदार के रूप में प्रस्तुत किया। राष्ट्रीय नवनिर्माण में हर एक नागरिक समान महत्त्व रखता है, इस भावना को पनपने नहीं दिया। स्वयं में सबकुछ करने की क्षमता है, उसी घमंड में काम करते रहे। इसी धारणा के कारण जनसहयोग की पूर्णतः अवहेलना की गई और स्वयं को केवल नौकरशाही पर निर्भर बना लिया। उसी का नतीजा है भारत की वर्तमान दुर्दशा।

स्वतंत्र भारत में भी राजनीतिक नेतृत्व के विकास का माध्यम बना हुआ है आंदोलन, प्रदर्शन और प्रसिद्धि। उसी में जुड़ गया है गठजोड़ का सत्तापिपासु तरीका। इस माध्यम में से उभरनेवाले नेतृत्व में न निर्माणकारी प्रतिभा संभव हो सकती है न रचनात्मक प्रवृत्ति—जो राष्ट्र के नवनिर्माण की प्राथमिक आवश्यकता है।

नवनिर्माण का वातावरण पनपे

परिणामस्वरूप देश में नवनिर्माण का वातावरण आज तक पनप न सका। हर एक का लक्ष्य सत्ता होने के कारण राजनीति संदेह के रोग से पीड़ित रही। हर एक नेता स्वयं सत्तापिपासु होने के कारण सशंकित है। ऐसी स्थिति में सहयोग का स्वस्थ वातावरण कैसे पनपता? जिस प्रकार विदेश नीति के संचालन में अपने देश के लिए संसार का कोई देश न स्थायी दुश्मन माना जा सकता है, न स्थायी मित्र। वही नीति अपने देश की राजनीति में प्रचलित है। सहयोग एवं विरोध का आधार सिद्धांत, नीति या कार्यक्रम नहीं है। सत्ता पाने के लिए या सत्ता में सहभागी बनने के लिए देश के राजनीतिक नेतागण किसी का भी सहारा ले सकते हैं। या किसी को भी सहयोग दे सकते हैं। कारण, जीवन में आदर्शवाद का नहीं, अवसरवाद का ही एकमेव प्रभाव है। इसी का

परिणाम है कि देश में ऐसा राजनीतिक दल दिखाई नहीं देता, जिसमें एकता, अभिन्नता एवं आत्मीयता का सुखद वातावरण हो। जहां दलों एवं नेताओं की यह दुर्दशा है, वहां ऐसा नेतृत्व देश को अच्छा शासन कैसे दे सकता है?

यही कारण है कि विभिन्न दलों के घोषणा-पत्रों में जनहित की समान घोषणाएं होते हुए भी जनहित में काम नहीं हो पाता। कारण उन घोषणाओं के पीछे प्रामाणिकता का अभाव है। वोट प्राप्ति की अपेक्षा में धारण किए हुए वे मुखौटे मात्र हैं। जनजीवन, विद्यालयों या उत्पादन केंद्रों में जो विध्वंसात्मक प्रवृत्ति का प्रभाव दिखाई पड़ता है, वह राजनीतिक गतिविधियों का प्रतिबिंब मात्र है। गत तैंतीस वर्षों में न विश्वविद्यालय देश के लिए रचनात्मक नेतृत्व निर्माण के केंद्र बन सके, न उत्पादन केंद्र राष्ट्रीय संपत्ति के निर्माण के नमूने सिद्ध हो सके।

राजनीतिक सत्ता हस्तगत होने तक कम्युनिस्ट पार्टियां ट्रेड यूनियनों द्वारा उत्पादन में बाधा उपस्थित कर अभाव निर्माण करना, असंतोष बढ़ाना तथा अराजकता की स्थिति पैदा करना आवश्यक समझते हैं। उसके बिना मजदूरों की तानाशाही प्रस्थापित करना वे संभव नहीं मानते। उसी लोक पर हमारे देश में लोकतंत्र की दुहाई देनेवाले गैर-कम्युनिस्ट ट्रेड यूनियन लीडर्स भी अपनी गाड़ी चला रहे हैं।

ऐसी हालत में नेतृत्व शासनारूढ़ हो या विरोधी पक्ष का हो, देश में निहित स्वार्थ को निर्मूल कर मालिक और मजदूर एक ही समाज के समान अंग हैं, एक ही राष्ट्र के समान नागरिक हैं, राष्ट्र निर्माण के कार्य में दोनों का समान दायित्व है, यह भावना कैसे निर्माण कर सकेगा? राजनीतिक नेताओं की प्रेरणा से ऐसा एक भी आदर्श उद्योग विकसित नहीं हो पाया, जिसमें मालिक और मजदूर भावना के स्थान पर वे समान ध्येय से प्रेरित हों, एकता, अभिन्नता एवं आत्मीयता के साथ उत्पादन की कीर्तिमान प्रस्थापित कर सके हों। न ऐसा शिक्षा केंद्र ही विकसित हो पाया है, जहां आदर्श नागरिकों के निर्माण की संभावना हो। इन सब बातों के अनुभवों से यह स्पष्ट होता है कि हमें अपनी राजनीतिक पद्धति या गत तैंतीस सालों में विकसित हुई राजनीतिक संस्कृति को बदलने की जरूरत है, अन्यथा देश जिस गति के साथ अराजकता की ओर बढ़ रहा है, उसे रोकना असंभव हो जाएगा।

□

सामाजिक एकता तुष्टीकरण से संभव नहीं

भारत एक देश है और उसमें रहनेवाला है एक समाज। संसार का यह पुरातनतम समाज है। इस समाज में विभिन्न देवी-देवताओं को माननेवाले तथा अनेक प्रकार की पूजा विधियों को अपनानेवाले लोगों की अनंतकालीन परंपराएं हैं। इसमें खान-पान और रीति-रिवाजों की विविधता नई नहीं है। आस्तिकों की बहुतायात होते हुए नास्तिकों की परंपरा भी पुरानी है। भाषाओं की अनेकता है और बोलियों की तो गिनती ही नहीं। मानव जाति में एक शक्ल के दो व्यक्ति पाना कठिन है, ऐसे में सब व्यक्तियों की रुचियां एवं वृत्तियां समान कैसे हो सकती हैं? इन विभिन्नताओं के बावजूद एक समाज के रूप में सामंजस्य के साथ रहना भारत की अपनी विशेषता है। इस देश में जातियों, मजहबों, बोलियों या रिवाजों को लेकर कभी रक्तपात नहीं हुआ। संघर्ष हुए, वे केवल सत्ता के लिए हुए।

व्यक्तियों में विभिन्न विषयों को लेकर रुचियों की भिन्नता होते हुए भी समाज की एकता अनिवार्य है, इस तथ्य को भारत ने अति प्राचीन काल में ही अनुभव किया हुआ था। सामाजिक एकता में ही मानव का विकास संभव है। अकेले में वह जी नहीं सकता। मानव हमेशा से ही समूह में रहता आया है। कुटुंब व्यवस्था अस्तित्व में आने पर भी केवल एक कुटुंब की आबादी देखने को नहीं मिलती। छोटे-से-छोटा ग्राम भी अनेक कुटुंबों का समूह होता है। कारण, सामाजिकता मानव की मूल प्रकृति है। इस प्रकृति के अनुकूल व्यवहार ही मानवता या मानव संस्कृति है।

सभी नागरिकों का यह स्वाभाविक एवं प्राथमिक दायित्व है कि वे अपने समाज की एकता के लिए घातक कदम किसी भी स्थिति में न उठाएं। स्वयं पर अंकुश लगाकर अपने समाज की एकता बनाए रखना और उसे दृढ़तर एवं सुखद बनाते जाना हर छोटे-बड़े व्यक्ति का आद्यकर्तव्य है। इसके विपरीत सोचना, बोलना, लिखना या कदम उठाना नैतिक अपराध है। यह भावना समाज में प्रखर एवं सर्वव्यापी बनाना सभ्य समाज जीवन की आवश्यकता है। इसके लिए समाज के घटकों में स्वैच्छिक अनुकूलता सतत जाग्रत् रखना नेतृत्व का दायित्व है।

सहिष्णुता की भावना समाज धारणा का आधार है। भारतभूमि की विशेषता है कि इसकी माटी में विकसित संस्कृति में प्रारंभिक काल से ही सहिष्णुता के साथ-साथ वसुधैव कुटुंब की आकांक्षा विद्यमान रही है। इसी कारण भारत और भारतीय समाज अनंत काल से, बीच-बीच में

पराधीनता के थपेड़े सहते हुए भी, अपनी सामाजिक एवं भौगोलिक अखंडता 1947 तक बनाए रख सका। भूतकाल में अलग-अलग प्रदेशों में परस्पर अप्रतिबद्ध राज्यों के होते हुए भी भारत की भौगोलिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक अखंडता पर कभी आंच नहीं आई थी। राजनीतिक सत्ता संघर्ष इस अखंडता को कभी खंडित न कर सके थे। 1947 में भी मजहबी सत्तानीति के कारण देश का विभाजन टल गया होता, यदि तत्कालीन नेतृत्व गांधीजी की भावनाओं की अवहेलना कर सत्ता प्राप्ति की जल्दबाजी न करता। उस समय विश्व में स्थिति ही ऐसी बनी थी कि अपने देश की स्वतंत्रता को दुनिया की कोई शक्ति रोक नहीं सकती थी।

फूट की ब्रिटिश नीति

1857 में ही अंग्रेजों ने इस बात की अपने मन में गांठ बांध ली थी कि भारतीय समाज में फूट डाले बिना भारत में अपनी हुकूमत कायम नहीं रह सकती। इसी नीति के सहारे वे यहां 1947 तक जमे रह सके। उन्होंने अनेक प्रकार से अपने समाज में फूट डालने के प्रयास किए। उनमें सबसे अधिक बल दिया गया—हिंदू-मुसलमानों में रक्तपात की भावना भड़काने पर। इसके लिए उन्होंने सत्ता को मजहबी आवरण में लपेटकर ही अपना उल्लू सीधा किया था। केवल मजहब संघर्ष का कारण नहीं बना। हमारे नेतृत्व की असावधानी के कारण ही अंग्रेज और मुस्लिम लीग सफल हुई, यह सर्वविदित है।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद इस पृष्ठभूमि को ध्यान में रखकर व्यवहार की दिशा एवं रूप निश्चित किया जाना चाहिए था। समाज के सभी स्तर के एवं सभी विचारधाराओं के प्रमुखों का सभी स्तरों पर सहयोग लेना जरूरी था। हमने स्वराज्य प्राप्त किया है—हम सर्वक्षमता संपन्न हैं—इस घमंड को प्रश्रय देना नेतृत्व की गरिमा के एवं परिस्थिति की आवश्यकता के प्रतिकूल था। स्वराज्य सबके लिए प्राप्त किया गया था, केवल कुछ लोगों को सत्तारूढ़ होने के लिए नहीं। सबके प्रति उदारता, सहिष्णुता, सहयोग एवं आत्मीयता का व्यवहार नेतृत्व से अपेक्षित था। उसमें नेतृत्व विफल रहा। स्वतंत्र भारत के प्रथम केंद्रीय मंत्रिमंडल के गठन के समय गांधीजी के आग्रह के कारण इस दिशा में एकाध कदम अवश्य उठाया गया था, किंतु उसमें सत्तासीन नेताओं की स्वयं प्रेरणा न होने के कारण वह दिशा प्रारंभ में ही अवरुद्ध हो गई।

स्वशासन को सुशासन के रूप में विकसित करने के लिए सभी नागरिकों में सामान्य ध्येय एवं सामाजिक एकता पर सर्वाधिक बल देना जरूरी था। वह एकता न किसी एक वर्ग के तुष्टीकरण से संभव थी, न सम्मेलनों, वक्तव्यों, भाषणों, तर्कों या लेखों से प्राप्त हो सकती थी। उसके लिए आवश्यक था नवीन परिस्थिति में स्वतंत्रता की अवस्था में संपूर्ण समाज को उसके निश्चित ध्येय से परिचित करना—उस लक्ष्यसिद्धि हेतु सर्वसाधारण नागरिकों के लिए सुगम्य मार्ग प्रशस्त करना—उस मार्ग पर छोटे-बड़े सब लोगों के चलने का देशव्यापी वातावरण खड़ा करना। इन अति महत्त्वपूर्ण कामों की पूर्णरूप से उपेक्षा की गई। जिन नेताओं ने इन प्राथमिक बातों की अवहेलना की, उस वृद्ध नेतृत्व से भारत के भविष्य निर्माण की अपेक्षा करना केवल समय नष्ट करना मात्र है।

आज आवश्यकता है देश की युवा-शक्ति को जगाने और युगधर्म को प्रज्वलित करने की, गत तैंतीस साल में बनी गलत लीक से हटकर नई राह बनाने की। इसके लिए उत्सुकता, तत्परता, साहस एवं आत्मविश्वास नए नेतृत्व में ही संभव होगा। नया खून ही उपदेशात्मकता के स्थान पर कर्तृत्व का मार्ग प्रशस्त कर सकता है। अनुकरण के स्थान पर अनुकरणीय बनने की भावना उसमें जाग्रत् की जा सकती है। कारण, अनुकरणीय नेतृत्व का देश में अभाव है।

हमारा देश बहुत विशाल है। समाज बहुत बड़ा है। क्षेत्रीयताएं-भाषाएं-मजहब-विषमता-छुआछूत-निर्धनता आदि के कारण समाज के विभिन्न वर्गों में ध्येयवाद, एकता एवं सहयोग का वातावरण खड़ा करना असंभव है। यह दलील पुरुषार्थ हीनता की परिचायक है। क्या स्वराज्य प्राप्ति के लिए किए गए संघर्ष के काल में ये सभी समस्याएं विद्यमान नहीं थीं? इन कारणों से देश के किस प्रदेश से स्वराज्य के लिए सामान्य ध्येय से प्रेरित होकर बलिदानी सामने नहीं आए? किस भाषा के लोग संघर्ष से अलिप्त रहे? किस जाति के लोगों ने बलिदान नहीं किया? निर्धनता कहां आड़े आई? छुआछूत के कारण क्या अछूत कहलानेवालों ने सहकार नहीं किया? जब सर्वस्व बलिदान करने के काल में ये समस्याएं रोड़ा नहीं बनीं तो वे सामाजिक एकता एवं राष्ट्र के नवनिर्माण में कैसे बाधक बनतीं? बलिदान का प्रत्यक्ष आदर्श प्रस्तुत करने की क्षमता नेतृत्व ने प्रकट की। उस समय असंख्य बलिदानी हर प्रदेश, हर जाति, हर बोली और हर मजहब से बढ़-बढ़कर सामने आए। ध्येयवाद का एक अनोखा वातावरण देश में फैल गया। बच्चा-बच्चा स्वराज्य के लिए मचल उठा। हर कंठ से आवाज आने लगी—''तकली चला-चला के लेंगे, स्वराज्य लेंगे''।

किंतु स्वराज्य प्राप्ति के बाद सामाजिक एकता एवं राष्ट्र नवनिर्माण का सामान्य ध्येय सम्मुख रखकर कदम बढ़ाने में नेतृत्व स्वयं पिछड़ गया। वोट की अवसरवादी राजनीति ही उनके कार्यकलाप का केंद्र बनी। अतः देश में अवसरवाद के अतिरिक्त क्या पनपता?

एकता के बीज

वर्तमान विफलता के वातावरण में भी समाज में एकता के बीज मौजूद हैं। क्या कुंभ जैसे अनेक मेले अखंड रूप से देश में नहीं लग रहे हैं, क्या ये मेले विशिष्ट भाषा, मजहब या क्षेत्र के हैं? क्या पुरी में आज भी 'जगन्नाथ का भात-न पूछो जात-पांत' का वातावरण अनुभव करने को नहीं मिलता? क्या अनेक उर्सों में इसलाम को न माननेवाले शामिल नहीं होते? क्या बरेली में बीड़ी मियां ने लाखों रुपए लगाकर हिंदू मंदिर नहीं बनवाया? वोट की राजनीति से परे वातावरण में आज भी एकता के जीवित बीज मौजूद हैं। भारत की माटी की विशेषता सहिष्णुता एवं सद्भावना आज भी जीवित है। आवश्यकता है देश में फैलाई गई अवसरवादी राजनीति को दफनाने की, अवसरवादी नेतृत्व के स्थान पर आदर्शवादी नवनेतृत्व प्रतिष्ठित करने की।

सत्ता व्यक्ति को पतन की ओर ले जाती है, यह धारणा बदलनी होगी। इसी देश में सत्ता ने राम को विचलित नहीं किया, न भरत को सत्तामोह ने ग्रस लिया, इसीलिए गांधीजी ने रामराज्य

का आदर्श सामने रखा था। हिंदुस्तान आदर्श राज्य व्यवस्था का आकांक्षी है। भारतीय परंपरा ने राजनीति को कभी तुच्छ नहीं माना। उसे आदर्श रूप में चलाने का मार्ग प्रशस्त किया। अनेक आदर्श राज्य यहां हुए।

सत्तारूढ़ नेतृत्व ने भारत में ही देवत्व प्राप्त किया था। देश भर में इन शासकों के मंदिर प्रस्थापित हुए हैं। उनमें से न राम साधू था, न कृष्ण। उनके जीवन का क्षण-क्षण राजनीति में ही व्यतीत हुआ। उनकी आदर्शवादी राजनीति रही है। उसमें न अवसरवाद की गंध थी, न जातिवाद या संकुचितता की बदबू। उसमें थी विशालता, उदारता, एकात्मता, सहिष्णुता एवं न्यायप्रियता। उन्होंने अन्याय, अनाचार, व्यभिवार, पक्षपात या अधर्म के लिए किसी अवसर पर तथा स्तर पर प्रश्रय नहीं दिया। लोकतंत्र में इन मूल्यों की प्रस्थापना करना ही गांधीजी की आकांक्षा थी। उनकी आकांक्षापूर्ति में ही भारतीय राजनीति की विशेषता प्रकट होती। संसार को भारत से यही अपेक्षा थी। इस दिशा में राजनीति का संचालन किया गया होता तो आज भारत के नवनिर्माण के लिए स्थान-स्थान पर और ग्राम-ग्राम में सत्तामोह युक्त असंख्य भरत प्राप्त होते। आज आवश्यकता है, उसी दिशा को अपनाकर कदम बढ़ाने की।

□

विशाल हृदय के धनी
रामकृष्ण डालमिया

सेठ श्री रामकृष्णजी का शरीर नहीं रहा, किंतु उनका व्यक्तित्व मिट नहीं सकता। वह सदा सर्वदा प्रेरणा प्रदान करता रहेगा। व्यक्ति की महत्ता शरीर में नहीं उसके कर्तृत्व में है। सेठजी का कर्तृत्व अमर है। एक अकिंचन बालक–स्वपराक्रम से लक्ष्मीपति बना। एक अपढ़ व्यक्ति स्वप्रतिभा से विद्वान् बना। भारत के एक कोने चिरावा में जनमा शिशु अपने हृदय की विशालता से विश्वव्यापी बना। एक कृशकाय व्यक्ति स्वाभिमान के कारण अडिग बना। एक उपेक्षित नागरिक दृढ़ निश्चय एवं आत्मविश्वास के कारण विजयी बना। एक करोड़पति–करुणाभाव के कारण दयालु बना। एक सर्वसंपन्न उद्योगपति–अनुभूति के कारण विनम्र बना। एक सर्वाधिकारी मानव संवेदनशीलता के कारण मृदुभाषी बना। इन स्वार्जित सद्गुणों के पुंज का नाम है रामकृष्ण डालमिया—नई पीढ़ी के लिए अखंड प्रेरणा–केंद्र।

मैंने एक सफल उद्योगपति के नाते आपका नाम सुना था। बहुत धनी लोगों के व्यवहार के कारण मेरी धारणा रही कि वे स्वयं को ही सबकुछ माननेवाले अपने अहं में मस्त मानव होंगे, किंतु संयोग ही था कि मुझे एकाएक आपके पास पहुंचने का सुअवसर प्राप्त हुआ और उनसे हुए साक्षात्कार के कारण मेरी धारणा चकनाचूर हो गई।

मैं राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के एक कार्यकर्ता के नाते 1940 में गोरखपुर पहुंचा था। वहां भाईजी हनुमान प्रसाद पोद्दार के संपर्क में आने का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ। उन्होंने उन दिनों मुझे अपने बेटे जैसा ही पाला। देश का विभाजन हुआ। असंख्य मानव विस्थापित बन दयनीय हालत में देश के दोनों ओर बने पाकिस्तान से आ रहे थे। उनकी सहायता के लिए हम लोगों ने हिंदू सहायता समिति बनाई थी। मेरे जिम्मे उस समिति के मंत्री का काम किया गया था। काम असीम था—साधन सीमित थे। समिति ने प्रारंभ में ही कम–से–कम दो जीपों की आवश्यकता अनुभव की। मैं भाईजी के पास पहुंचा। उन्होंने कहा, चिंता न करना। मैं सेठ रामकृष्ण डालमिया से जीपें तुम्हें दिलवा दूंगा। मैं और मेरे साथी समझते रहे कि संभवतः 15–20 दिनों में जीपें आ पाएंगी, किंतु हम सबके आश्चर्य का ठिकाना न रहा। कारण, जीपें तीसरे दिन ही हमें प्राप्त हो

डीआरआई दस्तावेज, 20 फरवरी, 1980

गईं। उसके दाम कितने देने होंगे, यह जानना चाहा। भाईजी ने बताया कि मैंने बहुत आग्रह किया, किंतु भाई रामकृष्ण जी ने दाम लेने से इनकार किया है। यह पहला प्रसंग था कि सेठ रामकृष्णजी के संबंध में मेरी धारणा बदलनी प्रारंभ हुई।

मेरे कार्य का केंद्र गोरखपुर से हटकर लखनऊ हो गया। मैं राष्ट्रधर्म प्रकाशन का प्रबंध संचालक बनाया गया। हम मासिक राष्ट्रधर्म एवं साप्ताहिक 'पाञ्चजन्य' प्रकाशित करते थे। उसी समय संचालन मंडल ने निर्णय किया कि 'स्वदेश' नाम से हिंदी दैनिक भी प्रकाशित किया जाएं मुझे दैनिक-पत्र चलाने का कोई अनुभव नहीं था। मैं सीधे गोरखपुर जाकर भाईजी से मिला। जब तक भाईजी रहे, हर कठिनाई को लेकर मैं उनके पास पहुंचा करता था। वे मेरे लिए यद्यपि पिता तुल्य थे, किंतु व्यवहार में लगता था कि वे अभिन्न सखा हैं, उनके सान्निध्य की मधुरता व्यक्त नहीं की जा सकती। उन्होंने कहा, यह काम तो सहज हो जाएगा। भाई रामकृष्णजी ने हिंदी दैनिक 'नवभारत टाइम्स' चला रखा है। आप दिल्ली जाइए। उन्हीं के साथ ठहरिए। दस-पंद्रह दिन में आप सब समझ लेंगे। मैं जरा अचंभे में पड़ गया। इतने बड़े व्यक्ति के साथ ठहरना मेरे लिए अटपटी सी बात थी। मैनें कहा, ''भाईजी। मैं दिल्ली जाऊंगा, किंतु ठहरने की व्यवस्था तो मैंने अपने किसी साथी के यहां ही कर लूंगा।'' उस भाईजी ने कहा कि यह नहीं होगा। उसमें तुमको बहुत परेशानी होगी। तुम उन्हीं के यहां ठहरो। मैं उन्हें लिख देता हूं।'' मैं कुछ कह नहीं पाया। दिल्ली पहुंचने की तिथि तय कर कुछ कहे बिना लखनऊ पहुंच गया।

पितृ तुल्य व्यवहार

मन में एक अजब सी उलझन थी। उद्योगपतियों से मिलने का मेरे लिए यह एक नया प्रसंग था। विशेषत: उनके यहां ठहरने का। भाईजी की इच्छा मेरे लिए आज्ञा थी। अत: उसमें मैं परिवर्तन नहीं कर सकता था। इस अजब सी मनस्थिति में मैं दिल्ली पहुंचा। जब मैं सेठजी के यहां पहुंचा तो ज्ञात हुआ कि वे मालिश करा रहे हैं। उन्हें मेरे आने की जानकारी हुई। उन्होंने वहां ही मुझे बुला लिया। मेरे आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा, जब उनका पितृतुल्य व्यवहार देखा। यह अनुभूति ही नहीं हुई कि मैं किसी बड़े उद्योगपति या असाधारण पुरुष के यहां पहुंचा हूं।

उन्होंने स्वयं एक दैनिक चलाने के लिए आवश्यक जानकारी मुझे दी, फिर उन्होंने कहा कि यहां 15 दिन रहिए और नवभारत टाइम्स के प्रकाशन की सब विधियां स्वयं जानिए। उन्होंने मेरा रोज का कार्यक्रम बना दिया। नवभारत टाइम्स के दफ्तर से लौटने के बाद जिस दिन वे दिल्ली में होते थे। वे मुझसे स्वयं चर्चा करते और अधूरी जानकारी को वे स्वयं पूर्ण करा देते। लगता था, मानो मुझे दैनिक समाचार-पत्र चलाने के लिए प्रशिक्षित करना उनका व्यक्तिगत दायित्व है। उनकी इस भावना के पीछे भाईजी के साथ जो उनके संबंध थे, कारण हो सकते थे, किंतु हर काम के हर पहलू का ध्यान रखकर उसे संपन्न करने की उनकी स्वाभाविक वृत्ति थी, यह सहज में ही प्रगट होता था। उस समय नवभारत टाइम्स के प्रकाशन में बहुत घाटा होता रहा। इस बात को ध्यान में रखकर उन्होंने मुझसे कहा, ''आप अपना दैनिक चलाते समय ऐसी घाटे की योजना

न बनाए। हम इसे सह सकते हैं। इसी में से हम कुछ काल के उपरांत लाभ भी प्राप्त करने लगेंगे, किंतु आपको तो अपना छह माह में ही दैनिक बंद करना पड़ेगा। अतः उन्होंने बहुत विस्तृत रूप से समझाया कि किस प्रकार धीरे-धीरे दैनिक को बढ़ाने का काम करना चाहिए।

मैं 15 दिन उनके साथ रहा, किंतु मुझे कभी इस बात की उन्होंने अनुभूति होने नहीं दी कि मैं किसी अपरिचित या बहुत धनी और श्रेष्ठ व्यक्ति के यहां रह रहा हूं। महानता, उदारता एवं हर एक के प्रति उनका आत्मीयता का व्यवहार संवेदनशील पिता के अभाव की पूर्ति करनेवाला प्रतीत हुआ। उनकी स्मृति सर्वांगीण व्यक्तित्व की प्रेरणा बनी। उनके प्रति असीम श्रद्धा मेरे हृदय का सहज भाव है।

□

आशा का दीप
लाला श्रीराम

'अनगिनत लोग अपना सबकुछ लेकर आ रहे हैं। कितने ही निरपराध मौत के घाट उतारे गए। सबसे अधिक शर्मनाक बात है कि हमारी हजारों बहू-बेटियों की इज्जत लूटी गई। उसके बावजूद मुझे एक बात पर नाज है कि महाभयानक और असहाय हालत में भी हमारी कई बहादुर बेटियों ने खुदखुशी कर ली, लेकिन जीते जी अपनी इज्जत पर आंच नहीं आने दी। सारे संसार में यह अनोखा पहलू है हमारी परंपरा का। इसी एक भावना के सहारे हम अपना भविष्य बना सकते हैं।'

असीम व्यथा और घोर निराशा में भी आशा भरी राह दिखने की अद्वितीय क्षमता थी स्वर्गीय लाला श्रीरामजी में। देश विभाजन का काल था। हजारों शरणार्थियों के काफिले पाकिस्तान से लगातार चले आ रहे थे। इन विस्थापितों को बसाने की कल्पनातीत समस्या विकराल रूप लिये खड़ी थी। उसके निराकरण के लिए गैर-सरकारी स्तर पर 'हिंदू सहायता समिति' का देश के मूर्धन्य लोगों ने देशव्यापी संगठन खड़ा किया था। गोरखपुर गीता प्रेस से प्रकाशित 'कल्याण' मासिक के सुप्रसिद्ध संपादक श्रद्धेय भाईजी श्री हनुमान प्रसाद पोद्दार उस संगठन के ज्येष्ठतम कार्यकर्ताओं में से थे। मैं भी उन्हीं के साथ इस कार्य में संलग्न था। स्वर्गीय भाईजी के साथ ही लालाजी से मिलने उनकी कोठी पर गया था। उसी समय लालाजी के श्रीमुख से प्रकट हुए थे उपर्युक्त भाव।

अपनी बात को जारी रखते हुए लालाजी ने कहा, ''आप चाहे हिंदू सहायता समिति के नाम से काम करो या मानवीयता की भावना से, व्यक्ति के नाते काम करो। समय ऐसा आ गया है कि हममें से हर नागरिक का धर्म है कि इन शरणार्थी भाई-बहनों को बसाने में जो भी बन पड़े, करें। यह समस्या खाली दर्दनाक ही नहीं है, वह इतनी बड़ी है कि इस काम में सरकारी और गैर-सरकारी दोनों स्तरों पर काम होना निहायत जरूरी है।'' लालाजी ने अपनी बात को जारी रखते हुए कहा था—''इस कत्लेआम में जो बच्चे अपनी मां और बाप को भी खो बैठे हैं, उन्हें ढूंढ़-ढूंढ़कर उनके पालन और पढ़ाई का ठीक से इंतजाम किया जाना चाहिए। हम ये ध्यान रखें कि ये बच्चे भिखारी न बनें।'' यह कहते हुए लालाजी का दिल भर आया था। उन्होंने स्वयं आगे

डीआरआई दस्तावेज, 07 अक्तूबर, 1983

आकर कहा कि ऐसे सौ बच्चों के इंतजाम पर जो भी खर्चा आएगा, उसका भार मैं उठा लूंगा।'' इस योजना को कार्यान्वित करने के लिए सुझाव देते हुए उन्होंने कहा, ''जिन परिवारों के साथ ये अभागे बच्चे यहां पहुंचे हैं, यदि मुमकिन हो तो उन्हीं परिवारों में उनका पालन और पढ़ाई का इंतजाम करना अच्छा रहेगा। ऐसा नहीं हो सकता तो आप ऐसी व्यवस्था करें जिससे ये बच्चे मां-बाप की कमी के कारण अपने भविष्य के बारे में निराश न हों।''

मेरे जीवन में लालाजी के दर्शन का यह प्रथम ही प्रसंग था। उनके मूलगामी सहृदय व्यक्तित्व की मेरे मस्तिष्क पर अमिट छाप पड़ी। हम केवल 47 की संख्या में ही ऐसे बच्चे खोज पाए थे। उनकी पूरी व्यवस्था लालाजी ने की थी।

रचनात्मक चिंतन

इसके बाद लालाजी के दर्शन का सुअवसर मुझे 1951 में मिला। मैं जनसंघ के प्रथम कन्वेन्शन के लिए दिल्ली आया हुआ था। मेरे पास फोन की सुविधा नहीं थी। अतः मिलने का समय निश्चित किए बिना ही मैं कोठी पर पहुंच गया था। लालाजी अपने विशाल बरामदे में दो-तीन सज्जनों से बातचीत कर रहे थे। मेरे नाम की चिट्ठी पाते ही उन्होंने मुझे बुला लिया। खाली कुरसी पर बैठने का इशारा करते हुए उन्होंने पूछा, ''आप कैसे आए हैं?'' मैंने कहा, ''माता-पिता विहीन विस्थापित बच्चों की…'' मेरी बात पूरी होने के पूर्व ही उन्होंने कहा, आप पंद्रह-बीस मिनट रुकें। हम लोगों का काम खत्म होने को ही है। उसके बाद हम लोग आराम से बात करेंगे।

लालाजी के साथ बैठे व्यक्ति धार्मिक वृत्ति के रहे होंगे। किसी मंदिर के बारे में उनकी चर्चा चल रही थी। लालाजी उन्हें समझा रहे थे—''भाई, भगवान् के प्रति मेरी गहरी श्रद्धा है, किंतु मैं समझता हूं कि हमें भगवान् के बच्चों की ओर अधिक ध्यान देना चाहिए। इसे मैं भगवतभक्ति का बेहतर तरीका मानता हूं। आपके यहां लड़कियों का हाई स्कूल नहीं है। यदि आप लड़कियों की पढ़ाई के लिए विद्यालय बनाने का विचार करोगे तो मुझे उसमें अधिक रुचि अनुभव होगी।'' लालाजी के चिंतन की रचनात्मक दिशा कितनी दूरगामी थी। वे दूरदृष्टि एवं व्यावहारिक बुद्धिमत्ता के धनी थे।

जब वे लोग चले गए तब उनके जाने पर लालाजी ने मेरे लिए चाय मंगवाई। अपनी बात प्रारंभ करते हुए उन्होंने कहा, ''आपका समय जाया हुआ।'' जब मैंने कहा कि ''लालाजी, मैं तो बिना समय लिए ही पहुंचा था।'' इस पर लालाजी ने तुरंत कहा कि ''भाई, अपने यहां इसे ही तो अतिथि कहा जाता है।'' लालाजी को माता-पिता विहीन बच्चों के पालन और पढ़ाई की योजना स्मरण थी। उन्होंने पूछा, ''उन बच्चों के क्या हाल हैं?'' एक क्षण का भी समय बिताए बिना लालाजी ने काम की बात प्रारंभ की। मैंने लखनऊ, फैजाबाद, बहराइच, गोरखपुर और बनारस में पढ़ रहे इन बच्चों की प्रगति की जानकारी दी। उस पर उन्होंने कहा कि क्या उनके लिए और भी कुछ करने की जरूरत है? मैंने उन्हें बताया, ''उन बच्चों की अच्छी व्यवस्था हो गई है। वे ठीक से प्रगति कर रहे हैं। उनमें से चार लड़कियों की मैट्रिक तथा इंटर तक पढ़ाई हो गई और

उनकी शादियां भी कर दी गई हैं। वे अपने पति के साथ सानंद हैं।'' यह जानकर लालाजी ने बड़ा संतोष व्यक्त किया। उन्होंने कहा, ''आप यदि उनके पते दें तो मैं उन्हें उपहार भेजूंगा। यह मेरा धर्म है।'' मैं केवल तीन लड़कियों के पते दे पाया था। बाद में मुझे उन लड़कियों से ज्ञात हुआ कि उन्हें दिल्ली से लाला श्रीरामजी ने शुभाशीर्वाद तथा एक-एक साड़ी, मिठाई और सौ-सौ रुपया भेजा है। मैं आश्चर्यचकित रह गया। इतने बड़े व्यक्ति के हृदय में भी इन मामूली लड़कियों के लिए जिन्हें वे प्रत्यक्ष जानते भी नहीं थे—कितनी सहज आत्मीयता है। कितना अद्वितीय व्यक्तित्व था लालाजी का।

इसके बाद 1956 में मुझे लालाजी के दर्शन का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। दिल्ली में जनसंघ का अखिल भारतीय अधिवेशन था। मदर-इंडिया के सुप्रसिद्ध संपादक श्री बाबूराव पटेल मुझसे मिलने आए थे। उन्होंने ही कहा, ''लालाजी आपको याद कर रहे थे। मैं उन्हीं के साथ ठहरा हूं। आप चलें मेरे साथ।'' मैं उनके साथ कोठी पर पहुंचा। लालाजी श्रीमती सुशीला रानी पटेल के साथ बातचीत करते बैठे थे। श्री बाबूराव पटेल ने कहा, ''लालाजी, मैं नानाजी को पकड़ लाया हूं।'' लालाजी ने कहा, ''अरे भाई, आप क्या पकड़ लाओगे इन्हें, ये तो अतिथि बनकर ही आते हैं।''

मैंने जब लालाजी को प्रणाम और सुशीला बहन को नमस्ते किया तो लालाजी ने कहा, ''अरे भाई नानाजी! आप सुशीलाजी को जानते हो? यह मेरी बेटी है।'' जब मैंने कहा, ''लालाजी, आपकी बेटियों की तो गिनती करना ही कठिन है। क्या मैं जान सकता हूं कि सुशीला बहन आपकी किस नंबर की बेटी हैं?'' इस पर लालाजी खूब हंसे और कहने लगे—''अरे भाई, यही तो मेरी असली बेटी है।''

साधारण व्यक्तियों के प्रति भी सहृदयता का कारण संभवतः लालाजी का स्वार्जित प्रारंभिक जीवन रहा है। उन्होंने एक कपड़े की दुकान पर नौकरी से अपना जीवन प्रारंभ किया था। उसके बाद 1909 में वे रायबहादुर बूटा सिंह की फर्म में काम करने लगे। श्री बूटा सिंह ने उनकी लगन, समझ और क्षमता को पहचाना। जब रायबहादुर बूटा सिंह को ज्ञात हुआ कि श्रीरामजी दिल्ली क्लॉथ मिल के सचिव लाला मदन मोहन के परिवार के हैं तो वे आश्चर्यचकित हुए। उन्होंने लाला मदनमोहनजी से कहा कि शायद आप अपने बच्चे की योग्यता को जानते नहीं हैं। वह बहुत ही बुद्धिमान और होनहार जवान है। तब जाकर लाला श्रीरामजी को दिल्ली क्लॉथ मिल का अतिरिक्त सचिव बनाया गया।

लालाजी किसी को केवल धनी होने के कारण ही प्रतिष्ठित नहीं मानते थे। वे कहते थे—''प्रतिष्ठित उसे मानना चाहिए, जो अपने धन का विनियोग उपेक्षितों के उत्थान के लिए करता है।'' उन दिनों भी लालाजी विश्वविद्यालय से प्राप्त डिग्रियों को महत्त्व नहीं देते थे। वे कहा करते थे कि असली डिग्री वह है, जिससे व्यक्ति नौकरी के पीछे पड़ने की बजाय स्वतंत्र व्यवसाय को पसंद करे।

संवेदनशीलता के धनी

शिक्षा क्षेत्र में भी लालाजी के अपने विचार थे। वे कहा करते थे, ''विद्यार्थी का परीक्षा में फेल

होना उसे पढ़ानेवाले अध्यापक की विफलता है, न कि विद्यार्थी की।'' टेक्निकल इंस्टीट्यूट में पढ़ानेवाले अध्यापकों के बारे में उनका कहना था, ''इन अध्यापकों को चाहिए कि छुट्टियों में वे कारखानों में काम किया करें। अन्यथा उन्हें औद्योगिक क्षेत्र में हो रहे नूतन-विकास की न जानकारी हो पाएगी, न अनुभव प्राप्ति होगी। ऐसे अध्यापक अपने विद्यार्थियों को नए से नए आविष्कारों से परिचित कराने में असमर्थ सिद्ध होंगे।'' जिन शिक्षा संस्थाओं से लालाजी का संबंध था, उन संस्थाओं के परीक्षाफल अन्य शिक्षा संस्थाओं से अच्छे होने मात्र से ही लालाजी संतुष्ट नहीं होते थे। वे व्यथित हृदय से कहते थे, ''जो विद्यार्थी पास नहीं हो पाए, उनके जीवन का एक कीमती साल व्यर्थ गया है। दूसरी शिक्षा संस्थाओं से हमारी शिक्षा संस्था अच्छी है, यह मानने से अपने यहां पढ़कर फेल हुए विद्यार्थियों के नुकसान की भरपाई नहीं होती।''

साधारणत: जो व्यक्ति धन और प्रतिष्ठा पा जाता है, उसका साधारण लोगों से संपर्क समाप्त होता है। इस कारण उसके हृदय की संवेदनशीलता भी घटने लगती है, किंतु लालाजी की यह विशेषता थी कि जैसे-जैसे उनकी सफलता, ऐश्वर्य एवं प्रतिष्ठा बढ़ती गई, उनका हृदय अधिकाधिक संवेदनशील बनता गया। यह है, महान् व्यक्तित्व की विशेषता, जिसके धनी थे स्व. लाला श्रीरामजी।

□

सर्वधर्म समभाव

संघ हर मौके पर खरा उतरा है

आखिर, इंदिराजी ने शहीदों की अमर पंक्ति में सम्मिलित होकर सदा सर्वदा के लिए इतिहास में स्थान प्राप्त किया है। इनका सार्वजनिक जीवन साहसी और गतिमान, अद्‍भुत व्यावहारिक सूझबूझ से संपन्न व्यक्तित्व एक दशक से अधिक समय तक भारतीय रंगमंच पर पूरी तरह छाया रहा। गत पंद्रह वर्षों में वे लाखों, करोड़ों अंत:करणों में यह धारणा बैठाने में सफल रहीं कि वे अकेली ही भारतीय यथार्थ को ठीक से समझती हैं, केवल उनके पास ही हमारे जैसे भ्रष्ट एवं दरार पड़े समाज में एक सड़ी-गली राजनीतिक प्रणाली को सफलतापूर्वक चलाने की प्रतिभा है और शायद वे अकेली ही भारत को एकता के सूत्र में बांधे रख सकती हैं। वे जीवन में महान् थीं तो एक वीर-मृत्यु का वरण कर वे मरणोपरांत महानतम सिद्ध हुईं। ऐसे कर्मठ और प्रभावी व्यक्तित्व को अचानक कुछ हत्यारों ने गोलियों से छलनी कर डाला और वे हत्यारे भी ऐसे कि उनमें से एक को, अनेक चेतावनियों के बावजूद, इंदिराजी ने अपना पूरा विश्वास और स्नेह प्रदान किया था और जिसे उन्होंने अपनी दुबली-पतली काया की रक्षा का भार सौंप दिया था। हत्यारों के इस विश्वासघाती कृत्य ने केवल एक महान् नेता की ही नहीं, आदमी पर आदमी के विश्वास की भी हत्या कर दी और यह सब किया गया 'पंथ' के नाम पर।

स्वाभाविक ही, इस कायर एवं विश्वासघाती हत्या के समाचार को सुनकर न केवल वे लाखों-करोड़ों देशवासी, जो इंदिराजी को अपना एकमात्र उद्धारक एवं एक्यबद्ध सशक्त भारत का एकमात्र प्रतीक मानकर उनके प्रति अगाध भक्ति रखते थे, सन्न रह गए। इस अप्रत्याशित घटना ने देश-विदेश में विद्यमान उनके आलोचकों को भी पूरी तरह हिला दिया। उनकी जघन्य हत्या के समाचार फैलने के तुरंत बाद समूचे देश में हिंसा, आगजनी और विध्वंस की ज्वालाएं किस प्रकार एक साथ धधक उठीं, उसे इस आकस्मिक वज्रपात से सन्न, हक्के-बक्के और किंकर्तव्यविमूढ़ विशाल श्रद्धालु वर्ग की इंदिराजी के प्रति स्नेह व भक्ति भावना का विकृत एवं भ्रांत विस्फोट ही कहा जा सकता है। इन भोले-भाले और अनभिज्ञ श्रद्धालुओं की दृष्टि में इंदिराजी की विश्वासघातपूर्ण जघन्य हत्या उस जहरीले अभियान का अनिवार्य और दु:खद परिणाम थी, जो

डीआरआइ दस्तावेज, 8 नवंबर, 1984 (गुरु नानक दिवस)

लगभग तीन–चार वर्षों से पंजाब एवं उसके बाहर भी पृथकतावाद, घृणा और हिंसा का जहर फैला रहा था, जिसने सैकड़ों निर्दोष एवं मूल्यवान प्राणों की बलि ले ली थी और उनके धर्म स्थानों का पावित्र्य भंग कर दिया था। विगत जून मास की सैनिक कार्यवाही के पश्चात् इस अभियान में और भी अधिक तेजी आ गई। अधिकांश देशवासियों की दृष्टि में यह सैनिक कार्यवाही हिंसा को रोकने, देश की अखंडता की रक्षा करने एवं धर्मस्थानों की पवित्रता की पुनर्स्थापना के हित में आवश्यक ही नहीं बल्कि अपरिहार्य हो गई थी; पर दुर्भाग्यवश, देशवासियों के एक छोटे से वर्ग ने इस बहुप्रतीक्षित एवं विलंबित कार्यवाही को सन् 1762 में अहमदशाह अब्दाली द्वारा हरमंदिर के विध्वंस की श्रेणी में रख दिया, जिसे इतिहास में 'बड़े घल्लू घारा' के नाम से स्मरण किया जाता है।

अविश्वास की चौड़ी खाई

इन दोनों घटनाओं के पीछे विद्यमान उद्देश्यों के अंतर को समझे बिना ही, अपने देश के लोकप्रिय प्रधानमंत्री को उन्होंने विदेशी आक्रमणकारी अहमदशाह अब्दाली की श्रेणी में धकेल दिया। इंदिराजी को 'पंथ का शत्रु क्रमांक—एक' कहा जाने लगा, उनके 'सिर' के लिए भारी इनाम घोषित कर दिए गए। इस वर्ग में जहां एक ओर इंदिराजी एवं भारतीय सेना के प्रति जहरीला प्रचार उगला जाने लगा, वहीं दूसरी ओर, जघन्यतम अपराधों की जड़ भिंडरांवाला को, जिसके हिंसक प्रचार के कारण देश त्राहि–त्राहि कर उठा था, जिसने सैनिक कार्यवाही का दुःखद एवं दुर्भाग्यपूर्ण निर्णय लेने के लिए सरकार को विवश किया था, उसी भिंडरांवाला को पंथ के लिए प्राणों की बलि देनेवाले महान् शहीद के उच्च सिंहासन पर बैठा दिया गया।

हर वर्ष निरपराध एवं असावधान देशवासियों की सुनियोजित निर्मम हत्याओं पर अपने ही देशवासियों के एक वर्ग की, कुछ इक्के–दुक्के स्वरों को छोड़ दें तो, लगातार लंबी चुप्पी, किंतु सरकार के द्वारा मजबूरी में देर से की गई सैनिक कार्यवाही के प्रति, जिसकी देश आतुरतापूर्वक मांग एवं प्रतीक्षा कर रहा था, उसी वर्ग द्वारा गुस्से एवं निंदा का समूचे देश और विदेशों में आनन–फानन इजहार, यह रुख देशवासियों की नजरों से कैसे छिपा रह सकता था।

यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि देश और विदेशों में लगभग हर जगह इस प्रकार की परस्पर विरोधी प्रतिक्रियाओं की सार्वजनिक अभिव्यक्ति ने सिख समाज और देशवासियों के बीच अविश्वास और पराएपन की एक चौड़ी भावनात्मक खाई अवश्य निर्माण कर दी थी। अविश्वास और पराएपन की इस भावनात्मक पृष्ठभूमि में प्रधानमंत्री इंदिराजी की उनके ही सिख अंगरक्षकों द्वारा निष्ठुर व जघन्य हत्या—जो स्पष्ट ही सैनिक कार्यवाही की बदला लेने की भावना से की गई, का समाचार वज्र के समान देश पर गिरा। साथ ही हर कस्बे और मुहल्ले में यह अफवाहें एक साथ फैलीं कि वहां सिख बंधुओं ने इस विश्वासघाती कृत्य पर दुःख प्रकट करने के बजाय खुशियां मनाईं, विजय का संतोष प्रकट किया।

उस वज्रपात से सन्न और किंकर्तव्यविमूढ़ अज्ञानी एवं भोले–भाले श्रद्धालुओं ने इन अफवाहों

पर सहज ही विश्वास कर लिया। क्षोभ और उद्वेलन के इन क्षणों में ही आ पहुंचा अमृतसर से ज्ञानी कृपाल सिंह का वह दुर्भाग्यपूर्ण स्पष्टीकरण, जिसमें उन्होंने सार्वजनिक घोषणा की कि अपने पहले वक्तव्य में मैंने इंदिराजी की हत्या पर दु:ख प्रकट किया है—यह समाचार गलत है। अकाल तख्त के मुख्य जत्थेदार के पद पर आसीन ज्ञानी कृपाल सिंह कुछ समय से सिख समाज के एकमात्र प्रवक्ता होने की भूमिका निभा रहे हैं। ऐसे उत्तरदायी व्यक्ति की ओर से आए इस दुर्भाग्यपूर्ण स्पष्टीकरण ने करोड़ों मनों में सुलग रही क्षोभ की चिनगारियों में उत्तेजना का घी झोंक दिया। दु:खी और संतप्त लोगों ने जब यह देखा कि देश के किसी भी कोने से किसी भी जिम्मेदार सिख नेता, बुद्धिजीवी या संस्था की ओर से इस घृणित वक्तव्य की निंदा का स्वर तुरंत और सहज रूप में नहीं उठा, तो उसने स्वाभाविक रूप से यह विश्वास कर लिया होगा कि सिख बंधुओं द्वारा इंदिराजी की जघन्य हत्या पर खुशियां मनाने की यह सब अफवाहें भी शायद सत्य ही होंगी। ऐसी मनोदशा में भोले-भाले जनसमाज के गुस्से को निरपराध सिख बंधुओं के विरुद्ध मोड़ने का मनचाहा अवसर कुछ निहित स्वार्थों को प्रदान कर दिया होगा।

गांधीजी की हत्या और अफवाहें

यह एक बहुत ही नाजुक और खतरनाक घड़ी थी, जिसमें हमारे सिख बंधुओं की सूझबूझ और धैर्य की परीक्षा होनेवाली थी। यह सब मैं कह रहा हूं, क्योंकि जीवन भर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का कार्यकर्ता रहने के कारण मेरी आंखों के सामने आज वह दृश्य चित्रवत् खड़ा हो गया है, जब 30 जनवरी, 1948 को महात्मा गांधीजी की एक हिंदू कट्टरवादी के हाथों हत्या के पश्चात् संघ के असंख्य स्वयंसेवकों को भ्रमित जनसमूहों के हाथों हिंसा, आगजनी और विध्वंस की बिलकुल ऐसी ही लहर को भोगना पड़ा था। महाराष्ट्रियन होते हुए भी हत्यारे का संघ से कोई संबंध नहीं है, बल्कि वह संघ का कटु आलोचक रहा है और संघ का इस जघन्य हत्या से दूर का संबंध नहीं है। इन सब तथ्यों से अवगत होते हुए भी कुछ निहित स्वार्थों ने किस प्रकार योजनापूर्वक यह झूठ फैलाया कि हत्यारा संघ का स्वयंसेवक है, संघ ही गांधीजी की हत्या के लिए उत्तरदायी है और लगभग प्रत्येक घर और मुहल्ले में अफवाहें फैला दीं कि संघ के स्वयंसेवकों ने गांधीजी की हत्या पर खुशियां मनाई हैं, मिठाइयां बांटी हैं। वह सब हमने देखा है, भुगता है। हमारे देखते-देखते इन निहित स्वार्थों ने भ्रम के ऐसे बादल पैदा कर दिए, जो कि गांधीजी के प्रति जनमानस की अगाध श्रद्धा और स्नेह में से उपजे जन-आक्रोश को निर्दोष और शांतिपूर्ण स्वयंसेवकों व उनके परिवारों के विरुद्ध फट पड़े।

भ्रमित जनक्षोभ के ऐसे भयावह ज्वार को स्वयं भोग लेने के पश्चात् यह कहने की आवश्यकता नहीं है। मेरे जैसे संघ के स्वयंसेवक हिंसा, विध्वंस और आगजनी के वर्तमान आकस्मिक विस्फोट की चपेट में फंसे हुए निरपराध सिख बंधुओं की आहत भावनाओं की पीड़ा और क्षोभ को भली-भांति समझ सकते हैं। इन दिनों दिल्ली एवं अन्य स्थानों पर सिख बंधुओं पर जो भी अमानवीय यातनाएं और क्रूरताएं ढाई गई हैं, उन सबकी मैं कठोरतम शब्दों में भर्त्सना करता हूं। उन

अनेकानेक हिंदुओं पर मुझे आज सचमुच बहुत गर्व है, जिन्होंने अपनी जान और संपत्ति के लिए जोखिम की तनिक परवाह न करके भी हिंसा की दाढ़ में फंसे हुए अपने संकटग्रस्त सिख पड़ोसियों व अपरिचितों को भी शरण दी और उनकी हरसंभव सहायता की। दिल्ली के लगभग प्रत्येक मुहल्ले से प्राप्त हो रही उदात्त मानवीय व्यवहार की इन सूचनाओं ने मानवमात्र, विशेषकर हिंदू चेतना में विद्यमान मूलभूत श्रेष्ठता के प्रति हमारी आस्था को और गहरा किया है।

किंतु, यहां पुनः मेरी चिंता का मुख्य विषय इस नाजुक व विस्फोटक स्थिति में सामान्य सिख प्रतिक्रिया पर केंद्रित है। लगभग अर्धशताब्दी से राष्ट्रीय एकता एवं पुनर्निर्माण का एक विनम्र साधक होने एवं संपूर्ण सिख समाज के हितचिंतक होने के नाते मैं यह कहने के लिए बाध्य हुआ हूं कि जन-उन्माद के विरोध में सिख बंधुओं द्वारा सशस्त्र प्रतिकार की सूचना में यदि कुछ थोड़ी मात्रा में भी सत्य है तो निश्चय ही वे वर्तमान परिस्थिति का उसके समूचे परिप्रेक्ष्य में सही आकलन नहीं कर पाए और इसी कारण उनकी प्रतिक्रिया भी गलत दिशा में चली गई है।

गुरुजी का मार्गदर्शन

यहां मैं बहुत विनम्रतापूर्वक सिख बंधुओं सहित अपने समस्त देशवासियों का ध्यान गांधीजी की हत्या से उत्पन्न ऐसी ही विषम एवं भयावह स्थिति में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के तत्कालीन सरसंघचालक स्व. श्रीगुरुजी गोलवलकर द्वारा प्रदत्त ऐतिहासिक मार्गदर्शन की ओर आकर्षित करना चाहूंगा। जब नागपुर के संघ कार्यालय में देश के विभिन्न भागों से एक के बाद दूसरी सूचनाएं आ रही थीं कि हर जगह संघ के निर्दोष स्वयंसेवकों के विरुद्ध जन-उन्माद का दानव भड़काया गया है, उनकी संपत्ति को नष्ट किया जा रहा है, उनकी थोड़ी-बहुत घरेलू वस्तुओं को भी आग में झोंका जा रहा है, असहाय स्त्रियों और बच्चों को जिंदा भूना जा रहा है, अमानवीय यातनाएं दी जा रही हैं, उस अति भयावह और विषम परिस्थिति में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ नामक 'विशाल निजी सेना' के उस तथाकथित 'खूंखार तानाशाह' ने नागपुर से 1 फरवरी, 1948 को अपने तथाकथित 'सशस्त्र एवं लड़ाकू' युवा अनुयायियों के नाम जो निर्देश जारी किया, वह अक्षरश इस प्रकार है—

''मेरा निर्देश है कि वर्तमान भ्रांति के कारण किसी भी प्रकार की उत्तेजक घटनाओं के बीच मेरे स्वयंसेवक बंधु सभी के प्रति प्रेमपूर्ण व्यवहार करें। वे यह स्मरण रखें कि यह पथभ्रष्ट उन्माद भी हमारी मातृभूमि को विश्व में गौरवपूर्ण स्थान दिलानेवाले महात्माजी के प्रति संपूर्ण देश की अगाध श्रद्धा व स्नेह की ही एक अभिव्यक्ति है। उस दिवंगत महान् आत्मा के प्रति हमारा हार्दिक नमन!''

ये खोखले शब्द नहीं थे, जो एक अत्यंत निराशापूर्ण स्थिति में अपनी सहायता व कायरता पर पर्दा डालने के लिए बोले गए हों। कुछ ही घंटों बाद, जब उनके अपने जीवन के लिए भी गंभीरतम खतरा उपस्थित हो गया था, श्रीगुरुजी ने सिद्ध कर दिया कि स्वयंसेवकों को जो निर्देश दिया गया, उसका प्रत्येक अक्षर उनकी सहज आस्था का अंग था। फरवरी की सायंकाल जब नागपुर

के स्वयंसेवकों को भनक मिली कि आज रात्रि में उनके प्रिय नेता के निवास स्थान पर घातक आक्रमण का षड्यंत्र रचा गया है, तो उन्होंने इस संभावित आक्रमण को विफल करने के लिए सशस्त्र प्रतिकार करने और अपने रक्त की अंतिम बूंद तक लड़ने की तैयारी शुरू कर दी। गुरुजी के निकटस्थ सहयोगियों ने जब उन्हें इस तैयारी से अवगत कराया और उनसे अनुरोध किया कि आक्रमण होने के पूर्व ही वे अपना मकान छोड़कर अन्य सुरक्षित स्थान पर चले जाएं तो उस विषम घड़ी में जब मृत्यु उनके चेहरे की ओर आंख गड़ाए खड़ी थी, तो उन्होंने बड़े शांत भाव से कहा, ''जिन देशवासियों की मैंने पूरी प्रामाणिकता एवं अपनी संपूर्ण योग्यता से अब तक सेवा की है और जिनकी सेवा करना ही मेरे जीवन का एकमात्र व्रत है, यदि वे ही मेरे प्राण लेना चाहते हैं तो इन प्राणों की क्यों और किसके लिए रक्षा करनी है'' और तुरंत बड़े कठोर शब्दों में उन्होंने अपने सहयोगियों को चेतावनी दी, ''यदि मेरे प्राणों की रक्षा के लिए किसी भी देशवासी का एक बूंद रक्त बहाया गया तो ऐसा जीवन मेरे लिए जीने योग्य नहीं रह जाएगा।''

इतिहास साक्षी है कि संघ के असंख्य स्वयंसेवकों ने अपने नेता के इस आदेश का अक्षरशः पालन किया। निसंदेह अपने धैर्य और सहिष्णुता का उन्हें जान-माल की हानि के रूप में भारी मूल्य चुकाना पड़ा। अनेक निराधार आरोपों और अनर्गल लांछनों का उन्हें विषपान करना पड़ा। पर उन्हें पूर्ण विश्वास था कि वर्तमान हमारे लिए चाहे जितना कड़वा हो, इतिहास निश्चय ही हमारी निर्दोषिता को प्रमाणित करके रहेगा।

कितना अच्छा होता कि हमारे सिख बंधु भी वर्तमान विषम घड़ी में ऐसे ही धैर्य व सहिष्णुता को प्रकट कर पाते। मुझे यह जानकर बहुत पीड़ा और वेदना हुई कि सहिष्णुता और धैर्य की इस भावना को प्रकट करने के बजाय, उन्होंने कुछ स्थानों पर पथभ्रष्ट जन-उन्माद का सशस्त्र प्रतिकार करने का प्रयास किया। मैं चकित हूं कि हमारे देशवासियों के उस वर्ग ने, जो अपनी अनुशासनप्रियता, संगठन व धार्मिकता के लिए विख्यात है, ऐसा असंगत व आत्मघाती व्यवहार क्यों किया। शायद उनके पास इस संकटकाल में सही नेतृत्व का अभाव था, किंतु सिख इतिहास के अल्प अध्ययन व समझ के आधार पर मेरा विनम्र मत है कि ऐसी नाजुक स्थिति में कुछ सिख बंधुओं का यह दूरदर्शी व्यवहार उस प्रक्रिया का स्वाभाविक परिणाम है, जिसके फलस्वरूप इसकी जड़ें दसों गुरुओं की प्रेम, सहिष्णुता व त्याग की वाणी में विद्यमान हैं। मूल व उदात्त सिख चेतना का बाद में जनमी सैनिक खालसा वृत्ति में पूर्ण विलीनीकरण हो गया है।

अंग्रेजों की दुष्टनीति

यह इतिहास-सिद्ध सत्य है कि सन् 1699 में दशम गुरु गोविंद सिंहजी ने खालसा का निर्माण विदेशी मुगल शासन की बर्बरताओं का बराबरी के स्तर से मुकाबला करने के उद्देश्य से अस्थायी तौर पर किया था। उन्होंने खालसा का निर्माण हिंदू समाज एवं उसकी श्रेष्ठ परंपराओं की रक्षा के लिए एक सैनिक दस्ते के रूप में किया था, जो विशाल हिंदू-सिख भातृत्व का एक बहुत छोटा सा अंग था। पंच ककारों केश, कृपाण, कंघा, कड़ा व कच्छा एवं नामों के अंत में 'सिंह' शब्द के प्रयोग

का विधान भी उन्होंने अपने खालसा अनुयायियों के छोटे से वर्ग के लिए ही उनकी सैनिक भूमिका के बाह्य प्रतीकों के रूप में किया था, संपूर्ण सिख समाज के लिए नहीं। किंतु दुर्भाग्य से आज उन्हीं बाह्य प्रतीकों को सिख पंथ की मूलभूत एवं पृथक् पहचान के स्थायी एवं धार्मिक लक्षणों के रूप में महत्त्व दिया जा रहा है। जो प्रतीक कभी हिंदू समाज की रक्षा के लिए अपनाए गए थे, उन्हें ही आज हिंदू समाज को तोड़ने का माध्यम बना लिया गया है।

मुझे दु:ख के साथ कहना पड़ रहा है कि अधिकांश सिख बुद्धिजीवियों ने यह समझने का प्रयास ही नहीं किया कि व्यापक सिख पंथ का खालसा में यह रूपांतर बहुत आधुनिक प्रक्रिया है, जिसे ब्रिटिश साम्राज्यवादियों ने पंजाब में अपनी 'फूट डालो और राज करो' की दुष्ट नीति को क्रियान्वित करने एवं सिख बंधुओं को उनके हिंदू उद्गम व हिंदू परिवेश से तोड़ने की कुटिल नीति के अंतर्गत प्रारंभ किया था। यह देश का दुर्भाग्य है कि स्वाधीनता प्राप्ति के पश्चात् सत्तालोलुप भारतीय राजनीतिज्ञों ने इस ब्रिटिश कूटनीति का पर्दाफाश करने के बजाय, उनके द्वारा निर्मित इन कृत्रिम भिन्न व पृथक् पहचानों में निहित स्वार्थ पैदा कर लिया और अपनी अवसरवादी वोट राजनीति के द्वारा ब्रिटिश साम्राज्यवादियों की विभाजनकारी प्रक्रिया को ही आगे बढ़ाया है।

सैनिक खालसावाद में सिखत्व के इस भ्रांतिपूर्ण विलीनीकरण ने न केवल सिख समाज के कुछ वर्गों में पृथकतावादी प्रवृत्तियों को जन्म दिया है, अपितु सिख मानस में प्रेम, सहिष्णुता और त्याग के बजाय सैनिकवाद व सशस्त्र शक्ति पर निर्भरता के भाव को धार्मिक आस्था के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया है। यही धार्मिक आस्था है, जिसने सन् 1920 में बब्बर खालसा जैसे आतंकवादी आंदोलन को जन्म दिया था और उसी में से भिंडरांवाला के नेतृत्व में आतंकवाद की वर्तमान लहर पैदा हुई है, जिसकी परिणति श्रीमती इंदिरा गांधी जैसे लोकप्रिय नेता की हत्या में हुई और जिसके द्वारा तैयार की गई एक लंबी हिटलिस्ट अभी भी क्रियान्वयन की प्रतीक्षा कर रही है।

सैनिकवाद या सशस्त्र हिंसा को 'धर्म' समझ लेने की इस भ्रांति के कारण ही सामान्य सिख समाज भिंडरांवाला के आतंकवाद के प्रति उदासीन रहा और उस आतंकवाद के उन्मूलन के लिए की गई सैनिक कार्यवाही की निंदा में जुट गया। पांच स्वयंभू मुख्य जत्थेदारों, शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंध समिति एवं अकाली दल के सभी प्रवक्ताओं ने सैनिक कार्यवाही और इंदिराजी की हत्या के पश्चात् जो भी उद्गार प्रकट किए हैं, वे इसी सैनिकवाद का पोषण करनेवाले हैं। सिख पंथ के इन तथाकथित ठेकेदारों ने भिंडरांवाला एवं उसके आतंकवादी अनुयायियों के विरुद्ध कोई हुक्मनामा जारी नहीं किया, सैनिक कार्यवाही के पश्चात् बार-बार अनुरोध करने पर भी निर्दोष लोगों की हत्या के विरुद्ध हुक्मनामा जारी नहीं किया। भिंडरांवालां के कुकृत्यों की निंदा में एक शब्द भी अब तक नहीं बोला, किंतु भारत के राष्ट्रपति को, जिनकी धर्मनिष्ठा पर कोई संदेह नहीं कर सकता, 'तनखैया' घोषित कर दिया, उनकी उपस्थिति में ही उन वीर सैनिकों की, जिन्होंने देश की अखंडता एवं स्वर्ण मंदिर की पवित्रता की रक्षा के लिए अपने प्राणों की बलि दी, कटु

शब्दों में निंदा की। यह सब किस मानसिकता का परिचायक है, इस मानसिकता की जड़ें कहां हैं, इसका गंभीर अध्ययन करने की नितांत आवश्यकता है।

उन्नत सिख समाज

मैं समझता था कि सिख समाज उन्नीसवीं शती के उत्तरार्ध की उस गिरी हुई दशा से अपने को पूरी तरह उबार चुका है, जब अपनी स्वाधीनता को खोकर वह निराशा, पराभूतता, अशिक्षा व अज्ञान के गर्त में डूब गया था और जिस दु:खद स्थिति का चालाक ब्रिटिश साम्राज्यवादी व स्वार्थी सिख सामंत वर्ग अपने संकुचित निहित स्वार्थों के लिए शोषण कर सकते थे। यह सर्वविदित है कि आज सिख लोग भारतीय समाज में एक उच्च शिक्षा प्राप्त, प्रबुद्ध, गतिमान, परिश्रमी, सतर्क एवं अपेक्षाकृत अधिक संपन्न वर्ग के रूप में अपना स्थान बना चुके हैं। राष्ट्रीय जीवन के लगभग प्रत्येक अंग में उत्तरदायित्व के ऊंचे-से-ऊंचे पदों पर वे आसीन हैं। उन्नीसवीं शताब्दी में उनके अनुभव एवं कल्पना का क्षितिज यदि पंजाब की उस समय की संकीर्ण सीमाओं तक सीमित था, तो आज वे न केवल संपूर्ण भारत में अपितु संपूर्ण विश्व में फैले हुए हैं। इसलिए आज वे इस स्थिति में हैं कि विश्व मंच पर स्वाधीन भारत को एक संगठित सशक्त राष्ट्र के रूप में उभरने से रोकने के लिए महाशक्तियों द्वारा रचे जा रहे षड्यंत्रों को भलीभांति समझ सकें। इस असामान्य प्रगति एवं व्यापक अनुभव के आधार पर उन्हें भारतीय समाज के अभिन्न अंग के रूप में अपने ऐतिहासिक विकास-क्रम की स्पष्ट समझ प्राप्त करने में भी कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए।

इतिहास का यह पुनरावलोकन ही उन्हें अपने धर्म एवं अतीत के बारे में उन अनेक भ्रांत एवं विकृत धारणाओं से मुक्ति दिलाने में सहायक बन सकेगा, जिन्हें ब्रिटिश प्रशासक विद्वानों ने अपने मनगढ़ंत एवं धूर्ततापूर्ण इतिहास-लेखन के द्वारा योजनापूर्वक सिख मानस में प्रस्थापित कर दिया है। इतिहास की सही समझ ही उन्हें अपनी वास्तविक जड़ों का दर्शन भी करा सकती है।

अब वक्त आ गया है कि हमारे सिख बंधु थोड़ा आत्मालोचन करें और धूर्त ब्रिटिश साम्राज्यवादियों तथा सत्तालोलुप राजनीतिज्ञों द्वारा सिख चेतना में आरोपित विकृतियों से स्वयं को मुक्त करने का प्रयास करें। इन विकृतियों का समूलोच्छेदन अविश्वास और परायेपन की वर्तमान खाई को पाटने के लिए नितांत आवश्यक है, जो दुर्भाग्य से उन दोनों भातृ-समाजों के बीच आज दिखाई दे रही है, जिनका उद्‌गम एक है, मूल चेतना एक है और नियति भी एक है। आत्मालोचन एवं इतिहास के पुनराकलन के अभाव में मुझे भय है कि हमारे सिख बंधु न तो स्वयं में और न अपने शेष देशवासियों के साथ शांति व प्रेम का जीवन जी सकेंगे। मुझे लगता है कि यदि वे अपने व्यापक स्वार्थों का भी शांतचित्त से विचार करेंगे तो उन्हें स्पष्ट हो जाएगा कि उनकी नियति भारत के साथ अभिन्नत: जुड़ी हुई है। यह समझ उन्हें कतिपय विदेशी निहित स्वार्थों के भारत विरोधी विघटनकारी व विध्वंसकारी कुचक्रों के जाल में भी, अनजाने में ही क्यों न हो, फंसने से बचा सकेगी।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि अपने एक निर्हेतुक शुभचिंतक की ओर से आनेवाले सावधानी के

इन शब्दों को मेरे सिख बंधु उसी शुद्ध भावना से ग्रहण करेंगे, जिस भावना से उन्हें व्यक्त किया जा रहा है। अंततः इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि भारतीय मंच पर इंदिराजी के आकस्मिक तिरोधान से भारत के सार्वजनिक जीवन में एक गहरा शून्य उत्पन्न हो गया है। किंतु, भारत ने संकट एवं अनिश्चय के ऐसे क्षणों में सदैव चमत्कारिक अंतःशक्ति को प्रकट किया है। इस परंपरा के अनुरूप ही इस बार भी श्री राजीव गांधी के युवा एवं अपेक्षाकृत अनुभवहीन कंधों पर सत्ता एवं उत्तरदायित्व का हस्तांतरण बड़े ही सहज एवं शांतिपूर्ण ढंग से हो गया है। श्री राजीव गांधी के नेतृत्व की क्षमताओं के बारे में इस समय कोई मत व्यक्त करना बहुत जल्दबाजी होगी। अपनी क्षमता एवं योग्यता को सिद्ध करने के लिए उन्हें कुछ अवसर दिया जाना चाहिए। तब तक देश के सामने खड़ी अनेकविध चुनौतियों से निपटने के लिए उन्हें सभी देशवासियों को जाति, धर्म, भाषा, क्षेत्र एवं राजनीतिक ठप्पों से ऊपर उठकर अपना पूर्ण सहयोग व समर्थन देना चाहिए। एक गैर–राजनीतिक रचनात्मक कार्यकर्ता के नाते मेरी परमपिता परमेश्वर से प्रार्थना है कि वह श्री राजीव गांधी को वह आंतरिक शक्ति व क्षमता प्रदान करे, जिसके द्वारा वे अपने सभी देशवासियों को एक अधिक परिपक्व , संतुलित व निष्पक्ष शासन प्रदान कर सकें एवं सबका सहयोग प्राप्त करते हुए राष्ट्र को वास्तविक समृद्धि, एकता व महानता के शिखर पर पहुंचा सकें।

□

स्वयंसेवक का दायित्व
सतत गतिमान रहने की आवश्यकता

संघ का लक्ष्य है सामाजिक जीवन के प्रत्येक अंग को प्रभावित करना, उसे ठीक दिशा देना तथा राष्ट्र को सर्वशक्तिमान बनाने में उसे सतत प्रक्रिया रखना। इस ध्येय सिद्धि का माध्यम है—संघ का स्वयंसेवक।

संघ का कार्य अपने जीवन का पचास वर्ष से अधिक काल पूर्ण कर चुका है। लाखों की संख्या में स्वयंसेवकों के नाते संघ शाखा में आए हैं और आते जा रहे हैं। यह क्रम गत पचास से अधिक काल से अखंड रूप से चलता चला आ रहा है।

किंतु शाखाओं में आनेवाले सभी स्वयंसेवक दैनंदिन कार्य में सदा के लिए सक्रिय नहीं रह पाते। अनेक का संघ कार्य से प्रत्यक्ष संपर्क नहीं रहा है। फिर भी उनमें से अधिकांश लोगों के अंत:करण में कम-अधिक मात्रा में संघ-भावना बनी रहती है। यह देखने को मिलता है।

संघ का कौन स्वयंसेवक कहां है, किस कार्य में संलग्न है, किस प्रकार का जीवन व्यतीत कर रहा है, संघ द्वारा प्राप्त दायित्व किस रूप में निभा रहा है, इसकी जानकारी रखने की पद्धति संघ ने विकसित नहीं की। राष्ट्रीय जीवन का शायद ही कोई क्षेत्र ऐसा हो, जिसमें संघ का स्वयंसेवक न हो। अर्थात् असंदिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि स्वयंसेवकों के माध्यम से संघ लगभग सर्वव्यापी बना हुआ है। गत 53 वर्ष की तपस्या का यह सुपरिणाम है।

कार्य परिणामकारी क्यों नहीं

विचारणीय विषय है कि संघ-शक्ति इतनी व्यापक होते हुए भी समाज को वांछित दिशा देने में वह आवश्यक मात्रा में परिणामजनक सिद्ध क्यों नहीं हो रही है? संघ शाखाओं में समाज के लगभग सभी वर्ग एवं जातियों के व्यक्ति सम्मिलित होते आ रहे हैं। उन पर संघ संस्कारों का अर्थात् उनके जीवन में राष्ट्रीय प्रेरणा का बीजांकुरण करने का नित्य और सतत प्रयास चलता चला आ रहा है। फलस्वरूप कुछ स्वयंसेवक व्यक्तिगत स्वार्थ एवं पारिवारिक मोह को ठुकराकर

डीआरआई दस्तावेज, 5 अगस्त, 1979

स्वयं को संघ-कार्य के लिए समर्पित करते आ रहे हैं। शेष स्वयंसेवक उन्हीं संस्कारों से संस्कारित होकर अपनी घर-गृहस्थी चलाने के लिए विभिन्न प्रकार की आजीविका के साधनों को अपनाकर संघ कार्य करने का प्रयास करते हैं।

किंतु स्वयंसेवकों का आजीविका में संलग्न यह विशाल वर्ग अपने संस्कारों के अनुरूप न अपने परिवार के सदस्यों को राष्ट्रीय प्रेरणा से अनुप्राणित कर तदनुकूल व्यवहार के लिए प्रेरित करता है, न व्यावसायिक सहयोगियों के सम्मुख अपना आदर्श प्रस्तुत कर उस व्यवसाय को सामाजिक हित में गतिमान करने की दिशा में ही प्रयत्नशील दिखाई पड़ता है।

दैनंदिन कार्य

अपने कार्य का केंद्र है दैनंदिन शाखा। ये शाखाएं नगरों एवं ग्रामों में चलती चली आ रही हैं, किंतु साधारणतः देखने को मिल रहा है कि शाखाओं की प्रगति कुंठित सी हो रही है। उनकी संख्या, रूप, प्रभाव तथा प्रगति हमारी अपेक्षा के अनुरूप नहीं है। ऐसा क्यों? इस समस्या का निदान करने की आवश्यकता है। इस निदान के लिए हम एक शाखा का, चाहे ग्रामीण हो या मुहल्ले की, विश्लेषण करें।

हम ग्राम में शाखा प्रारंभ करते हैं। वहां की आबादी छोटी होती है। ग्रामीण बंधुओं के लिए साधारणतः मनोरंजन का कोई साधन उपलब्ध नहीं रहता। अतः खेलकूद करनेवाली शाखा उनके लिए आकर्षण का केंद्र बनने में देर नहीं लगती। थोड़े ही दिनों में उस गांव के शाखा में सम्मिलित होने लायक आयु के सभी लोग शाखा में आने लग जाते हैं। कुछ काल तक उनका उत्साह कल्पनातीत रहता है, किंतु धीरे-धीरे उसमें कमी होने की अनुभूति होने लगती है। लोगों की रुचि घटने लग जाती है। आकर्षण टिक नहीं पाता। अनेक बार तो वह शाखा बंद पड़ जाती है। देश में ऐसी बंद पड़ी शाखाएं अनेक हैं।

विश्वास क्यों डिगता है

ऐसा क्यों होता है? अनेक बार कहा जाता है कि वहां नियमित शाखा लगानेवाला संघ शिक्षा वर्ग में प्रशिक्षित कोई कार्यकर्ता था नहीं। इसी कारण शाखा बंद पड़ी है, किंतु इसे पूर्ण सत्य नहीं कहा जा सकता। कारण, ऐसे भी स्थान देखने को मिलते हैं, जहां प्रशिक्षित स्वयंसेवकों के होते हुए भी शाखा बंद हो गई है। कहीं-कहीं एकाध बड़ा ही निष्ठावान कार्यकर्ता स्वयं या अपने एकाध साथी के साथ औपचारिकता निभाने के लिए ही क्यों न कहा जाए शाखा लगता रहता है। किंतु अपनी इस शाखा के कार्य के द्वारा राष्ट्र निर्माण का महान् कार्य हो सकेगा, उनके हृदय का यह विश्वास डिग जाता है।

अतः अपने कार्य के संबंध में हमें पुनर्विचार और विश्लेषण करने की आवश्यकता है। वैसे भी चिरंतन स्वरूप के कार्यों के संबंध में समय-समय पर गहराई से विचार किया जाना तथा

आवश्यक परिवर्तन के साथ उन्हें सामयिक संदर्भ में उपयोगी रखना आवश्यक रहता है, अन्यथा रूढ़िवादिता बढ़ने लगती है एवं चैतन्य घटने लगता है।

आशा की किरण

अपना समाज बहुत पुराना है। हजारों सालों से चली आ रही सामाजिक व्यवस्थाएं वर्तमान समय से मेल नहीं खातीं। आधुनिक विज्ञान के विस्मयकारी आविष्कार, आवागमन के द्रुतगतिमान साधन तथा नूतन औद्योगिक विकास ने परंपरागत मान्यताओं तथा पुरातन सामाजिक व्यवस्थाओं की जड़ें हिला दी हैं। वर्तमान समय में परंपरागत मान्यताओं में से क्या उपयुक्त है और क्या अनुपयुक्त है, इस पर सामाजिक मान्यता की मुहर लगवाने की स्थिति में आज कोई नहीं है। समाज की इस संभ्रमित अवस्था से सभी लोग चिंतित हैं, किंतु साहस के साथ युगानुकूल सामाजिक परिवर्तन का रचनात्मक सूत्रपात करने की योजना लेकर कोई आगे बढ़ता दिखाई नहीं देता। फलस्वरूप समाज बिखरता चला जा रहा है। परस्पर अविश्वास की धुन जनजीवन को खोखला और जनमानस को निराश बना रही है। सामाजिक व्यवस्था, व्यावसायिक नैतिकता, राजनैतिक प्रामाणिकता और प्रशासनिक निपुणता का बड़ी तेजी के साथ लोप हो रहा है।

इस चिंताजनक अवस्था में समाज के अनेक विचारक बीच-बीच में संघ-कार्य में आशा की किरण दिखाई पड़ने का मानस व्यक्त करते हैं। साथ ही इस बिगड़ी हालत का लाभ उठाने की ताक में बैठे विघटनकारी एवं राष्ट्रद्रोही तत्त्व भी संघ-शक्ति से ही भय खाते हैं, किंतु प्राप्त परिस्थिति में राष्ट्रीय दायित्व निभाने के लिए स्वयंस्वीकृत व्रतधारी हम अपनी कितनी सिद्धता रखते हैं, यह प्रश्न मन को कुरेदता रहता है। उसी कारण निम्न विचार मन में उठते रहते हैं-

चार इकाइयां

यह बात सर्वमान्य है कि हमारे दैनंदिन कार्य का रूप बनाए रखना वर्तमान परिस्थिति में भी परम आवश्यक है। वह हमारी शक्ति का स्रोत है।

किंतु दैनंदिन शाखा चलाना मात्र ही सर्वस्व है, यह दृष्टिकोण अपर्याप्त शाखाओं के माध्यम से संस्कार करते समय हमें इस बात की व्यवस्था करनी होगी कि शाखा में प्रशिक्षित स्वयंसेवक सामाजिक व्यवस्थाओं को युगानुकूल रूप प्रदान करने में सक्षम सिद्ध हों।

समाज का प्रत्येक घटक जीवन भर समाज की निम्नलिखित स्वाभाविक इकाइयों से अनिवार्यत: संबंधित रहता है। इकाइयां—

- व्यक्ति : प्रथम इकाई
- परिवार : द्वितीय इकाई
- व्यवसाय : तृतीय इकाई
- समाज या राष्ट्र : चतुर्थ इकाई

ये चारों इकाइयां सामाजिक जीवन के स्वाभाविक एवं अनिवार्य अंग हैं। ये दूसरे के लिए

पूरक बनें, यह स्वस्थ सामाजिक जीवन की प्राथमिक आवश्यकता है। उन चारों इकाइयों के आचार-विचार एवं लक्ष्य में सामंजस्य बना रहे, यह राष्ट्र की प्रगति के लिए जरूरी है। यही संघ की धारणा है। इस धारणा को साकार करने के लिए हमें अपनी कार्यपद्धति को और अधिक विकसित करना होगा।

हमारा कार्य प्रचारक पद्धति पर आधारित है। यह पद्धति संघ-कार्य के विस्तार तथा उसे स्थायी बनाने में उपयोगी तथा सफल सिद्ध हुई है, किंतु एक बात मन को बराबर अखरती रहती है कि प्रचारकों की अनुपस्थिति शाखाओं की शिथिलता का कारण बन जाती है। इस कारण मन में प्रश्न उठा है कि क्या संघ-कार्य समाज के स्वस्थ जीवन का स्वाभाविक अंग न बन सकेगा? हमारे सर्वव्यापी कार्य का समस्त समाज पर चिरप्रतीक्षित परिणाम आवश्यक मात्रा में संभव हो सकेगा?

जहां तक संघ के प्रचारक का प्रश्न है, वह व्यक्तिगत तथा राष्ट्रीय इकाइयों में सीमित है। प्रचारकों का जीवन सामान्य जीवन नहीं है। वे असामान्य जीवन बिताकर सामान्य लोगों में राष्ट्रीय भावना जाग्रत् करने तथा पारिवारिक एवं व्यावसायिक जीवन को चलाते हुए भी लोगों को संघ-कार्य के लिए प्रवृत्त करने का कार्य करते हैं, किंतु वे सर्वसाधारण नागरिकों के लिए व्यावहारिक जीवन का आदर्श रूप प्रस्तुत नहीं कर सकते। कारण, उनका अपना न कोई पारिवारिक जीवन रहता है, न व्यावसायिक। संघ-प्रचारक तथा सभी स्वयंसेवकों को मिलाकर जो सामूहिक रूप बनता है वह ही संघ है। प्रचारकों के अतिरिक्त अन्य सभी स्वयंसेवकों को, समाज के अन्य घटकों के समान उपर्युक्त चारों इकाइयों से जीवन भर संबंधित रहना अनिवार्य होता है। कारण, इन इकाइयों के सहारे से ही सबका जीवन चल पाता है।

दो सीढ़ियों की उपेक्षा

हम राष्ट्रीय इकाई पर बल देते हैं। स्वराज्य प्राप्ति के लक्ष्यसिद्धि तक इतना भी कार्य उचित कहा जा सकता था, किंतु स्वराज्य प्राप्ति के बाद उनमें से किसी भी इकाई की उपेक्षा करना राष्ट्र-जीवन के समुचित विकास में अधूरापन ही कहा जाएगा।

अपनी कार्यपद्धति में बीच की दो सीढ़ियां अर्थात् पारिवारिक एवं व्यावसायिक इकाइयां उपेक्षित रह जाती हैं। उन्हें हम गौण मानते चले आ रहे हैं। फलस्वरूप अपनी शाखा, जो राष्ट्रीय इकाई के संस्कारों का केंद्र है, चलाना मात्र ही राष्ट्रीय कार्य है, यही धारणा मन में घर किए रहती है। संघ का साधारण स्वयंसेवक समझने लगता है कि शाखा में जाना तथा शाखा के कार्यक्रम ठीक से करना इतना ही पर्याप्त है। पारिवारिक इकाई में स्वयंसेवकों का क्या दायित्व है, उसे वे किस ढंग से निभाएं, उसकी उन्हें कल्पना देने की अपनी कार्यपद्धति में न कोई व्यवस्था है न इस दिशा में सोचने के लिए उन्हें प्रोत्साहित ही किया जाता है। इस कारण स्वयंसेवक अपने परिवार के अन्य सदस्यों को न ठीक दिशा दे पाता है, न उसे परिवार को राष्ट्रीय एकता के लिए सहायक केंद्र के रूप में विकसित करने की भावना ही रखता है। इस देश में इस महत्त्वपूर्ण कार्य को करने की कोई व्यवस्था नहीं है। अतः

परिवार अर्थात् समाज की यह द्वितीय इकाई सामाजिक जीवन के विकास में न सहायक हो पा रही है, न समाज की सामयिक आवश्यकता पूर्ति का साधन ही बन रही है।

सामाजिक दृष्टि का लोप

इसी प्रकार अपना स्वयंसेवक जिस किसी व्यावसायिक इकाई में सम्मिलित होकर आजीविका अर्जित करने लगता है, उस इकाई में संलग्न लोगों को अपने राष्ट्रीय दृष्टिकोण से अनुप्राणित करने की दिशा में क्रियाशील नहीं रहता। वह भी सर्वसाधारण व्यवसायी जैसा ही केवल कमाई का ध्यान रखकर व्यवसाय चलाता है। यदि हमने इस इकाई की ओर ध्यान दिया होता तो अपना स्वयंसेवक विभिन्न व्यावसायिक समुदायों में अपना विशिष्ट व्यक्तित्व तथा प्रभावी नेतृत्व प्रस्थापित करता और उस व्यवसाय को राष्ट्रीय हित में विकसित करने की दिशा प्रदान कर पाता।

कमाई का प्रत्येक साधन समाज की कोई न कोई आवश्यकता पूरी करता है। जो साधन समाज की एकाध आवश्यकता भी पूर्ण नहीं कर सकता, वह किसी के लिए आजीविका कमाने में सहायक नहीं बन सकता। जीवकोपार्जन करनेवाला व्यक्ति इस बात की अनुभूति कर सका था, उसे यह अनुभूति कराई गई और उसके मन में यह बात जमाई गई कि तुम इस साधन के द्वारा समाज की अर्थात् राष्ट्र की आवश्यकता पूर्ति अर्थात् सेवा कर रहे हो। यह एक राष्ट्रीय कार्य है। उसके द्वारा तुम केवल अपना या अपने परिवार का उदर भरण ही नहीं करते। तुम जो पाते हो, वह तो राष्ट्र-सेवा के उपहार के रूप में है। उसका और उसके परिवार का पालन तो इस कारण हो पा रहा है कि वह अपनी शक्ति, बुद्धि और समय समाज की आवश्यकतापूर्ति में लगा रहा है। इस अनुभूति के कारण उसे आत्मसम्मान की सुखद अनुभूति होगी। इस दृष्टिकोण से अनेक राष्ट्रीय समस्याएं अपने आप घटने लगेंगी। इससे समाज के विभिन्न घटकों में परस्पर विश्वास, स्नेह और सहयोग तो बढ़ेगा ही, राष्ट्रीय उत्पादन में वृद्धि होगी। परस्पर सद्भावना सहज में ही विकसित होगी तथा भ्रष्टाचार और बेईमानी जीवन से हटने लगेगी, किंतु व्यासायिक जीवन में यह राष्ट्रीय दृष्टि, जो राष्ट्रजीवन की नींव है, विकसित करने का दायित्व निभाने के लिए स्वतंत्रता के गत 27 वर्षों में कोई भी आगे नहीं आया। किसी के ध्यान में यह बात आई भी तो इस समस्या में हम क्यों पड़े, कहकर टाल दिया गया। यह कार्य स्वाभाविक रूप से संघ का है। संपूर्ण समाज को एक कुटुंब मानने की बात तभी सार्थक हो सकती है, जबकि इस गुरुतर कार्य को अपनाने के लिए हम आगे बढ़ें। वैसे भी यह कार्य संघ के बिना अन्य किसी के लिए करना संभव नहीं है। यह शासन के द्वारा की जानेवाली बात नहीं है। यह भावनात्मक तथा रचनात्मक कार्य का बीज संघ द्वारा ही अंकुरित किया जा सकता है।

इन दिशाओं में स्वयंसेवकों को प्रेरणा और प्रशिक्षण देने की हमें योजना बनानी होगी। तभी संघ की स्वयंसेवकों के माध्यम से जो सर्वव्यापी शक्ति मौजूद है, वो सामाजिक जीवन को युगानुकूल मोड़ देने में सक्षम सिद्ध हो सकेगी। अन्यथा राष्ट्र का सही दिशा में विकास असंभव है।

संघ संपूर्ण हिंदू समाज को एक परिवार मानता है। इस परिवार का सदस्य चाहे वृद्ध हो या

बाल, शहरी हो या ग्रामीण, शिक्षित हो या शिक्षित, धनी हो या निर्धन, सब एक और समान हैं। जातियों के कारण संघ किसी को उच्च या नीच नहीं मानता। छुआछूत की बीमारी से वह पूर्णतः अछूता है।

परिवार का नाता

परिवार के सदस्य का अपने परिवार के प्रति जन्मजात लगाव रहता है। काया, वाचा और मनसा वह परिवार के हर सदस्य से जुड़ा रहता है। कुटुंब का सुख-दुःख उसका निजी सुख-दुःख होता है। अपनी अवस्था और क्षमता के अनुसार अपने परिवार के लिए उपयोगी बनने का उसका पैदाइशी स्वभाव है। परिवार के प्रति अभिन्नता का यह भाव उसमें आजीवन बना रहता है। यही पारिवारिक भावना है। अपने हिंदू समाज की यह अवस्था निर्माण करना अपना जीवन व्रत है। आज की परिस्थिति में यह कार्य अत्यंत कष्टसाध्य अनुभव होने पर भी हमने स्वयं होकर और जान-बूझकर इसे अपनाया है और इसे सिद्ध करना, यही हमारी जीवनाकांक्षा है।

राष्ट्र जिस किसी स्थिति या अवस्था में हो, सर्वसाधारण व्यक्ति अपने परिवार और व्यवसाय से कटकर अलग नहीं रह सकता। अतः संघ कार्य को इन दोनों इकाइयों का ध्यान रखकर और उन्हें अपनी कार्य-पद्धति में बिठाकर ही हमें हिंदू परिवार को भावना चरितार्थ करनी होगी। इनमें से किसी एक से भी अलग रहकर संघ अपना लक्ष्य सिद्ध न कर सकेगा। इस कारण प्रश्न उपस्थित होता है कि हम इन दोनों इकाइयों को अपनी कार्यपद्धति में किस प्रकार बैठाएं। कारण, व्यक्ति, परिवार और व्यवसाय इन तीनों को राष्ट्राभिमुख करने से ही राष्ट्र निर्माण का कार्य संपन्न किया जा सकेगा और संपूर्ण हिंदू समाज एक कुटुंब के नाते फल-फूल सकेगा।

इस लक्ष्य को साकार करने के लिए हमें व्यक्ति, परिवार, व्यवसाय एवं समाज इन चारों इकाइयों को एक सा महत्त्व देना होगा। उनमें विशाल पारिवारिक भावना का विकास करना होगा। और इन चारों में आपसी सामंजस्य की स्थिति निर्माण करनी होगी। इसके लिए अपनी कार्यपद्धति में आवश्यक व्यवस्था करनी आवश्यक है।

साधारण स्वयंसेवकों की अपने कार्य के बारे में धारणा–

- नित्य नियमित रूप से शाखा में जाना।
- अन्य लोगों को शाखा में ले आने का प्रयत्न करना तथा उसके लिए अधिकाधिक समय देना।
- शाखा के रोज के कार्यक्रम ठीक से करना।
- संघ के वर्ष के निश्चित कार्यक्रमों को उत्तम रीति से संपन्न करना और उसके लिए अपनी शक्ति, बुद्धि, समय और धन भी लगाना।
- नई शाखाएं खोलने के लिए सहायक बनना।
- संघ-कार्य के लिए वर्ष, दो वर्ष या इससे भी अधिक काल पूर्ण रूप से देना।

उपर्युक्त कार्य में संलग्न रहकर स्वयंसेवक पारिवारिक भावना से ऊपर अवश्य उठता है।

उसमें राष्ट्रीय दृष्टिकोण भी विकसित होता है। संघ-कार्य में वह अधिक सक्रिय होता है, किंतु जिस समाज का दायित्व लेकर संघ चल रहा है, उस सामाजिक जीवन में उसका स्थान नहीं बन पाता। संघ-कार्य के अतिरिक्त सामाजिक जीवन में न वह स्वयं रुचि लेता है, न उस दिशा में उसे प्रोत्साहित ही किया जाता है। परिणामत: शाखा के काम से बचे हुए समय में रोज 22-23 घंटे उसका व्यवहार समाज के सामान्य जन के समान ही रहता है।

शाखा में आनेवाला किसान, दुकानदार, बढ़ई, मजदूर, कर्मचारी, वकील, अध्यापक या डॉक्टर अपने पारिवारिक या व्यावसायिक जीवन में सामाजिक दृष्टि से कोई विशेषता प्रकट करता दिखाई नहीं पड़ता। उसकी संघ-भावना समाजव्यापी रूप धारण नहीं करती। संपूर्ण हिंदू समाज उसका परिवार है, ये संस्कार उसके जीवन में व्यावहारिक रूप ले नहीं पाते।

व्यावहारिक रचनात्मक स्वरूप

ग्रामीण शाखा का स्वयंसेवक अपने ग्रामवासियों के सर्वांगीण विकास की कल्पना नहीं कर पाता। सभी ग्रामवासी एक परिवार के रूप में परस्पर सहयोगी बनकर सबकी खुशहाली और सर्वांगीण उन्नति के लिए सामूहिक रूप से प्रयास करें, उसकी वह चिंता नहीं करता। फलस्वरूप संघ-शाखा के कारण समाज में व्याप्त गड़बड़ी दूर होगी, समाज के जीवन में सुखद परिवर्तन आएगा, सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक जीवन में सामंजस्य और सहयोग निर्माण होगा, ऐसा भाव वहां के लोगों के मन में पैदा नहीं हो पाता। इस कारण अपने स्वयंसेवक भी समझ नहीं पाते कि प्रत्यक्ष जीवन में संघ शाखा का क्या स्थान है, वह किस प्रकार विशाल हिंदू कुटुंब की भावना को साकार कर सकेगी, व्यावहारिक जीवन में पारिवारिक भावना को जाग्रत् कर पीड़ित, प्रताड़ित और दीन-दुखियों की आह मिटाने के लिए सब लोगों को किस प्रकार कार्यशील बनाएगी, समाज के सभी घटकों में परस्पर आत्मीयता, विश्वास और सामूहिक सहयोग का व्यावहारिक रूप कैसे और कब खड़ा करेगी, यह प्रश्न सबके मन में अनुत्तरित ही बने रह जाते हैं। नित्य के कार्यक्रमों और वर्तमान सामाजिक जीवन में तालमेल बैठाना उनके लिए संभव नहीं हो पाता। ऐसी अवस्था में शाखा में आनेवाले अधिकांश लोगों में शाखा का आकर्षण लंबे काल तक टिका नहीं रह पाता। हमारी शाखाओं के वर्तमान स्वरूप के लिए उपर्युक्त स्थिति कारण बन रही है।

अपनी शाखाओं में तीन प्रकार के व्यक्ति सम्मिलित होते हैं—

- विद्यार्थी
- व्यवसायी तथा
- अवकाश प्राप्त।

ये तीनों प्रकार के लोग अपने-अपने परिवार के अभिन्न अंग हैं।

संघ की केवल एक ही चाह है कि अपना राष्ट्रजीवन स्वस्थ, समृद्ध, समर्थ एवं विश्व में सर्वमान्य हो। संघ का अपना संस्थागत संकुचित लक्ष्य नहीं है। अत: हमें इन तीनों प्रकार के

लोगों का समाज की सभी इकाइयों में रहते हुए, उपर्युक्त लक्ष्य–सिद्धि हेतु समुचित उपयोग करने की ठीक योजना और उपयुक्त कार्यक्रमों की रचना करनी होगी।

शाखा में आनेवाले स्वयंसेवकों की चिंता करना अपनी परंपरा है। साथ ही उनके सर्वांगीण विकास का योजनाबद्ध ध्यान रखना आवश्यक है।

स्वास्थ्य और सातत्य

अपने व्यक्तिगत स्वास्थ्य की दृष्टि से हर एक स्वयंसेवक दक्ष है या नहीं, यह देखा जाना कठिन नहीं है। इस दृष्टि से उसका आवश्यक मार्गदर्शन करना संभव होना चाहिए। वह स्वास्थ्य की दृष्टि से बराबर प्रगति कर रहा है, यह दिखाई पड़ना चाहिए। जिस शाखा ने अपनी शाखा में आनेवाले सब स्वयंसेवकों के साधारण स्वास्थ्य में विशेष प्रगति की है, उस शाखा को प्रोत्साहन दिया जाना लाभकारी रहेगा।

किसी कार्य में सतत लगे रहने और उसमें निश्चित रूप से सफलता पाने का स्वभाव आम लोगों में दिखाई नहीं पड़ता। इस वृत्ति का स्वयंसेवकों में विकास करना उनकी व्यक्तिगत एवं सामूहिक योग्यता बढ़ाने के लिए आवश्यक है। इस दृष्टि से उन पर संस्कार करने का विशेष प्रयास किया जा सकता है और करना होगा। अल्पावधि के निश्चित कार्य सौंपकर उन्हें पूर्ण करा लेने से व्यक्ति के स्वभाव में सातत्य की भावना विकसित हो सकती है।

आकांक्षा और आत्मविश्वास

कठिन परिस्थिति पर विजय पाने की आकांक्षा और आत्मविश्वास की सब में वृद्धि करना भी अत्यंत आवश्यक है। इस वृत्ति का सर्वसाधारण में लोप होता जा रहा है। इसके लिए भी निश्चित कार्य सौंपकर उनके द्वारा सफलता के साथ पूर्ण करवाना और अधिकाधिक कठिन कार्य सौंपकर उन्हें निराश न होने देना व पूर्ण कराना उपयोगी रहेगा।

उपर्युक्त बातों की दृष्टि से और सर्वांगीण योग्यता में वृद्धि करने के लिए विभिन्न विभूतियों की जीवनियों के अध्ययन की स्वयंसेवकों में आदत डालना बड़ा उपयोगी सिद्ध होता है। विभिन्नकालीन विभूतियों की जीवनियों का अध्ययन इतिहास जानने का रुचिकर और प्रभावी साधन है। स्वयंसेवकों में इसकी रुचि बढ़ाना और उनका यह नित्यक्रम बनाना उनके विकास के लिए और अच्छे कार्यकर्ता निर्माण करने के लिए आवश्यक है। इससे स्वयंसेवकों में विभिन्न प्रकार की प्रतिभा भी विकसित हो सकती है।

टीम भावना

अपने समाज में व्यक्तिशः बड़े–बड़े कार्य संपन्न करनेवाले व्यक्ति अनेक दिखाई पड़ेंगे, किंतु मिलकर दस व्यक्ति किसी सामाजिक, राष्ट्रीय या परोपकारी कार्य को सफलता के साथ पूर्ण करते हुए अपवाद स्वरूप ही देखने को मिलेंगे। टीम भावना से कार्य करने की प्रवृत्ति अपने

समाज में कम दिखाई पड़ती है। अपने स्वयंसेवक शाखा के द्वारा निश्चित कार्यक्रम संपन्न करते समय उच्चतम प्रकार की टीम भावना प्रकट करते हैं। उन्हें सामाजिक कार्यों में भी यह भावना प्रकट करने का अवसर तथा प्रोत्साहन प्रदान करना चाहिए।

पारिवारिक दायित्व

सभी स्वयंसेवकों को अपने पारिवारिक जीवन से उदास बनाना अपना लक्ष्य नहीं है, अपितु हम पसंद करेंगे कि अपने स्वयंसेवकों का परिवार सामाजिक दायित्व निभाने की प्रेरणा प्रदान करनेवाले केंद्र के रूप में विकसित हो। स्वयंसेवकों को यह दृष्टि शाखा में प्राप्त हो, इसकी हमें विशेष व्यवस्था करनी चाहिए। अन्यथा आज अपनी पारिवारिक खुशहाली के लिए जो बेईमानी और भ्रष्टाचार बढ़ रहा है तथा परस्पर अविश्वास और सामाजिक अव्यवस्था का असह्य वातावरण बन गया है, उसका उपाय खोजना असंभव हो जाएगा। आज भी तथाकथित अन्य नेताओं के लिए असाध्य अनुभव होनेवाला यह रोग उपर्युक्त दृष्टि अपनाकर संघ द्वारा दूर किया जा सकता है। वैसे भी संघ का यह अघोषित किंतु स्वयं स्वीकृत लक्ष्य है। राष्ट्रीय भावना के विकास एवं समाज धारणा के लिए यह कार्य अनिवार्य है।

हर स्वयंसेवक की सामाजिक जीवन के किस कार्य में रुचि हो या किस सामूहिक आवश्यकता की पूर्ति या समस्या निवारण करना वह पसंद करता है, इस संबंध में उसके साथ विस्तार से विचार विनिमय कर उस पर उस कार्य का दायित्व सौंपना चाहिए। उस कार्य के संबंध में उसका समुचित अध्ययन, चिंतन और प्रगति हो रही है, इसकी समय-समय पर देखभाल करना और उसे उस काम में सफलता प्राप्त करवाने का भी हमें ध्यान रखना होगा।

उपर्युक्त चार बातें तो तीनों प्रकार के स्वयंसेवकों के लिए समान रूप से आवश्यक हैं। इसके अतिरिक्त तीनों अवस्था के स्वयंसेवकों में से हरेक के लिए कार्य की अलग-अलग भी रचना करनी होगी।

विद्यार्थियों में अध्ययन रुचि

अंतर्निहित असीम शक्ति से संपन्न विद्यार्थी वर्ग संघ कार्य का सर्वश्रेष्ठ साधन रहा है और रहेगा। उपरोक्त विवेचन के संदर्भ में भी इसी वर्ग पर सर्वाधिक बल देना स्वाभाविक है। इस आयु में व्यक्ति की सभी शक्तियां उभार पर रहती हैं। उन्हें ठीक दिशा, सभी प्रकार के दायित्वों को निभाने की संतुलित कल्पना और प्रत्यक्ष जीवन में सामाजिक जीवन का उसकी रुचि के अनुरूप कार्य का चयन किया जा सका तथा उस दृष्टि से उसका विशेष अध्ययन प्रारंभ करा दिया तो वह हमारी कल्पना के अनुसार राष्ट्र निर्माण के कार्य में कीर्तिमान प्रस्थापित करता दिखाई पड़ेगा। उसके लिए निम्न कदम उठाने आवश्यक हैं—

स्कूल या कॉलेज की पढ़ाई की वे उपेक्षा न करें। पढ़ाई में विशिष्टता पानेवाला स्वयंसेवक अध्यापक, विद्यार्थी एवं परिवार में सहज में ही प्रतिष्ठा पाता है। वह विद्यार्थी वर्ग को उचित दिशा

देने में अधिक उपयोगी सिद्ध हो सकता है। प्रारंभ काल में संघ के प्रचारकों ने पढ़ाई में प्रथम श्रेणी में प्रथम स्थान प्राप्त करते हुए कठिन अवस्था में भी संघ कार्य कर दिखाया है। यह आदर्श हर एक के लिए संभव न हुआ तो भी प्रत्येक स्वयंसेवक पढ़ाई में भी अच्छा सिद्ध हो सकता है।

संघ में पालन किए जानेवाले अनुशासन का स्वभाव उनके जीवन के अन्य क्षेत्रों में भी प्रकट होना चाहिए। यह दृष्टिकोण उसमें विकसित करने का हमें विशेष प्रयास करना होगा। तभी सामाजिक दायित्व निभाने में वह सफल हो सकेगा।

समाज में प्रचलित सभी आजीविका के साधन किस रूप में समाज या राष्ट्र सेवा के माध्यम बन सकते हैं, इसकी कल्पना समय-समय पर चर्चा द्वारा उन स्वयंसेवकों को दी जानी चाहिए जो पढ़ाई समाप्त कर कमाई के काम में लगनेवाले हों।

इन साधनों में संलग्न लोगों की दृष्टि और व्यवहार कैसा होना चाहिए तथा उससे क्या परिणाम निकल सकते हैं, इसकी उन्हें पूर्ण कल्पना देनी होगी। ये बातें उनके विकास में सहायक एवं दृष्टि प्रदान करनेवाली सिद्ध होंगी। इससे राष्ट्र निर्माण एवं समाज धारणा का मर्म सहज में ही उसके ध्यान में आएगा। आजीविका कमाने के लिए स्वयंसेवक जहां-कहीं जानेवाला हो, उससे उस शाखा का भी संबंध बना रहे, इसकी व्यवस्था विकसित करनी होगी। इससे संघ को अपनी सर्वव्यापी शक्ति का केवल ज्ञान ही नहीं रहेगा अपितु उसका विशेष उपयोग भी संभव होगा।

इसी से जिस किसी आजीविका के साधन को अपना स्वयंसेवक अपना लेगा, उस व्यवसाय में लगे लोगों के जीवन में आदर्श जीवन अपनाने को प्रेरणा देने में समर्थ बनेगा। अतः हम स्वयंसेवक के माध्यम से अपने सपनों का समाज खड़ा कर पाने में सफल होंगे। इस प्रकार संघ शाखाएं समाज को चारों इकाइयों में परस्पर सामंजस्य निर्माण करने तथा हर इकाई को दूसरे का पूरक बनाने में समर्थ हो सकेगी, जो समाज का युगानुकूल सर्वांगीण विकसित रूप खड़ा करेगी।

व्यवसायी वर्ग के बीच विश्वास निर्माण

आज जिन्हें आजीविका का साधन कहा जाता है, जिनके माध्यम से व्यक्ति अपने भरण-पोषण के लिए कमाई करता है, वह भी व्यक्ति को सामाजिक दृष्टि से दूर और पारिवारिक भावना में ही सीमित कर रखता है। संघ भावना के अनुसार और व्यावहारिक दृष्टि से भी उपर्युक्त स्थिति समाज की स्वस्थ रचना और राष्ट्र निर्माण के लिए प्रतिकूल है। उसमें दृष्टि का परिवर्तन समय की प्रमुख आवश्यकता है। कमाई में लगे, व्यक्ति जो शाखा में स्वयंसेवक के नाते आते हैं, उनसे इस स्थिति में परिवर्तन करने की दृष्टि से विस्तार से विचार-विनिमय करना होगा। इस विचार-विनिमय में से दृष्टि परिवर्तन एवं व्यावहारिक उपायों की खोज होगी। यह कार्य यद्यपि अति कठिन है, फिर भी इसे हाथ में लिए बिना परिस्थिति में सुधार तथा संघ का ध्येय साकार करना संभव नहीं। जो लोग व्यवसाय में संलग्न हैं, जिन्हें गलत ढंग से कमाई की आदत लग गई है, चारों ओर का वातावरण उन्हें इसके लिए केवल प्रोत्साहित ही नहीं बाध्य भी करता है, फिर भी उनमें दृढ़

इच्छाशक्ति निर्माण करने के लिए संघ शाखा के नित्य नियमित संस्कार परिणामजनक सिद्ध किए जा सकते हैं। इसके लिए अपने स्वयंसेवकों द्वारा विभिन्न आजीविका के साधनों में संलग्न व्यक्तियों के बीच वातावरण बनाया जा सकता है। इसके लिए अनेक प्रकार के कार्यक्रम शाखा के अतिरिक्त हाथ में लेना संभव हो सकता है।

संघ प्रेरित ऐसी परिषदें भी खड़ी की जा सकती हैं, जो इसके लिए ऐसे कार्यक्रमों की रचना करें, जो कार्यक्रम प्रत्यक्ष संघ शाखा पर लेना संभव नहीं हो सकते। इस दिशा में लक्ष्य केंद्रित कर प्रयास किया गया तो सहज में ही संघ की महत्ता, आवश्यकता और उपयोगिता समाज के सभी स्तर के लोगों के ध्यान में आ सकेगी। हो सकता है प्रारंभ में इन प्रयासों का उपहास हो, किंतु इस पर बराबर अड़े रहकर हम आगे बढ़ते गए तो आज समाज में चारों ओर जो काम कम और दाम अधिक की भावना प्रचलित है और वह राष्ट्र के सर्वांगीण विकास में बाधक सिद्ध हो रही है, दूर हो सकती है। अधिकार की भावना के स्थान पर कर्तव्य की महत्ता जीवन में स्थान पा सकती है और वातावरण में उज्ज्वल भविष्य के प्रति विश्वास की लहर संघ के द्वारा खड़ी की जा सकती है। सामाजिक जीवन की इस तृतीय इकाई में संलग्न स्वयंसेवकों का समुचित मार्गदर्शन और इसमें पग-पग पर खड़ी होनेवाली कठिनाइयों में से मार्ग निकालने की व्यावहारिक सलाह देने की हमें स्थायी व्यवस्था करनी होगी। यह संघ का स्वाभाविक दायित्व है।

अवकाश प्राप्त व्यक्तियों का उपयोग

संघ शाखा में ऐसे लोग भी जाते हैं, जिन्होंने नौकरियों या अन्य कमाई के साधनों से अवकाश प्राप्त कर लिया है या करने जा रहे हैं। ऐसे लोग शारीरिक दृष्टि से शायद बहुत अधिक परिश्रम नहीं कर सकेंगे किंतु उनके समय और शक्ति का उपयोग हम समाज के दीन, दु ःखी और उपेक्षित लोगों के लिए सहायक बनने में कर सकते हैं। कोई नगर या ग्राम ऐसा देखने को नहीं मिलता, जहां ऐसे लोगों की संख्या न हो। समाज के सभी स्तर के अवकाश प्राप्त लोगों को इस दिशा में उपयोग करने की समुचित योजनाएं सहज चलाई जा सकती हैं।

संघ प्रेरित कार्यों में सामंजस्य और सहयोग

संघ की प्रेरणा एवं योजना से अनेक कार्य चल रहे हैं। उन कार्यों में संघ के अनेक निष्ठावान कार्यकर्ता संलग्न हैं। अपने-अपने क्षेत्र में उन्होंने प्रभाव भी निर्माण किया है। इनमें से अनेक कार्य प्रतिस्पर्धात्मक हैं, जैसे हिंदुस्थान समाचार, भारतीय मजदूर संघ, विद्यार्थी परिषद्, जनसंघ, विश्व हिंदू परिषद्, किसान संघ, कल्याण केंद्र, विवेकानंद शिला केंद्र, दीनदयाल शोध संस्थान तथा मासिक, साप्ताहिक एवं दैनिक समाचार-पत्र। सबका क्षेत्र अलग-अलग है। इनके प्रतिद्वंद्वी भिन्न-भिन्न हैं, किंतु प्रतिस्पर्धा के फल का प्रभाव संपूर्ण संघ परिवार पर पड़ता है। इस कारण यह कार्य अपने-अपने क्षेत्र में स्वतंत्र रहते हुए भी इनमें सभी स्तरों पर आपसी विचार-विनिमय, सामंजस्य, सहयोग और परस्पर संबंधों का ठीक संतुलन बनाए रखने की नियमित विधि विकसित

करनी जरूरी है। उसका स्वरूप अनौपचारिक हो सकता है। इससे वे अपने-अपने क्षेत्र में अधिक प्रभावी एवं उन सबका मिला-जुला प्रभाव संपूर्ण संघ परिवार के लिए लाभदायी सिद्ध हो सकेगा और कभी-कभार दिखाई पड़नेवाला आपसी तनाव सहज में ही दूर किया जा सकेगा।

मजदूर संघ, किसान संघ तथा जनसंघ इन तीनों के कार्य क्षेत्रों का स्पष्ट विभाजन करना लगभग असंभव है। इन सब कार्यों का संपूर्ण समाज से सीधे संबंध आता है। इनके कार्यक्रम अनेक बार समान समस्याओं को लेकर बनते हैं। फलस्वरूप इन सबके विचार, साहित्य एवं कार्यक्रमों में तालमेल होना बहुत ही जरूरी है। अन्यथा परस्पर विरोधी भावनाएं संघ परिवार का वातावरण बिगाड़ने के कारण बनेंगी।

उपरोक्त क्षेत्रों में बहुत पहले से विभिन्न संस्थाएं कार्य कर रही हैं। परिणामस्वरूप उन कार्यों की परंपराएं बन गई हैं। वे परंपराएं राष्ट्र निर्माण की दृष्टि से ठीक नहीं कही जा सकतीं। अनेक विकृतियों को जन्म देनेवाली सिद्ध हो रही हैं। इस कारण इन क्षेत्रों में नया दृष्टिकोण एवं नई परंपराएं निर्माण करने का अपना लक्ष्य होना चाहिए। कई बार यह बात देखने को मिल रही है कि संघ के द्वारा दिए गए दायित्व को निभाने में वर्तमान परिस्थिति में बहुत कठिनाई होती है। ऐसी स्थिति में भी अपनी दिशा पर दृढ़ता के साथ अड़े रहकर नई परंपराएं, जो राष्ट्र निर्माण और समाज धारणा की दृष्टि से आवश्यक हैं, निर्माण करनी होंगी। इसलिए संघ को इन सभी क्षेत्रों में अपने कार्यकर्ताओं के प्रशिक्षण के लिए विशेष व्यवस्था करनी पड़ेगी।

इन सभी कार्यों के लिए अलग-अलग और स्वतंत्र संगठनों के होते हुए भी साल में एक बार इन सभी का भारतीय स्तर पर कम-से-कम पांच दिन का सम्मिलित कार्यक्रम अति आवश्यक है। इससे संपूर्ण समाज के साथ सीधे संबंध रखनेवाले एक ही ध्येय से प्रेरित किंतु भिन्न-भिन्न क्षेत्र में काम करनेवाले अपने कार्यों में आवश्यक सामंजस्य निर्माण होगा, एक-दूसरे के अनुभवों से परस्पर लाभ होगा। सबकी दिशा-प्रगति, समस्याएं और आवश्यकताओं से संघ नेतृत्व परिचित होता रहेगा। इसी में से सबका मार्गदर्शन करने की व्यवस्था भी पनपेगी।

सार्वदेशिक स्तर पर पत्रों का संचालन

संपूर्ण समाज का दिशादर्शन करने की दृष्टि से संघ के द्वारा संचालित साप्ताहिक पत्र अनेक वर्षों से देश की लगभग सभी प्रमुख भाषाओं में प्रकाशित हो रहे हैं। अनेक स्थानों से दैनिक पत्र भी प्रकाशित होते हैं। इसके अतिरिक्त अपने कुछ मासिक पत्र भी हैं। देश में यह एक बहुत बड़ी शक्ति है, जो संभवतः अन्य किसी एक संगठन के पास नहीं है। इन सब पत्रों को मिलाकर जितना प्रभाव संपूर्ण देश में निर्माण किया जा सकता है, उतना हम नहीं कर पा रहे हैं। किसी एक विषय को लेकर हम सब भाषाओं के लोगों को प्रभावित कर सकते हैं, किसी समस्या को लेकर उसके निरीक्षण और निराकरण की दृष्टि से हम सब भाषाओं के माध्यम से सार्वदेशिक स्तर पर एक निश्चित दिशा प्रदान कर सकते हैं, किंतु यह करने के लिए इनके संचालक और संपादकों का सामूहिक चिंतन, सामूहिक योजना और सामूहिक कार्यक्रम की व्यवस्था हमने नहीं

की है। इनका आपस में संबंध और परिचय भी नहीं के बराबर है। हमें इस दृष्टि से कुछ ऐसी व्यवस्था विकसित करनी चाहिए कि वर्ष में कम-से-कम दो या तीन बार इन सभी पत्रों के संपादक और व्यवस्थापक एकत्र होकर और कम-से-कम तीन दिन एकत्र रहकर संपूर्ण देश की परिस्थिति पर तथा पत्रकारिता की समस्याओं पर विचार-विनिमय करते हुए 4 माह के लिए संयुक्त योजना बना सकें। संपूर्ण समाज के साथ अपने जिन कार्यों का प्रत्यक्ष संबंध आता है, ऐसे कार्यों के प्रमुख व्यक्ति भी इनके साथ ऐसे सम्मेलन के अवसर पर विचार-विनिमय में सम्मिलित रहें। उनकी उपस्थिति इसलिए नितांत आवश्यक है कि प्रचार और व्यवहार में सामंजस्य बना और बढ़ता रहे, इससे हमारे विचारों का जनमानस पर अपेक्षित प्रभाव निर्माण होगा। सब संपादकों तथा अन्य सामाजिक या राजनैतिक क्षेत्र में कार्य करनेवाले अपने कार्यकर्ताओं को सामूहिक चिंतन और नीति निर्धारण कराने में सुगमता होगी—सबकी एक दिशा रहेगी। उसका केवल संघ परिवार को ही नहीं, समाज को भी लाभ होगा और सब कार्यों में गति आएगी तथा अपनी संपूर्ण शक्ति का पूरा-पूरा उपयोग होगा।

पत्रकारिता प्रशिक्षण

हमें अपने ही पत्रों के लिए योग्य संपादक और संवाददाता मिलना कठिन हो जाता है। इस अभाव की पूर्ति का विचार आवश्यक है। हमारे अपने पत्रों के अतिरिक्त अन्य पत्र-पत्रिकाएं भी बहुत बड़ी संख्या में प्रकाशित होती हैं और होती जाएगी। उनमें प्रवेश कर उनका अपने लिए उपयोग करने का भी हमें विचार करना चाहिए। आकाशवाणी भी जगह-जगह अपनी संवाददाता रखती है। उसमें भी अपने प्रशिक्षित लोग प्रवेश पा सकते हैं। अतः अपने पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से हमें पत्रकार तथा लेखकों के प्रशिक्षण की व्यवस्था करनी चाहिए।

अपने देश में किसी-किसी जिले से जिला साप्ताहिक प्रकाशित होते हैं, किंतु उनका कोई स्तर नहीं है। आवश्यकता है हर एक जिले में जिला पत्र की। उसका ग्राम-ग्राम में प्रसार हो। अपना जिला प्रदेश और देश की मोटी-मोटी खबरें ग्रामीण बंधुओं तक पहुंचें। समस्याएं—उनका रूप, कारण और निवारण के प्रयासों की उन्हें जानकारी मिले। इस कार्य को धीरे-धीरे अपने लोग व्यक्तिशः या सहकारी प्रयासों के रूप में चला सकते हैं। इस दिशा में हमें सोचना चाहिए। सामाजिक पुनर्रचना में इनसे महत्त्वपूर्ण योगदान संभव है। अतः हम अपने साप्ताहिक और दैनिकों की ओर से डिप्लोमा कोर्स तैयार कर कम-से-कम एक वर्ष की प्रशिक्षण व्यवस्था करें।

इस योजना को हाथ में लेना सामयिक और आवश्यक जान पड़ता है। यह सब कार्य इस क्षेत्र में लगे लोगों द्वारा ही चलाया जा सकता है।

भारतीय साहित्य परिषद्

इन समाचार-पत्रों के अतिरिक्त अनेक स्थानों से हमारे द्वारा समय-समय पर पुस्तक प्रकाशन का भी कार्य चल रहा है। उनकी भी परस्पर सहयोग की व्यवस्था खड़ी करनी चाहिए। उपयोगी

और प्रभावी प्रकाशन एक ही समय अनेक भाषाओं में प्रकाशित करना अपने लिए सहज संभव है। इनके माध्यम से देश के अनेक पुस्तक प्रकाशकों को हम एक साथ ला सकते हैं। उनके द्वारा हम लेखकों को भी अपने साथ जोड़ सकते हैं। साहित्य के हर क्षेत्र में हम राष्ट्रीय विचारों का प्रभाव निर्माण कर सकते हैं। यह कार्य अपने लिए संभव है और देश के लिए लाभदायक भी।

देश में अनेक लेखक हैं। साहित्यकार हैं। नए-नए लेखक निर्माण हो रहे हैं। इनका प्रादेशिक और भारतीय स्तर पर हम एक मंच खड़ा करें। नया रुचिकर साहित्य समाज को गलत दिशा दे रहा है। हम उन लेखकों में से अनेक को एक मंच पर लाने का उपक्रम कर सकते हैं। उनकी गोष्ठियां कर विचार-विनिमय के द्वारा अपनी कलाकृति को रुचिकर रखते हुए भी हमारे दृष्टिकोण के अनुसार दिशा देने के लिए धीरे-धीरे उन्हें राजी किया जा सकता है। आवश्यकता है इस दिशा में प्रयास की। कहीं-कहीं यह कार्य चालू हुआ है। उसे हर संभव प्रोत्साहन, दिशा और गति देने की आवश्यकता है।

नई शिक्षा पद्धति

हमें अपने कार्य की दिशा में भी थोड़ा सा परिवर्तन करना आवश्यक है। समाज के हर वर्ग में हम अपना प्रभाव निर्माण करने का प्रयास करते रहे हैं। उसमें हमें सफलता भी मिलती है, किंतु केवल प्रभाव निर्माण तक अपने कार्य को सीमित रखकर न हम अपने प्रभाव को टिकाए रख सकेंगे, न अपना लक्ष्य सिद्ध कर पाएंगे।

माध्यमिक शिक्षक संघ के नाम से चलनेवाली संस्था में सम्मिलित होकर उसमें हमने अपना प्रभाव निर्माण किया है। अपने प्रमुख लोगों द्वारा शिशु मंदिरों से लेकर डिग्री कॉलेज तक की शिक्षा संस्थाएं चलाई जा रही हैं। इनमें कार्य करनेवाले अध्यापकगण संघ कार्य के विस्तार की दृष्टि से उपयोग में आते हैं। उनका यह उपयोग आवश्यक और स्वाभाविक है, किंतु इतने उपयोग मात्र से संतुष्ट हो जाना पर्याप्त नहीं है।

स्वतंत्रता पाए 27 वर्ष का लंबा काल बीत गया है। इस काल के प्रारंभ से ही शिक्षा पद्धति में आमूल-चूल परिवर्तन करने की चर्चा राष्ट्रपति एवं प्रधानमंत्री से लेकर जिला और विकास प्रखंड तक का तथाकथित नेतावर्ग करता चला आ रहा है। इस कार्य के लिए अनेक आयोग भी गठित हुए। लाखों रुपया व्यय हुआ। आयोगों के प्रतिवेदन तैयार हुए और छप गए, किंतु शिक्षा का रूप जो 27 वर्ष पूर्व था, उसमें आवश्यक परिवर्तन न हो पाया।

संघ की सर्वविदित धारणा है कि हर बात में सरकार पर निर्भर रहना उचित नहीं है। हम शिक्षा के सरकारीकरण के भी विरुद्ध हैं। शेष विचारक इस संबंध में न विशेष चिंता करते हैं, न प्रयास। अध्यापकगण शिक्षक संघों के माध्यम से अपना वेतन और नौकरी की सुरक्षा को सर्वाधिक महत्त्व देकर शिक्षा सरकारीकरण की मांग पर बल देते जा रहे हैं। संघ के अध्यापक स्वयंसेवक ऐसी स्थिति में पसोपेश में पड़े हुए हैं। किसी नई दिशा के अभाव में वे इस क्षेत्र में और क्या किया जाए, इसकी स्पष्ट दिशा तय नहीं कर पा रहे हैं।

विराट् पुरुष

अपने पास सभी स्तरों के अध्यापक, प्राध्यापक, आचार्य और प्राचार्य स्वयंसेवकों के रूप में देश भर में अच्छी संख्या में हैं। शिशु मंदिरों से लेकर स्नातकोत्तर महाविद्यालय जैसी शिक्षण संस्थाएं अपने स्वयंसेवकों के अधिकार में हैं, जिनका नए प्रयोगों के लिए वे उपयोग कर सकते हैं।

आवश्यकता है इन लोगों को दिशा देने की और अपने मूल्यों पर आधारित आधुनिक विज्ञान और तकनीकी का पूरा लाभ उठाते हुए नई शिक्षा पद्धति का आविष्कार करने का, इन पर दायित्व सौंपने की। वे दुनिया भर की प्राचीन तथा आधुनिकतम शिक्षा पद्धतियों का अध्ययन करेंगे। उस पर वे व्यक्तिगत मनन तथा सामूहिक चिंतन करेंगे। अपने देश की अवस्था परिस्थिति-प्रवृत्ति, प्रतिभा और आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर उपलब्ध सामग्री का भी उपयोग करते हुए प्राथमिक शिक्षा से लेकर विश्वविद्यालयीन पाठ्यक्रमों पर प्रयोग करेंगे। उसी में से हमारे लिए आदर्श शिक्षा पद्धति का रूप निखरने लगेगा। यह कार्य सतत चलनेवाला है। आवश्यकता है प्रेरणा देने की और प्रोत्साहित करने की। इस कार्य में अपने अनेक अध्यापकों के अंदर सुप्त पड़ी प्रतिभा का हमें पता चलेगा और ऐसे प्रतिभाशाली बंधु-बहनों का सदुपयोग किया जा सकेगा। यह एक बहुत बड़ी उपलब्धि होगी अपने राष्ट्र-जीवन के लिए।

अनेक बंधुओं की धारणा बन रही है कि हम अनेक क्षेत्रों में संगठन तो खड़ा कर लेते हैं, किंतु उस क्षेत्र के ढांचे तथा दिशा में गुणात्मक परिवर्तन कर गति प्रदान करने में उल्लेखनीय कार्य नहीं कर पा रहे हैं।

विद्यालयों के माध्यम से विद्यार्थी वर्ग में ज्ञान संपादन, मानव को आत्मविश्वासी, आत्मनिर्भर तथा प्रतिभाशाली बनाने के लिए आवश्यक गुणों तथा कर्तृत्व का विकास कराकर दिखाया जा सका तो हम उस क्षेत्र में केवल अपनी विशेषता ही प्रस्थापित न कर सकेंगे अपितु विभिन्न स्तरों की शिक्षा पद्धति में आवश्यक परिवर्तन की दिशा निश्चित करने में अग्रसर हो सकेंगे।

संघ शिक्षा वर्ग

संघ ने अपनी कार्यवृद्धि एवं विस्तार के लिए पर्याप्त संख्या में प्रशिक्षित और ध्येयनिष्ठ कार्यकर्ता निर्माण की व्यवस्था संघ शिक्षा वर्ग के माध्यम से लगभग प्रारंभ से ही कर रखी है। यह व्यवस्था बहुत उपयोगी और सफल सिद्ध हुई है।

संघ ने अपने कार्य को देशव्यापी बनाने के बाद, धीरे-धीरे राष्ट्र जीवन के अनेक क्षेत्रों में कार्य करने के लिए अपने स्वयंसेवकों को प्रेरित किया है। इनमें और नए-नए क्षेत्र जुड़ते चले जा रहे हैं। जो स्वयंसेवक इन क्षेत्रों में कार्य कर रहे हैं, उनके पास संघ दृष्टिकोण की पूंजी है। उन कार्यक्षेत्रों की आवश्यकता के अनुसार हमने उन्हें प्रशिक्षित करने की कोई अलग से व्यवस्था नहीं की है। अन्यथा उन क्षेत्रों में अधिक सफलता प्राप्त करते।

इन सभी क्षेत्रों में पहले से ही अनेक व्यक्ति तथा संस्थाएं अपनी-अपनी दृष्टि लेकर कार्यरत हैं। सत्तारूढ़ दल तो इन सभी क्षेत्रों पर लाया हुआ है। उन्होंने वहां गलत दृष्टिकोण और गलत परंपराएं खड़ी कर रखी हैं। राष्ट्र-जीवन के लिए वे अहितकारी हैं।

उन क्षेत्रों में अपना-अपना प्रभाव बढ़ाने को सतत प्रतिस्पर्धा चल रही है। प्रतिस्पर्धा के आवेश में अपने स्वयंसेवकों का कदम कभी भूल से गलत दिशा में पड़ने की संभावना रहती है। इसका अनेक बार अनुभव भी आया है। अतः इसके लिए हमें विशेष व्यवस्था करनी होगी।

अपने स्वयंसेवकों ने जिन क्षेत्रों में अपनी योजनानुसार कार्य खड़ा किया है, उस कार्य में स्वयंसेवकों के अतिरिक्त अन्य लोग भी अनगिनत संख्या में संलग्न होते जा रहे हैं। वे संघ के दृष्टिकोण से अपरिचित होते हुए कार्य में पूरी लगन के साथ लगे रहते हैं। पर्याप्त समय भी देते हैं। उनमें योग्यता भी रहती है। ऐसी स्थिति में इस बात की भी संभावना हो सकती है कि उन क्षेत्रों में अपने दृष्टिकोण का आग्रह घटने लगे।

संघ की प्रेरणा से चलनेवाले सभी कार्यों के प्रमुखों को हम कल्पना दें कि वे अपने कार्यक्षेत्र में संलग्न लोगों में से चुने हुए उपयुक्त व्यक्ति संघ शिक्षा वर्ग में प्रशिक्षण के लिए भेजें। संघ शिक्षा वर्ग में प्रशिक्षण प्राप्त करने के कारण इन प्रशिक्षित लोगों द्वारा विभिन्न क्षेत्रों में जिस हेतु से हमने प्रवेश किया है, उनमें उपस्थित होनेवाली सब प्रकार की कठिनाइयों एवं बाधाओं को पार कर सफलता पाने में हमारी गति बढ़ सकेगी। संघ परिवार में परस्पर सामंजस्य बनाए रखना अधिक सरल रहेगा। हर क्षेत्र में संघ निष्ठा बलवान होती जाएगी। सब क्षेत्रों में अपनी पकड़ अच्छी रहेगी। अतः इस संबंध में हम विचार कर निर्णय लें। इसलिए हमें संघ शिक्षा वर्ग के कार्यक्रमों में कुछ और बातें जोड़नी पड़ेंगी। अर्थात् हमें संघ शिक्षा वर्ग की पुनर्रचना करनी होगी।

संघ का स्वयंसेवक अपने-अपने क्षेत्र में जहां कहीं वह है, समाज में फैली निराशा को घटा सके, समयानुकूल सामाजिक पुनर्रचना में सक्रिय योगदान दे सके, वर्तमान सामाजिक और आर्थिक समस्याओं के निराकरण को उचित दिशा और गति प्रदान कर सके, उसके चिंतन और प्रत्यक्ष कार्य की परिधि समाजव्यापी हो सके। यह सब साध्य करना होगा हमें अपनी कार्यपद्धति के माध्यम से ही। अतः हमें अपनी परंपरागत कार्यपद्धति में आवश्यक विकास करना नितांत आवश्यक है।

□

संघ का व्याप समाज के हर क्षेत्र में फैले

अपना समाज बहुत पुराना है। हजारों सालों से चली आ रही अनेक सामाजिक व्यवस्थाएं वर्तमान समय के साथ बेमेल हो रही हैं। आधुनिक विज्ञान के विस्मयकारी आविष्कार, आवागमन के द्रुतगतिमान साधन तथा नूतन औद्योगिक प्रगति ने परंपरागत मान्यताओं तथा पुरातन सामाजिक व्यवस्थाओं की जड़ें हिला दी हैं। वर्तमान समय में पुरातन मान्यताओं में से क्या उपयुक्त है तथा आधुनिक जीवन में से क्या-क्या हमारे जीवन-मूल्यों के अनुकूल हो सकता है, यह निश्चित कर उस पर सामाजिक मान्यता की मुहर लगवाने की स्थिति में आज कोई भी नजर नहीं आता। फलस्वरूप नई पीढ़ी में स्वैराचार का वातावरण बल पकड़ रहा है। इस संभ्रमित अवस्था से अनेक लोग चिंतित हैं। किंतु आजादी के 32 साल के बाद भी साहस के साथ युगानुकूल सामाजिक परिवर्तन का रचनात्मक सूत्रपात करने की योजना लेकर कोई आगे आता हुआ दिखाई नहीं पड़ता। यह विषय कुछ लोगों के वैचारिक मंथन तक सीमित होकर रह जाता है। फलस्वरूप समाज बिखरता चला जा रहा है। परस्पर अविश्वास का घुन जनजीवन को खोखला बना रहा है। जातिवाद भयानक रूप धारण कर रहा है। सांप्रदायिकता का अभिशाप घट नहीं रहा है। रक्तपात की घटनाएं आए दिन आतंक का वातावरण फैला रही हैं। उनका स्थायी निराकरण करने की दिशा में कोई भी सक्रिय नहीं है। परिणामस्वरूप जनसाधारण में निराशा बढ़ती जा रही है। सामाजिक व्यवस्था, व्यावसायिक नैतिकता, राजनीतिक प्रामाणिकता और प्रशासनिक शुचिता एवं निपुणता का बड़ी तेजी के साथ ह्रास हो रहा है। इसका लाभ विदेशनिष्ठ तत्त्व उठा सकते हैं। इस संभावना से राष्ट्रवादी लोग चिंतित हैं।

इस संभ्रमित अवस्था में बीच-बीच में समाज में अनेक विचारक इस विषय में संघ से अपेक्षाएं व्यक्त करते हैं, किंतु इस चिंताजनक अवस्था में राष्ट्रीय दायित्व निभाने के लिए स्वयंप्रेरित एवं प्रतिज्ञित हम स्वयंसेवक आवश्यक सिद्धता रखते हैं या नहीं, यह प्रश्न मन को कुरेदता रहता है। इसी कारण मन में उठनेवाले विचार प्रस्तुत करने के लिए विवश हूं।

संघ का कार्यक्षेत्र

यह बात पूर्ण सत्य है कि हमारे दैनंदिन कार्य को बनाए रखना वर्तमान परिस्थिति में भी परम

डीआरआई दस्तावेज, 15 मार्च, 1980

आवश्यक है। वह ही हमारी शक्ति का अखंड स्रोत है, किंतु दैनंदिन शाखा चलाना मात्र ही सर्वस्व है, यह दृष्टिकोण अपर्याप्त जान पड़ता है।

शाखाओं के माध्यम से संस्कार करते समय हमें इस बात की भी व्यवस्था करनी होगी कि शाखा में प्रशिक्षित स्वयंसेवक सामाजिक जीवन को अपने स्थायी जीवन-मूल्यों के आधार पर युगानुकूल रूप प्रदान करने की क्षमता अपने में विकसित कर रहे हैं। वे इस दिशा में क्रियाशील एवं परिणामजनक सिद्ध हो रहे हैं। तभी संघ कार्य मानव निर्माण का कार्य है, यह धारणा सहज में ही सर्वमान्य होगी तथा समाज में उज्ज्वल भविष्य के प्रति आत्मविश्वास जग सकेगा।

स्व. परमपूज्य डॉक्टर साहब कहा करते थे, मैंने अनेक बार अपने अधिकारियों के बौद्धिक वर्गों में सुना है, ''संघ अन्य संस्थाओं के समान अपने जीवन में सिल्वर या गोल्डन जुबली मनाने की कामना नहीं रखता। मैं तो इसी जीवन में संघ का लक्ष्य सिद्ध हुआ देखना चाहता हूं।'' इससे स्पष्ट हो जाता है कि संघ के जन्मदाता की आकांक्षा क्या थी।

जहां तक संघ के प्रचारक का प्रश्न है, वह अपने जीवन में व्यक्तिगत तथा राष्ट्रीय इकाइयों में ही सीमित हैं। प्रचारकों का जीवन सामान्य जीवन नहीं है। वे असमान्य जीवन बिताकर सामान्य लोगों में राष्ट्रीय भावना जाग्रत् करने तथा पारिवारिक एवं व्यावसायिक जीवन चलाते हुए भी लोगों को संघ कार्य के लिए प्रवृत्त करने का आवश्यक कार्य करते हैं, किंतु वे अपने आचरण से सर्वसाधारण नागरिकों के लिए आवश्यक व्यावहारिक एवं सामान्य जीवन का आदर्श प्रस्तुत नहीं कर सकते। कारण, उसका अपना न कोई पारिवारिक जीवन है, न व्यावसायिक जीवन। संघ प्रचारक तथा सभी स्वयंसेवकों को मिलाकर जो सामूहिक रूप बनता है, वह ही सही अर्थ में संघ है।

स्वार्थ और परमार्थ परस्पर-पूरक

जीवकोपार्जन करनेवाला व्यक्ति इस बात की अनुभूति कर सका या उसे यह अनुभूति कराई जा सकी कि वह जिस किसी आजीविका के कार्य में संलग्न है, उससे केवल उसका, उसके परिवार का ही उदर-भरण नहीं होता अपितु संपूर्ण समाज की आवश्यकता पूर्ण होती है—समाज की सेवा होती है, राष्ट्र का नवनिर्माण होता है। इस अनुभूति के कारण अपनी आजीविका में संलग्न व्यक्ति की जीवन दृष्टि में महान् परिवर्तन होगा। अनेक का हित साधन करने की अनुभूति उसे स्वाभिमान की भावना से पुलकित कर सकेगी। सामाजिक दायित्व की भावना उसमें सहज में ही जाग्रत् होगी। मैं स्वार्थी हूं—अपने उदर-भरण के अतिरिक्त कुछ भी करने में असमर्थ हूं, इस हीन भावना से वह मुक्त हो सकेगा। स्वातंत्र्य प्राप्ति के बाद किस प्रकार देश सेवा की जा सकती है, इसका स्पष्ट मार्ग लोगों के सम्मुख नहीं रहा। वह मार्ग प्रशस्त हो सकेगा। काम से जी चुराने या भ्रष्ट उपाय अपनाने की समाजघाती दुष्प्रवृत्ति घटती जाएगी। कम-से-कम काम अधिक- से-अधिक दाम की प्रचलित अभाव-वृद्धि की घातक प्रवृत्ति दूर हो सकेगी। लोगों की काम में लगन बढ़ेगी। अनेक में प्रतिभा का विकास होता हुआ दिखाई पड़ेगा। स्वार्थ और परमार्थ

का मार्ग एक और अभिन्न हो जाएगा। अतः स्वार्थ और परमार्थ परस्पर विरोधी न बन एक-दूसरे के पूरक बनेंगे। प्रामाणिकता के वातावरण की सृष्टि संभव होगी। समाज में सद्भावना का वातावरण पनप सकेगा। परस्पर विश्वास बढ़ेगा, जिससे सहयोग का वातावरण पनपेगा। सहयोग ही समृद्धि की जननी है। समृद्धि सांस्कृतिक विकास के मार्ग के सब रोड़े साफ करने में सहायक बनेगी।

हम अपने स्वयंसेवकों के माध्यम से हर परिवार एवं आजीविका के सभी साधन राष्ट्रीय चेतना से परिपूर्ण बना सकेंगे। पारिवारिक एवं व्यावसायिक इकाइयां संघ की कार्यपद्धति में समाविष्ट होते ही सामाजिक पुनर्रचना का चिरप्रतीक्षित कार्य प्रारंभ हो सकेगा। संघ को सामाजिक जीवन के विभिन्न क्षेत्रों के लिए जैसे, मजदूर-संघ-किसान संघ आदि। राजनीतिक दलों के समान अलग से मोरचे चलाने की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। नागरिकों के जीवन में अपने अधिकारों की नहीं, अपने कर्तव्यों की भावना भी प्रबल हो सकेगी। जनजीवन के दृष्टिकोण में गुणात्मक परिवर्तन होगा। परंपरागत जीवन-मूल्यों पर आधारित युगानुकूल समाज का रूप निखर सकेगा। यही संघ निर्माता का सपना था।

डॉक्टर साहब की दिव्य-दृष्टि

संघ के जनक परम पूज्य डॉक्टर साहब कहा करते थे, ''संघ का स्वयंसेवक केवल एक घंटे के लिए शाखा के समय में ही स्वयंसेवक नहीं है, अपितु दिन के चौबीसों घंटे स्वयंसेवक है।'' डॉक्टर साहब का यह कथन बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। संघ कार्य के अतिरिक्त अन्य किसी काम का दायित्व जिस पर नहीं है, ऐसा केवल एक प्रचारक वर्ग ही है। शेष अधिकांश स्वयंसेवकों के लिए अपने पारिवारिक एवं व्यावसायिक दायित्वों को निभाना अनिवार्य रहता है। डॉक्टर साहब के कथन का अर्थ ही यह है कि स्वयंसेवक पारिवारिक एवं व्यावसायिक दायित्वों को निभाते समय भी इस बात का ध्यान रखे कि वह संघ भावना से कार्यरत है। उसका कोई कदम ऐसा नहीं हो सकता, जो राष्ट्र या समाज के लिए किसी भी परेशानी का या नुकसान का कारण बने। उसके शुचितापूर्ण राष्ट्रीय व्यवहार से अन्य लोग प्रभावित हों। उसका अनुकरण करने की अन्य लोग प्रेरणा पा सकें। उसका हर क्षेत्र में अस्तित्व राष्ट्रीय चेतना का कारण बने। संभवतः इसी कारण स्व. परम पूज्य डॉक्टर साहब सोचते थे कि ग्रामीण अंचलों में जनसंख्या का एक प्रतिशत एवं नगर क्षेत्र में तीन प्रतिशत स्वयंसेवकों की संख्या पहुंच जाएगी, उस समय संघ कार्य अपना लक्ष्य सिद्ध कर लेगा, ऐसा माना जा सकेगा।

उपर्युक्त कार्य संघ कार्य ही है। वैसे भी अन्य किसी के लिए इतना कठिन, व्यापक एवं सातत्व से किया जानेवाला यह कार्य करना संभव नहीं है। न यह लक्ष्य सम्मुख रखकर अन्य कोई सक्रिय है। शासन या राजनीतिक दलों द्वारा यह कार्य किया जाना असंभव है। इस भावात्मक तथा रचनात्मक कार्य का बीज संघ द्वारा ही अंकुरित, पल्लवित, पुष्पित एवं फलित किया जा सकता है।

समाज जीवन की चारों इकाइयों में स्वयंसेवकों को काम करने की प्रेरणा एवं प्रशिक्षण देने

की व्यवस्था करनी होगी। स्वयंसेवकों के माध्यम से संघ का सर्वव्यापी रूप मौजूद है। उसे आवश्यक मोड़ देने मात्र की आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त अन्य सामाजिक पहलुओं के बारे में भी संघ का सक्रिय होना आवश्यक है।

हिंदू समाज एक कुटुंब

संघ अपने समाज को कौटुंबिक भावना से परिपूर्ण बनाना चाहता है। ऐसी स्थिति में बेल्ची, परसबीघा या पिपरा जैसी हृदयविदारक घटनाएं हमारे लिए ही सर्वाधिक लज्जा का कारण हैं। हमारे होते हुए अपने परिवार का एक घटक परिवार के अन्य घटक के साथ ऐसा अमानुषिक व्यवहार करने पर उतारू हो तो कौटुंबिक भावना व्यावहारिक जीवन में कैसे पनप सकेगी?

यह सत्य है कि संघ में ऊंच-नीच, छूत-अछूत, शिक्षित-अशिक्षित, धनी-गरीब आदि भेदभाव नहीं है। हम गत पचपन सालों से इस दिशा में काम करते चले आ रहे हैं, फिर भी संघ जीवन की एकता एवं अभिन्नता का देश के सामाजिक जीवन पर कोई प्रभाव हुआ हो, ऐसा कौन मानेगा? इन घटनाओं को राजनीतिक कहकर हम स्वयं को अलग नहीं रख सकते। ये घटनाएं सही अर्थ में राजनीतिक नहीं, हिंदू समाज की अपनी आंतरिक समस्याएं हैं। हिंदू कुटुंब के सदस्यों में परस्पर के प्रति जो घृणित भावनाएं परंपरा से चली आ रही हैं, उन्हीं का यह परिणाम है। अतः ऐसी घटनाओं से संघ स्वयंसेवकों को सबसे अधिक पीड़ा, लज्जा एवं चिंता अनुभव होनी चाहिए। किंतु हम इन घटनाओं की छाया तक में जाने की आवश्यकता अनुभव नहीं करते। हिंदू समाज के घटकों में व्यापक स्तर पर परस्पर आत्मीय संबंध निर्माण किए बिना इन घटनाओं का अंत संभव नहीं है। यह काम शासन नहीं कर सकता। पुलिस के द्वारा तात्कालिक शांति कायम करना इस समस्या का जड़मूल से निवारण करना नहीं है।

इन घटनाओं के विशेषतः तीन कारण हैं—

प्रथम है—अपने समाज में परंपरा से चली आ रही परस्पर के प्रति की धारणाएं,

दूसरा है—समाज में व्याप्त भयानक आर्थिक विषमता तथा

तीसरा है—इस भयानक स्थिति का राजनीतिक लाभ उठाने का प्रचलित पाप।

संभव है कि हम केवल प्रथम कारण के निवारण तक ही स्वयं को संबंधित मानें, किंतु सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक जीवन को एक-दूसरे से अलग मानकर चलना असफलता का ही कारण बनेगा। ये तीनों सामाजिक जीवन के अभिन्न पहलू हैं। इनका एक साथ और एक अभिकरण के माध्यम से उपचार करना होगा। 'अ' हमारा दायित्व है और 'ब' दूसरे किसी का दायित्व है, यह विवाद हिंदू कुटुंब के अधिक बिखराव में ही सहायक हो रहा है।

स्थायी प्रकोप उपेक्षित न रहें

जब कभी राष्ट्रीय संकट या प्राकृतिक प्रकोप के प्रसंग उपस्थित होते हैं, संघ स्वयं होकर

आगे आता है तथा आश्चर्यजनक क्षमता का परिचय देता है, किंतु समाज जीवन में व्याप्त परंपरागत अतिभयानक प्रकोपों का निवारण कौन करेगा? स्वाभाविक रूप से यह हमारा अपना दायित्व है—स्पष्टतः संघ का दायित्व है।

आजादी के 32 साल का काल व्यतीत होने पर भी देश में एक लाख सोलह हजार गांव ऐसे हैं, जहां साल में आठ माह तक पीने के पानी का पूर्णतः अकाल रहता है। हमारा शासन इस स्थायी प्रकोप से इन ग्रामों में रहनेवाले हमारे भाई-बहनों को मुक्ति दिलाने में असमर्थ सिद्ध हुआ है। वे अपने कुटुंब के सदस्य हैं। उनके लिए जो प्रकोप है, वह हिंदू कुटुंब के इस प्रकोप से अछूते अन्य सदस्यों के लिए भी उतनी ही चिंता का कारण होना चाहिए। तभी कौटुंबिक भावना की सजीवता मानी जाएगी। अपनी कुटुंब के समर्थ घटकों की पारिवारिक भावना जगाई गई, उन सबका सहयोग संगठित किया गया तो इस स्थायी प्रकोप का निवारण करना हमारे लिए संभव हो सकता है।

आर्थिक विषमता और संघ

अपने हिंदू कुटुंब के विभिन्न घटकों में आर्थिक विषमता कितना विकराल रूप धारण करती जा रही है। गरीबी की रेखा के नीचे कंगाली का जीवन बितानेवाले अपने भाई-बहनों का प्रतिशत निरंतर बढ़ता जा रहा है। ऐसी स्थिति में आर्थिक विषमता का कारण ज्ञात किए बिना अपने समाज के विभिन्न घटकों में कौटुंबिक भावना विकसित करना संभव नहीं होगा।

हमने वनवासी क्षेत्रों में काम करने पर बल देना प्रारंभ किया है। यह आवश्यक है। किंतु वनवासियों समान ही जिनकी दशा सब दृष्टियों से दयनीय है, ऐसे असंख्य अपने कौटुंबिक भाई-बहनें ग्रामों और नगरों में विद्यमान हैं। क्या वे हमारे द्वारा भी उपेक्षित ही रहेंगे? यह प्रश्न मन को बेचैन कर देता है। यदि संपूर्ण समाज हमारा अपना है तो सत्ता की अर्थात् वोट की राजनीति छोड़कर जीवन की अन्य कोई समस्या हमसे अछूती मानी नहीं जा सकती। कौटुंबिक भावना कुटुंब का कौन सा काम करना और कौन सा करना यह भेद नहीं मानती। आवश्यकता तथा परिस्थितिवश जो भी काम करना पड़ेगा, उसे करने की सिद्धता ही पारिवारिक भावना की परिचायक है। अतः हमारे कार्यक्षेत्र के अंतर्गत ये सब कार्य स्वाभाविक रूप में आते हैं। हर बात के लिए शासन पर निर्भर रहना सामाजिक चेतना के ह्रास का कारण बनता है। हर बात के लिए सरकार पर निर्भर रहना लोकतंत्र के लिए भी प्रतिकूल है। संघ की यही मान्यता है। हम अपनी मान्यता के अनुसार समाज खड़ा करें, यह हमारा स्वयंस्वीकृत कर्तव्य है।

हिंदू शब्द का विवाद

गत 5-6 सालों से संघ राजनीति के क्षेत्र में विवाद का विषय बना हुआ है। उस संबंध में मैं यहां कुछ कहना आवश्यक नहीं समझता, किंतु हम हिंदू शब्द के स्थान पर भारत शब्द का प्रयोग करें, इस बात का आग्रह हो रहा है। इस संबंध में अपना मत व्यक्त करने के स्थान पर मेरे मन में इसी

विषय को लेकर जो विचार उठता है, उसका यहां उल्लेख करना अधिक उपयोगी मानता हूं।

स्व. श्री मदन मोहन मालवीय जी ने अपने विश्वविद्यालय का नाम काशी हिंदू विश्वविद्यालय रखा था। वह नाम वैसा ही चलता चला आ रहा है। उसे बदलने की बात एकाध बार उठी अवश्य है। किंतु चली नहीं। ऐसा क्यों? हिंदू विश्वविद्यालय सबके लिए समान उपयोगी सिद्ध हो रहा है। दुनिया भर के विद्यार्थी वहां विद्याध्ययन कर रहे हैं। हिंदू शब्द के कारण वह विश्वविद्यालय प्रत्यक्ष जीवन में किसी एक वर्ग–जाति या मजहब तक सीमित नहीं है। हिंदू भाव की विशेषता हिंदू विश्वविद्यालय चरितार्थ कर रहा है। विद्यादान का उसका अखंड व्रत चलता चला आ रहा है। सब उसकी उपयोगिता एवं आवश्यकता अनुभव करते हैं। क्या यही कारण नहीं है कि आज भी विश्वविद्यालय के नाम से हिंदू शब्द जैसा था वैसा ही कायम है?

सामाजिक जीवन में तथा विशेष रूप से उपेक्षित वर्गों में संघ कार्य की उपयोगिता अनुभव की जाने लगी तो संघ किस नाम से काम करता है, इस बात पर विशेष आपत्ति नहीं रहेगी। सेवा कार्य करते समय प्राकृतिक प्रकोपों के शिकार कौन हैं, यह विभेद संघ ने कभी नहीं किया। जो भी प्रकोप के कारण पीड़ित हैं, उन सबकी समान आत्मीयता से सेवा की जाती है। उसी प्रकार उपेक्षितों के लिए हाथ में लिए विकास कार्यों में भी जाति या मजहब के आधार पर संघ विभेद की भावना नहीं रखता। सेवा करते समय पीड़ित एवं प्रताड़ितों की जाति या मजहब का विचार हिंदू संस्कृति एवं परंपरा में कभी नहीं रहा है। संघ उसी संस्कृति का अनुगामी है। अतः ऐसे कार्यों में संलग्न संघ किस नाम से काम कर रहा है, यह राजनीतिक स्वार्थ से प्रेरित विवाद अपने आप तिरोहित हो जाएगा। इस प्रकार के कार्य ही सब प्रकार के आरोपों के समुचित उत्तर सिद्ध होंगे। अतः हम निम्न कार्य हाथ में लें—

- अपनी पुरातन परंपराओं में युगानुकूल परिवर्तन करने की विधियां विकसित करना।
- समाज में व्याप्त आर्थिक विषमता घटाने के लिए विभिन्न प्रकार के कदम उठाना तथा
- संपूर्ण समाज में कौटुंबिक भावना को पुनर्जीवित करने के लिए विभिन्न प्रकार के सामूहिक कार्यक्रमों का नियमित आयोजन करना।

अपने द्वारा प्रकाशित साप्ताहिकों का इस कार्य में बहुत प्रभावी योगदान हो सकता है। देश में राष्ट्रीय नवनिर्माण में तथा सामाजिक पुनर्रचना में संलग्न पत्रिकाएं विकसित नहीं हुई हैं। हम अपने साप्ताहिकों को राजनीतिक विश्लेषण एवं आलोचनात्मक दायरे में सीमित रखकर अपनी लक्ष्य सिद्धि नहीं कर सकते। इन साप्ताहिकों को हम अपने पत्र कहें या न कहें, इस विवेचना में पड़ने के स्थान पर हम अपने साप्ताहिकों को राष्ट्र के नवनिर्माण के अधिकृत माध्यमों के रूप में विकसित करें तो सामाजिक पुनर्रचना की महान् आवश्यकता, जिसे पूर्ण करने में कोई रुचि नहीं ले रहा है, पूर्ण करने का युगानुकूल दायित्व निभाने तथा अपने राष्ट्र को परम वैभव प्राप्ति की दिशा में अग्रसर करने का समाधान प्रत्येक स्वयंसेवक को प्राप्त हो सकेगा।

□

सत्ता-प्राप्ति
स्वयं में साध्य नहीं

लोकसभा के मध्यावधि चुनाव परिणाम केवल अप्रत्याशित ही नहीं, कई दृष्टियों से चिंताजनक भी हैं। 1977 के चुनाव परिणामों ने जो विश्वास उत्पन्न किया था कि भारतीय जनता अधिनायकवादी प्रवृत्तियों को कदापि सहन नहीं करेगी—उस विश्वास को गहरा धक्का लगा है। आपातकालीन अधिनायकवाद की जननी श्रीमती इंदिरा गांधी व्यक्ति पूजा के ज्वार पर चढ़कर लोकसभा में दो तिहाई बहुमत प्राप्त करने में सफल हो गई हैं। 1977 के चुनावों के पश्चात् स्वतंत्र भारत में पहली बार लोकसभा में मान्यता प्राप्त विरोधी दल अस्तित्व में आया था, किंतु 1980 के चुनाव में वह स्थिति भी समाप्त हो गई। 1977 के चुनावों में देश के सामने कांग्रेस के नाम पर तीस वर्ष से चले आ रहे एकछत्र शासन के विकल्प के रूप में एक अखिल भारतीय राष्ट्रवादी दल के उभरने का दृश्य उत्पन्न हुआ था, किंतु इतने शीघ्र वह विकल्प बिखर जाएगा और भारतीय राजनीति पुनः क्षेत्रीय प्रभाव रखनेवाले छोटे-छोटे दलों में बिखर जाएगी, यह कल्पना किसी ने न की थी। यह सब कैसे हुआ? वर्तमान स्थिति में क्या दिशा-संकेत छिपे हैं? हमारी भावी भूमिका क्या हो? इन सब प्रश्नों पर बहुत गंभीरतापूर्वक विचार करना आवश्यक है।

30 अप्रैल, 1977 को हमने अपनी पुरानी संगठन नौका को जला देने की घोषणा के साथ अपने अस्तित्व को जनता पार्टी में विलीन कर दिया था। तब से हम लगातार कोशिश करते रहे हैं कि जनता पार्टी के भीतर हमारे अलग अस्तित्व का अहसास हमें या अन्यों को भी न हो, किंतु अब यहां इस इतिहास को दोहराने की जरूरत नहीं है कि किन लोगों ने और किस प्रकार हमारी इन कोशिशों को बेकार कर दिया। सत्ता-प्राप्ति की अपनी आकांक्षा को पूर्ण करने के लिए कैसे उन्होंने जनता पार्टी को तोड़ा तथा आज की दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति पैदा की।

पीड़ा तो यह है कि अपने इस पापपूर्ण कृत्य के लिए उन्होंने उलटे हमें ही कारण ठहराया। पार्टी की एकता के हित में हमारे मौन को हमारी कमजोरी समझा गया। घटकवाद के आधार पर अपनी शक्ति के अनुपात में सत्ता में हिस्सा न मांगने की हमारी सौजन्यता एवं त्याग भावना को

डीआरआई दस्तावेज, 16 जुलाई, 1981

सत्ता-प्राप्ति के लिए षड्यंत्र बतलाया गया। जनता पार्टी के प्रति हमारे कार्यकर्ताओं के निष्ठापूर्ण अनुशासित आचरण को पार्टी पर कब्जा करने की रणनीति कहा गया। आज भी अवशिष्ट जनता पार्टी में कभी-कभी हमें लगता है कि सब कोई हमारे कंधों पर बैठकर सत्ता के फल चखना चाहते हैं। उसमें थोड़ी भी निराशा होने पर पता नहीं चलता कि कौन कब दुलत्ती मारकर पार्टी से निकल भागेगा। हम चाहें या न चाहें, परिस्थितियों ने हमें अपने पुरानी संगठनात्मक पीठिका पर खड़े होकर वर्तमान राजनीतिक स्थिति का मूल्यांकन करने के लिए विवश कर दिया है।

हम स्मरण करें कि 21 अक्तूबर, 1951 को जब हमने स्व. डॉ. श्यामा प्रसाद मुखर्जी के नेतृत्व में भारतीय जनसंघ के नाम से राजनीति की पगडंडी पर अपना कदम रखा था, तब हमारे मन में क्या भाव था—आंखों में कौन सा सपना था? उदात्त भारतीय जीवन-मूल्यों के आधार पर युगानुकूल शोषणमुक्त समाज रचना करते हुए सुखी, समृद्ध एवं शक्तिशाली भारत के निर्माण का सपना हमारी आंखों में था। राजनीति के प्रति अन्य कोई आकर्षण हमारे मन में नहीं था। सत्ता को राष्ट्र निर्माण का एकमेव या मुख्य साधन हमने कभी नहीं माना था।

राष्ट्रनिर्माण का माध्यम लोकशक्ति

सांस्कृतिक अधिष्ठान पर खड़ी लोकशक्ति को ही हम राष्ट्र निर्माण का मुख्य माध्यम मानते आए हैं। भारत की लोकतांत्रिक चेतना के प्रति पूर्ण आस्था रखते हुए भी स्वाधीनता आंदोलन के अनेक अग्रणियों, जैसे अरविंद, विपिन पाल, लाजपत राय, महात्मा गांधी तथा सुभाष के समान हमें भी संदेह था कि स्वाधीन भारत को सांविधानिक रचना के लिए ब्रिटिश संसदीय प्रणाली का अंधानुकरण उपयुक्त रहेगा अथवा भारत को अपनी लोकतांत्रिक चेतना की अभिव्यक्ति के लिए अपना स्वतंत्र लोकतांत्रिक संविधान का कोई नया प्रकार ढूंढ़ना पड़ेगा। किंतु जब संविधान सभा ने, जिसमें स्वतंत्रता आंदोलन की भट्ठी में तपकर निकला हुआ ऐसा नेतृत्व था, जिसकी राष्ट्रभक्ति पर तनिक भी संदेह नहीं किया जा सकता था, वर्तमान संविधान को अपना लिया और निर्देशक सिद्धांतों के रूप में स्वतंत्रता आंदोलन को उदात्त प्रेरणाओं और सपनों को शब्द रूप प्रदान किया। उनकी प्राप्ति के लिए समयबद्ध संकल्प घोषित किया गया। उस समय हमने यह जानते हुए भी कि वर्तमान सांविधान 1860 से 1935 तक की उस सांविधानिक प्रक्रिया का विस्तार मात्र है। इसे ब्रिटिश साम्राज्यवादियों ने अपनी फूट डालो और शासन करो की नीति को कार्यान्वित करने के लिए ही भारत में आरोपित किया था। विभाजन की मार से खंडित भारत के पुनर्निर्माण की भावना से प्रेरित होकर सच्चे मन से हमने संविधानिक प्रयोग में सहभागी बनने का निश्चय किया। डॉ. श्यामा प्रसाद मुखर्जी के नेतृत्व में भारतीय जनसंघ का निर्माण हमारे इसी निश्चय का परिणाम था।

सांविधान द्वारा अंगीकृत लोकतांत्रिक, संप्रदाय-मजहब निरपेक्ष व शोषणमुक्त समाज की रचना के प्रति पूर्ण निष्ठा लेकर ही हम भारतीय जनसंघ के लिए ऐसी विचारधारा और कार्यक्रमों की खोज में लगे रहे, जिसके द्वारा उदात्त भारतीय जीवन पर अधिष्ठित, किंतु आधुनिक ज्ञान-

विज्ञान से संपन्न एवं आर्थिक और सामाजिक विषमता से मुक्त, अनुशासित तथा स्वच्छ राष्ट्र जीवन का निर्माण संपन्न हो सके। स्व. दीनदयाल उपाध्याय के नेतृत्व में हमारी इस वैचारिक खोज का परिणाम 1965 के विजयवाड़ा अधिवेशन में स्वीकृत 'सिद्धांत एवं नीति' शीर्षक दस्तावेज है—दीनदयालजी द्वारा प्रतिपादित 'एकात्म मानववाद दर्शन' है। हमारी विचार-यात्रा में ये महत्त्वपूर्ण मंजिलें हैं।

इस संविधानिक प्रयोग में सम्मिलित होते समय हमने आशा की थी कि स्वतंत्रता आंदोलन के जिस तपोपूत नेतृत्व के मार्गदर्शन में यह प्रयोग प्रारंभ हो रहा है, वह स्वस्थ लोकतांत्रिक परंपराओं की स्थापना के लिए हर क्षण जागरूक रहेगा। विभिन्न दलों के माध्यम से काम करनेवाले कार्यकर्ताओं की राष्ट्रभक्ति और संविधान निष्ठा के प्रति संदेह का वातावरण उत्पन्न नहीं होने देगा। स्वस्थ दलीय स्पर्धा को प्रोत्साहित करेगा। वैचारिक मतभेदों के बीच कुछ समान मुद्दों पर आम सहमति का वातावरण उत्पन्न करके राष्ट्र निर्माण के प्रयत्नों में सबको सहभागी बनाएगा। लोकतांत्रिक प्रयोग में सम्मिलित होनेवाले प्रत्येक नए राजनीतिक कार्यकर्ता के मन पर यह गहरा संस्कार अंकित करेगा कि सत्ता प्राप्ति स्वयं में साध्य नहीं है, वह राष्ट्र निर्माण के व्यापक प्रयत्नों में एक साधनमात्र है। हमारे दलीय स्पर्धा का उद्देश्य येन-केन प्रकारेण सत्ता हस्तगत करना नहीं अपितु सामूहिक विचार मंथन में से एक स्वस्थ राष्ट्रीय जीवन का विकास करना है। राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के इस महायज्ञ में प्रत्येक भारतीय को अपना योगदान देने के लिए प्रेरित करना है। दूसरे शब्दों में कहना हो तो लोकतांत्रिक समाज का शिलान्यास करना है।

जनसंघ पर बेबुनियाद आरोप

मुझे यह कहते हुए बहुत पीड़ा और लज्जा होती है कि प्रथम आम चुनाव के समय ही स्व॰ श्री जवाहरलाल नेहरू जैसे महान् एवं उत्तरदायी व्यक्ति ने उपरोक्त लोकतांत्रिक आदर्श को ताक पर रखा। जनसंघ पर उसके जन्मकाल से ही बेबुनियादी आरोप लगाकर लगातार प्रहार प्रारंभ कर दिए। संप्रदाय, जाति व क्षेत्रीयता पर आधारित संकुचित निष्ठाओं को उभारकर समूह विशेष के वोट पाने के लोभ में जनसंघ पर एक ऐसी छवि आरोपित करने का प्रचार-अभियान चलाया, जो जनसंघ न कभी था, न कभी वैसा बनना चाहता था। हमें मुसलिम विरोधी सिद्ध करने के लिए हिंदू संप्रदायवादी कहा गया। हरिजन विरोधी सिद्ध करने के लिए सवर्णों की संस्था बताया गया। दक्षिण विरोधी सिद्ध करने के लिए उत्तर भारत के हिंदी साम्राज्यवाद के अग्रणी कहा गया। समाज के निर्धन वर्गों को हमारा शत्रु बनाने के लिए पूंजीपतियों, जमींदारों और राजा-महाराजाओं का पोषक बताया गया। प्रगति विरोधी सिद्ध करने के लिए पुरातनवादी, कट्टरपंथी, दकियानूसी कहा गया। इन आरोपों को जानबूझकर बार-बार दोहराने का अभियान चलाया।

नेहरूजी एवं उनका अंधानुकरण करनेवाले तथाकथित प्रगतिवादियों एवं सेक्यूलरवादियों ने एक क्षण रुककर यह सोचने की आवश्यकता अनुभव नहीं की कि यदि मुसलिम विरोधी हिंदू

संप्रदायवाद एवं अंध पुरातनवाद ही जनसंघ की प्रेरणा है तो वह रामराज्य परिषद् एवं हिंदू महासभा से अपना पृथक् अस्तित्व क्यों बनाए हुए है? इन दलों के साथ मिलकर बड़ा दल बनाने के दबावों के विरुद्ध क्यों जूझ रहा है?

मुसलमानों को जनसंघ से दूर रखने के लिए पूरी शक्ति के साथ प्रयोग किया गया। प्रथम दिन से ही जनसंघ के मुसलिम कार्यकर्ताओं को 'हिंदू जनसंघ का बजरबट्टू' कहकर उनका मजाक उड़ाया जाने लगा। इन सब प्रयासों के बावजूद इन तीस वर्षों में अनेक राष्ट्रभक्त मुसलिम अंतःकरण से जनसंघ की ओर आकर्षित हुए। मो. इब्राहीम 1951 से ही, शफीक अहमद तातारी, आरिफ बेग आदि अनेक नाम इस शृंखला में गिनाए जा सकते हैं। इन मुसलिम कार्यकर्ताओं ने जनसंघ के अंतरंग में प्रवेश कर क्या देखा? क्या अनुभव किया? यह जानने-समझने की कभी कोई आवश्यकता नहीं समझी गई। जनसंघ ने राजस्थान, मध्य प्रदेश व जम्मू आदि में हिंदू बहुल चुनाव क्षेत्रों से अपने मुसलिम कार्यकर्ताओं को जिताकर दिखाया, किंतु इन सब तथ्यों को अनदेखा करके मुसलमानों को जनसंघ की ओर आने से रोका गया। घृणा और संदेह का यह जहरीला वातावरण पैदा करते समय नेहरूजी ने इतिहास के उन ताजे पन्नों को भी नजर अंदाज कर दिया। जिस प्रकार गांधी जी और उनके जैसे अन्य मानवतावादी विशाल हृदय नेताओं के सब प्रयत्नों के बावजूद ब्रिटिश शासकों ने अपनी 'फूट डालो और राज करो' नीति को क्रियान्वित करने के लिए कांग्रेस को हिंदू संस्था के रूप में मुसलमानों के सामने सदैव प्रस्तुत किया था। इसी का अंतिम परिणाम देश के विभाजन के रूप में देशवासियों को भुगतना पड़ा।

इसी प्रकार जनसंघ पर पूंजीपतियों एवं राजाओं का पक्षधर होने का आरोप लगानेवालों ने शायद जान-बूझकर यह देखने की कभी जरूरत नहीं समझी कि यदि जनसंघ का रुझान सचमुच पूंजीवाद की ओर होता तो न स्वतंत्र पार्टी का जन्म हुआ होता, न स्वतंत्र पार्टी के साथ विलय के प्रस्ताव को सैद्धांतिक आधार पर जनसंघ ने ठुकराया होता।

गरीबी को दूर करने और आर्थिक विषमता से मुक्त समाज के निर्माण की दिशा में जनसंघ के प्रामाणिक प्रयत्नों की प्रतिक्रियास्वरूप जनसंघ के ही कुछ सदस्य जनसंघ नेतृत्व पर कम्युनिस्टों के रास्ते पर बढ़ने का आरोप न लगाते। ये आरोप लगानेवाले स्वयं को पार्टी के भीतर अकेला न पाते और अंततः दल को छोड़कर अपने लिए अलग से डेढ़ चावल की खिचड़ी पकाने के लिए मजबूर न होते।

खैर, अपने जन्मकाल से ही हम चौतरफा हमलों के बावजूद और प्रथम आम चुनाव के पश्चात् डॉ. श्यामा प्रसाद मुखर्जी के प्रभावशाली नेतृत्व से वंचित हो जाने पर भी भारतीय जनसंघ अपने अगणित कार्यकर्ताओं की राष्ट्रभक्ति, आदर्शवादिता और परिश्रमशीलता के बल पर निरंतर प्रगति की ओर बढ़ता रहा। प्रथम आम चुनाव में ही हम एक मान्यता प्राप्त अखिल भारतीय राजनीतिक दल के रूप में उभरकर सामने आ सके। उसके पश्चात् 1952 से 1967 तक प्रत्येक चुनाव में

लोकसभा और विधान सभाओं में जनसंघ को प्राप्त सीटों की संख्या और मतों के प्रतिशत में वृद्धि के आंकड़े इस प्रगति के बोलते प्रमाण हैं।

निरंतर प्रगति

इस काल में अन्य सभी दलों की तुलना में जनसंघ की प्रगति निरंतर तेज होती गई। समाज के सभी वर्गों एवं मजहबों के लोग जनसंघ में एकता और अभिन्नता की अनुभूति करने लगे। जनसंघ का संगठन एक सफल राजनीतिक संगठन के रूप में अपने ही ढंग से विकसित हो रहा था। समाज के सभी वर्गों, जातियों तथा मजहबों से नौजवान जनसंघ में आए थे और आते जा रहे थे। उनका नेतृत्व व्यापक स्तर पर विकसित हो रहा था। समाज उनके व्यक्तित्व से परिचित होता जा रहा था। उनका प्रभाव क्षेत्र बढ़ रहा था। उनकी मान्यता वर्ग, जाति, क्षेत्र या मजहब की सीमाओं से अधिक व्यापक होती जा रही थी। जनसंघ जाति, मजहब, क्षेत्र या वर्ग के आधार पर नेतृत्व खड़ा करना गलत मानता रहा। इसी कारण श्री बाजपेयीजी ब्राह्मणों के नेता के नाते, श्री आडवाणीजी सिंधी नेता के नाते, श्री सूर्यभानजी हरिजन नेता के नाते, श्री आरिफ बेग मुसलमान नेता के नाते, श्री जगदंबीजी यादव यादव नेता के नाते, श्री कल्याण सिंह लोध नेता के नाते या श्री ओम प्रकाश सिंह कुर्मी नेता के नाते प्रसिद्ध नहीं रहे अपितु संपूर्ण समाज के नेता के नाते उभरते गए। यही जनसंघ की कार्यशैली की विशेषता थी, जो राष्ट्रीय एकात्मता की आवश्यकता पूर्ण करने की दिशा में बढ़ रही थी। जनसंघ निरंतर प्रगति कर रहा था।

डॉ. राम मनोहर लोहिया सरीखे वरिष्ठ नेता यह स्थिति देखकर चिंतित थे कि तीन आम चुनावों से गुजर लेने के बाद भी कांग्रेस के सत्ता पर एकाधिकार को चुनौती देने की शक्ति से युक्त अखिल भारतीय विपक्ष नहीं उभर पा रहा था, जो संसदीय प्रणाली की सफलता की पहली शर्त है। विपक्षी नेतृत्व परस्पर अविश्वास और संदेह की भावना से युक्त छोटे-छोटे दलों में बिखरा हुआ था। इस स्थिति में डॉ. लोहिया ने 1962 के चुनाव के बाद से सभी विपक्षी दलों को एक मंच पर लाने की इच्छा से 'गैर-कांग्रेसवाद' का नारा बुलंद किया। उसी में से संयुक्त विधायक दलों के प्रयोग का जन्म हुआ। इस प्रयोग में सम्मिलित होने के नियंत्रण को हमने स्वीकार किया। क्योंकि हमें लगा कि यद्यपि इस एकीकरण का आधार नकारात्मक है, तथापि इससे विभिन्न दलों के बीच विद्यमान अविश्वास और राजनीतिक छुआछूत की दीवारों को ढहाने में सहायता मिलेगी।

गैर-कांग्रेसवाद की सफलता

राष्ट्र निर्माण के प्रति एक-दूसरे की उत्कृष्टता और प्रामाणिकता को निकट से देखने-समझने के अवसर मिलने के कारण कुछ मूलभूत प्रश्नों पर आम सहमति पैदा होगी। परस्पर सहयोग से काम करने का वातावरण बनेगा। किंतु संविद के प्रयोग की जो हालत हुई, उससे सभी लोग भली-भांति परिचित हैं। संविद के प्रयोग में भीतर रहकर हमें विपक्षी नेताओं के अंतरंग एवं

राजनीतिक शैली को समझने का अवसर पहली बार मिला। हमें कितना धक्का लगा था यह देखकर कि अधिकांश नेताओं की राजनीति की प्रेरणा संविधान में निर्देशक सिद्धांतों के अंतर्गत घोषित लक्ष्यों की पूर्ति न होकर व्यक्तिगत सत्ता प्राप्ति की आकांक्षा मात्र है। उनके लिए सत्ता साधन न रहकर साध्य बन चुकी है। सत्तारूढ़ होने के लिए वे कुछ भी करने को, कोई भी मूल्य चुकाने को तैयार हैं। इस प्रयोग काल में हमने दलबदल के रोग को संक्रामक रूप में फैलते देखा। विधायकों की खरीद-फरोख्त होते देखी। सरकारों को गिरते देखा। संविद के भीतर विभिन्न घटकों एवं व्यक्तियों के बीच सत्ता के लिए निर्लज्ज छीना-झपटी होते देखी। दलों को टूटते देखा। भीतर रहकर पहली बार हमें राजनीति के निकृष्टतम अनैतिकता का तांडव नृत्य देखने को मिला।

1969 के राष्ट्रपति चुनाव, कांग्रेस का विभाजन, 1971 के मध्यावधि चुनाव एक के बाद एक सभी घटनाओं ने स्पष्ट कर दिया कि भारतीय राजनीति में अब नैतिकता व आदर्शवाद के लिए तनिक भी स्थान नहीं है। चुनावों को जीतना मात्र राजनीति की विशेषता मानी जा रही है। इस राजनीति के लिए आवश्यकता है विशाल धनराशि की, थोक वोटों को बटोरने के लिए जाति, संप्रदाय, भाषा, वर्ण व क्षेत्रीयता जैसी संकुचित निष्ठाओं को उभाड़ने की, चालाकी से की जानेवाली जोड़-तोड़ की। व्यापक और घनीभूत प्रचार तथा स्टंटों के बल पर अपनी छवि को खड़ा करने की।

हमने देखा कि 'गरीबी हटाओ' जैसे पवित्र राष्ट्रीय संकल्पों को किस प्रकार व्यक्तिगत सत्ता प्राप्ति का ओछा हथियार बनाया जा सकता है। एक व्यक्ति की छवि को उभाड़ने के लिए बैंकों के राष्ट्रीयकरण व प्रिवीपर्स उन्मूलन जैसे नाजुक विषयों को स्टंट बनाकर इस्तेमाल किया जा सकता है। हमने देखा कि किस प्रकार अल्पसंख्यकों के मन में भय और आतंक उत्पन्न करके उनके वोट अपनी झोली में डालने के लिए सांप्रदायिक दंगों की सृष्टि की जा सकती है। स्वाभाविक ही, ऐसी सत्तालोलुप अनैतिक राजनीति के कारण समाज भ्रष्टाचार के दलदल में आकंठ डूब गया। स्वातंत्र्य संग्राम में उभरे अखिल भारतीय राष्ट्रवाद के उच्च आदर्श से गिरकर जाति, संप्रदाय और क्षेत्रीयता के भेदों से ग्रस्त हो गया। हमारी समूची राष्ट्रीय यात्रा स्वाधीनता आंदोलन की दिव्य प्रेरणाओं से भटक गई। इस दृश्य को देखकर हमारे मन राजनीति के प्रति शंका-कुशंकाओं से भरे हुए थे। इस पूरे माहौल में हम स्वयं को असंगत पा रहे थे।

नैतिकता की विजय

इसी वातावरण में जयप्रकाशजी की गर्जना सुनाई पड़ी। अपने तप:पूत व्यक्तित्व को उन्होंने सत्तावाद और भ्रष्टाचार के विरुद्ध लड़ाई में झोंक दिया। सत्ता और वोट की अनैतिक राजनीति का स्वस्थ विकल्प ढूंढ़ने का उन्होंने राष्ट्र को आह्वान किया। सत्ता स्पर्धा में फंसी ध्येयहीन यात्रा को बंद कर जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में राष्ट्रीय लक्ष्यों की पुनर्व्याख्या और प्रस्थापना का उन्होंने आग्रह किया। उनके इस आंदोलन को समग्र क्रांति का नाम मिला। अपनी सत्ता निरपेक्षता एवं लोकप्रियता के कारण जे.पी. लोकनायक बन गए। यह आंदोलन भारतीय राजनीति को पुनः नैतिकता और

अधिष्ठत करने, स्वाधीनता आंदोलन की उदात्त प्रेरणाओं से जोड़ने और सत्ताभिमुखता के बजाय लोकाभिमुख बनाने का प्रयास था। जयप्रकाशजी ने जो कुछ कहा, वह पहले से ही हमारे मनों में घूम रहा था। अतः हम सहज रूप से समग्र क्रांति आंदोलन की ओर आकर्षित हुए। अपने दलीय अस्तित्व को दांव पर लगाकर पूरी शक्ति से हम उनके आंदोलन में कूद पड़े।

जयप्रकाशजी का महान् नेतृत्व सामने रहने के कारण देखते-देखते आंदोलन ने विराट् रूप धारण किया। तब जाकर अन्य राजनीतिक दल भी उनकी ओर आकर्षित होने लगे। इन राजनेताओं को पुनः आपस में मिलकर चुनाव लड़ने, यहां तक कि सब दलों को भंग कर एक दल को बनाने की चर्चा चालू की। हमें स्मरण है कि संविद प्रयोग के कटु अनुभवों के कारण हम इस बार विशेष सतर्क थे। हमारा आग्रह था कि दलों को विलीन करने के बजाय संयुक्त मोरचा (फेडरल पार्टी) बनाया जाए। धीरे-धीरे जब सामान्य कार्यकर्ताओं के बीच परस्पर विश्वास व सहयोग का वातावरण पैदा होगा तब तक एक दल बनाने की बात पर विचार करना ठीक रहेगा। उसी समय जनता मोरचा के नाम से गुजरात विधान सभा का चुनाव हमने मिलकर लड़ा। उसी समय प्रयाग उच्च न्यायालय का निर्णय आया। देश पर आपातकालीन अधिनायकवाद थोप दिया गया। विपक्ष का लगभग पूरा नेतृत्व जेलों में बंद कर दिया गया। देश के सामने 'लोकतंत्र बनाम अधिनायकवाद' का जीवन-मृत्यु का प्रश्न खड़ा हो गया। लोकतंत्र का समर्थन करनेवाली सभी शक्तियां अन्य मतभेदों को किनारे रखकर इस विकट संघर्ष में एक-दूसरे के निकट आई। हमें यह लगा कि यह विपत्ति भी राष्ट्र के लिए वरदान बन सकती है। समग्र क्रांति आंदोलन के पावन प्रवाह में से गुजरने तथा आपातकालीन संघर्ष की भट्ठी में तपने के कारण देश की राजनीति का चारित्रिक कायाकल्प हो सकेगा। हम इस आशावाद की सुखद कल्पना कर ही रहे थे कि लोकसभा चुनावों की घोषणा हो गई। जयप्रकाशजी की सद्प्रेरणा के कारण जनता पार्टी के नाम से हमने चुनाव लड़ा। विधिवत् पार्टी बनने के पहले ही उसे भारत की सत्ता प्राप्त हुई अर्थात् जनता ने हमें पुरस्कृत कर केंद्र की सत्ता हमारे साथ सौंप दी। 1 मई, 1977 को जनता पार्टी का विधिवत् निर्माण हुआ। हम मन, वचन, कर्म से उसमें विलीन हो गए।

वोट क्रांति के इस चमत्कार का लाभ उठाकर हम इस देश की राजनीति को एक नया और स्वस्थ आयाम दे सकते थे। सत्ता को व्यक्तिगत अहं की तुष्टि के बजाय राष्ट्र निर्माण का एक रचनात्मक उपकरण बना सकते थे। संविधान के निर्देशक सिद्धांतों में घोषित राष्ट्रीय लक्ष्यों की पूर्ति की दिशा में अपने कदम तेजी से बढ़ा सकते थे। कितना महान् सुअवसर हमें प्राप्त हुआ था।

व्यक्तिवादी सत्ता स्पर्धा

किंतु हुआ एकदम उलटा। हमारे अंदर का सत्तापिपासु 'अहं' पुनः उभर आया। अहं से अंधे लोग इस चमत्कारिक विजय का श्रेय जयप्रकाशजी की निस्पृह व आदर्शवादी राष्ट्र साधना को देने के बजाय स्वयं के व्यक्तित्व को देने लगे। 1977 के चुनाव में बहुमत पाते ही कुछ लोग

प्रधानमंत्री पद हथियाने को जोड़-तोड़ में जुट गए। निर्लज्ज व्यक्तिवादी सत्ता-स्पर्धा का भयंकर परिणाम हमारे सामने है। इस घिनौने इतिहास का विस्तारपूर्वक वर्णन करने की आवश्यकता नहीं है। हमने देखा कि किस प्रकार चरित्रहनन की राजनीति अपनाई गई। संप्रदायवाद व जातिवाद को उभाड़ा गया। व्यक्ति-पूजा का वातावरण पैदा करने के लिए रैलियों का आयोजन किया गया। थैलियां भेंट की गईं। अपनी छवि को सुधारने और प्रतिस्पर्धा की छवि को बिगाड़ने के लिए स्टंट रचे गए। प्रचार-तंत्र का निर्लज्जतापूर्वक फायदा उठाया गया। अपनी ही पार्टी के घोर विरोधियों के साथ सांठ-गांठ की गई। पार्टी को अंदर से तोड़ने तथा अपनी ही सरकार गिराने का षड्यंत्र रचा गया। स्वयं की प्रतिभा उज्ज्वल बनाने के लिए प्रधानमंत्री और मंत्रिमंडल के सहयोगियों के सर पर नपुंसकता का सेहरा बांधा गया। श्रीमती इंदिरा गांधी को जेल भेजने में वे ही रोड़ा हैं, यह वातावरण उत्पन्न करने की चेष्टा की। हमारी कल्पना के बाहर की बात थी कि ऐसे नेता को प्रधानमंत्री पद का मोह इतना अंधा बना सकता है कि वह यह भी अनुमान नहीं लगा सकता कि श्रीमती इंदिरा गांधी द्वारा उन्हें प्रधानमंत्री बनाने की चाल के पीछे कुछ और भी बात हो सकती है।

अपने को महाचतुर समझनेवाले श्री राजनारायण इतना भी नहीं समझ पाए कि इंदिराजी के पुत्र श्री संजय गांधी के स्वयं उनके घर आने के पीछे क्या राज हो सकता है। कौन आशा कर सकता था कि ये राजनीति के माहिर कहलानेवाले, गरीबों के तथाकथित नेता एक पूंजीपति के यहां चोरी-छिपे संजय गांधी से मिलकर अपनी ही सरकार तोड़ने का षड्यंत्र रचेंगे। लोकतंत्र और जनता की भलाई के नाम पर लोकसभा में जनप्रतिनिधित्व करनेवाले इन मूर्धन्य नेताओं द्वारा यह हुआ। स्पष्ट रूप से जनता के साथ विश्वासघात। इन्हीं कुकर्मों से ऊबकर संभवतः जनता ने लाचार होकर स्वयं को अधिनायकवादी प्रवृत्तियों के जबड़े में झोंक दिया। इस प्रकार देश की राजनीति पुनः खतरनाक बिंदु पर पहुंच गई है। ऐसी स्थिति में गंभीरता से विचार करना आवश्यक है कि क्या हम देश की राजनीति को स्वच्छ दिशा देने में कोई रचनात्मक भूमिका अदा कर सकते हैं? अपनी भावी भूमिका एवं रणनीति का निर्धारण करते समय भारत के सार्वजनिक जीवन में विद्यमान निम्नलिखित यथार्थों को पूरी तरह से ध्यान में रखना होगा—

- विगत 30 वर्षों में भारतीय राजनीतिक आदर्शनिष्ठ न रहकर व्यक्तिवादी एवं सत्ताभिमुखी बन गई है। अधिकांश राजनीतिज्ञों के लिए सत्ता राष्ट्र निर्माण का साधन न रहकर व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा पूर्ति की माध्यम बन गई है। अर्थात् सत्ता ही सर्वस्व बन गई है।
- इन राजनीतिज्ञों ने गांधीजी द्वारा प्रतिपादित साधन-साध्य विवेक को पूरी तरह तिलांजलि दे दी है। वे व्यक्तिगत सत्ता प्राप्ति के लिए कोई भी अनैतिक व समाजघाती कार्य कर सकते हैं।
- संप्रदायवाद, जातिवाद, भाषावाद, क्षेत्रीयता, अस्पृश्यता व गरीबी आदि राष्ट्रीय दुर्बलताओं में राजनीतिज्ञों का निहित स्वार्थ पैदा हो गया है। उनकी रुचि इन्हें दूर करने में नहीं, उनसे लाभ उठाने में है।
- वोट राजनीति में धनशक्ति का प्रभाव बढ़ता जा रहा है। फलस्वरूप राजनेता बिकाऊ और

भ्रष्ट बनता जा रहा है। वह एक ओर समाजवाद की बातें करता है, दूसरी ओर पूंजीपतियों से कालाबाजार करवाकर धन बटोरता है, तस्करों से सांठ-गांठ करता है। इसी कारण भारतीय राजनीति में विदेशी धनशक्ति का हस्तक्षेप बढ़ता हुआ प्रतीत हो रहा है।

- राजनीति के इस चारित्रिक पतन के कारण पिछले तीस वर्ष में समाज का भी चरित्र गिरा है। भ्रष्टाचार ने पूर्ण समाज जीवन को ग्रस लिया है। कालेधन और तस्करी को राजनीतिक प्रश्रय प्राप्त हो गया है। आर्थिक विषमता द्रुतगति से बढ़ती जा रही है।
- स्वार्थ एवं भ्रष्टाचार के वातावरण में समाज को कम-से-कम देकर अधिक-से-अधिक पाने की भावना प्रबल होती जा रही है। कम-से-कम काम, अधिक-से-अधिक दाम—यही हमारा राष्ट्रीय आदर्श बन गया है। इस राष्ट्रघाती वृत्ति में से परस्पर विरोधी हितों को अपनाकर चलनेवाले दबाव गुट संगठित हो रहे हैं। वे शक्ति प्रयोग के द्वारा राष्ट्र के सीमित साधनों में से अधिक-से-अधिक अपने लिए छीन लेने में संलग्न हैं। फलस्वरूप गरीबी की रेखा के नीचे जीनेवाले देशवासियों को संस्था घटने की बजाय बढ़ती ही जा रही है।
- राजनीति के कारण देश जातिवाद, संप्रदायवाद, मजहबी अलगाव और क्षेत्रवाद की भंवर में फंस गया है। मतदाताओं में से बहुत बड़े वर्ग की ये संकुचित निष्ठाएं मतदान-प्रेरणा बन रही हैं। इस कारण अखिल भारतीय राष्ट्रवाद की भावना कमजोर पड़ रही है। ऐसे वातावरण में सिद्धांत पर निष्ठा रखनेवाले अखिल भारतीय दल का पनपना कठिन हो गया है। इस वोट राजनीति में सफलता पाने के लिए प्रत्येक राजनीतिज्ञ संकुचित निष्ठाओं के साथ समझौता करना अनिवार्य मानने लगा है।
- फलस्वरूप संसदीय चुनाव प्रणाली के अंतर्गत हमारी विगत तीस वर्षों की राजकीय यात्रा संविधान में घोषित राष्ट्रीय लक्ष्यों की पूर्ति की दिशा में आगे बढ़ने के बजाय राष्ट्र को उनसे विपरीत दिशा में ले जाने का कारण बन गई है।
- इस दृश्य को देखकर राजनीतिक नेतृत्व एवं उनकी कार्यप्रणाली के प्रति लोगों का विश्वास समाप्त हो रहा है। अब उनका यह आशावाद भी खत्म हो रहा है कि वर्तमान संसदीय प्रणाली के माध्यम से राष्ट्रीय लक्ष्यों को कभी पूर्ण किया जा सकेगा।

जनता की इस मनोदशा का लाभ उठाकर अधिनायकवादी प्रवृत्तियां बल पा रही हैं। वे सत्ता पर अधिकार पाने में सफल हो रही हैं। सत्ता व्यक्ति और परिवार में केंद्रित हो रही हैं। व्यक्तिवाद के प्रति निष्ठा बढ़ानेवाले चाटुकार पनप रहे हैं। व्यक्ति पूजा का वातावरण निर्लज्जतापूर्वक तैयार किया जा रहा है। इस कारण लोकतंत्र का अस्तित्व ही खतरे में पड़ गया है।

उपर्युक्त यथार्थ के प्रकाश में मन में कुछ प्रश्न उठते हैं—

- स्वाधीन भारत की राजनीति में घोर पतन की यह प्रक्रिया किस बिंदु से प्रारंभ हुई? संकुचित निष्ठाओं को उभाड़ने, धनशक्ति को बहुत अधिक महत्त्व देने, सिद्धांतों के बजाय अपनी छवि निर्माण करने व दूसरे के चरित्र-हनन की राजनीति अपनाने की प्रक्रिया का सूत्रपात क्या

1952 के प्रथम आम चुनाव के समय से ही प्रारंभ नहीं हो गया था?

- स्वाधीनता आंदोलन की भट्‌ठी में से तपकर निकला हुआ राष्ट्रभक्त नेतृत्व चुनाव जीतने के लिए इन ओछे और भ्रष्ट साधनों का इस्तेमाल करने के लिए उस समय मजबूर क्यों हुआ? यह उसकी अपनी दुर्बलता का परिचायक है अथवा स्वीकृत राजनीतिक ढांचे का, जिसके भीतर उसे काम करना पड़ा? नेतृत्व ने राजनीतिक प्रक्रिया को भ्रष्ट बनाया अथवा राजनीतिक प्रक्रिया ने उसे भ्रष्ट किया?
- यदि राजनीतिक प्रक्रिया ने नेतृत्व को भ्रष्ट किया तो उसका स्वस्थ विकल्प क्या है? इस विकल्प की खोज इस राजनीतिक प्रक्रिया के भीतर रहकर की जा सकती है अथवा उससे बाहर आकर?
- विगत 30 वर्षों में राजनीतिक संस्कृति का जो चरित्र विकसित हुआ है, संकुचित निष्ठाएं बलवती हुई हैं, धनशक्ति का महत्त्व बढ़ा है, भ्रष्ट समाज का निर्माण हुआ है, उसके रहते क्या वर्तमान लोकतांत्रिक प्रक्रिया द्वारा अखिल भारतीय राष्ट्रवाद पर अव्यभिचारी निष्ठा रखनेवाले नेतृत्व का उभर पाना संभव है? यदि नहीं तो धनशक्ति, संकुचित निष्ठाओं एवं भ्रष्ट साधनों के साथ समझौता कर सत्तारूढ़ बनने के काम में अपनी जीवन शक्ति का अपव्यय क्यों?
- क्या सत्तालोलुप अवसरवादी व अनैतिक वोट राजनीति द्वारा ही भारतीय राजनीति में विद्यमान वर्तमान अनैतिक अधिनायकवादी प्रवृत्तियों को परास्त किया जा सकेगा? आज तो जयप्रकाश जैसा सत्ता-निरपेक्षता एवं नैतिकता का सर्वमान्य पुंज भी हमारे बीच में नहीं है।
- विगत 30 वर्षों में पूरा प्रयत्न करके भी क्या हम राजनीति को स्वस्थ दिशा देने में सफल हो पाए? हमने राजनीति के चरित्र को बदला? या इस राजनीति ने हमारे ही चरित्र को प्रभावित किया है? इस बारे में खुले आत्मालोचन की आवश्यकता है।
- सत्ता को हमने क्या कभी साध्य माना था? राजनीति के प्रति अंधमोह हमारे भीतर नहीं था। अतः अपने 30 वर्ष के अनुभवों के प्रकाश में हमें खुले मन से विचार करना चाहिए। क्या हमें विश्वास है कि वर्तमान ढांचे के भीतर रहकर हम राजनीति को आदर्शवादी बना पाएंगे? सत्ता को राष्ट्र निर्माण का रचनात्मक उपकरण बनाने की कामना से प्रेरित होकर अपने आदर्शवाद पर डटे रहते हुए भी सत्ता को हस्तगत कर पाएंगे? प्रश्न यह है कि क्या वर्तमान राजनीतिक ढांचे के भीतर हम आदर्शवादी बने रह सकते हैं? और आदर्शवादी बने रहे तो क्या वोट-राजनीति में सफलता प्राप्त कर सकते हैं?
- प्रचार, आंदोलन और चुनाव को वर्तमान कार्यशैली द्वारा क्या नैतिक लोकशक्ति का सृजन संभव है? यदि नहीं तो लोकशक्ति के निर्माण की वैकल्पिक रचनात्मक कार्यशैली क्या हो सकती है?

इन सभी प्रश्नों के बारे में आत्मालोचन की, सामूहिक चिंतन की एक व्यापक प्रक्रिया को प्रारंभ करने की आवश्यकता है। सामूहिक चिंतन के फलस्वरूप हमें यदि बहुत साहसी एवं

क्रांतिकारी निर्णय लेने पड़े तो हमें साहस के साथ वे निर्णय लेने चाहिए। प्रवाह पतित के समान बहते रहने के लिए हमने राजनीति में प्रवेश नहीं किया था। जब तक हम स्वस्थ विकल्पों की खोज नहीं कर लेते, तब तक वर्तमान राजनीतिक प्रक्रिया का अंग बने रहना ही पड़ता है तो भी सत्ता की वर्तमान दौड़ में सम्मिलित होने की बजाय सिद्धांतों एवं आदर्शों पर डटे रहकर राजनीति के चरित्र को ऊंचा उठाने की दिशा में ही हमें प्रयत्नशील होना चाहिए। भले ही इन प्रयासों में सत्ता के निकट पहुंचने के सब रास्ते हमसे रुष्ट होते हुए दिखाई पड़ें। हमारी राजनीति का लक्ष्य केवल सत्ता प्राप्ति नहीं, अपितु अपने आदर्शों एवं सिद्धांतों को लोकप्रिय बनाना तथा आदर्श समाज और शक्तिशाली राष्ट्र का निर्माण करना है। एक बात और। हम सब लोकशक्ति के निर्माण की बात करते हैं तो उसका अर्थ होता है राष्ट्र जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में, गांव-गांव और मोहल्ले-मोहल्ले में आदर्शवादी, सिद्धांतनिष्ठ व कर्मठ कार्यकर्ताओं की शृंखला खड़ी करना। ऐसे कार्यकर्ताओं को खड़ा करने के लिए श्रमिक, किसान, छात्र, युवा, बुद्धिजीवी, साहित्यकार आदि प्रत्येक क्षेत्र में हमें काम करना होगा। राष्ट्र की सामाजिक-आर्थिक समस्याओं से जूझना होगा। उसमें समाज के सभी वर्गों की युवा-शक्ति को सहभागी बनाना होगा। नया और युवा नेतृत्व खड़ा करना होगा। भारतीय जीवन दर्शन के प्रकाश में युगानुकूल तरीके खोजने होंगे।

प्रत्येक जीवन-दर्शन को अपनी अभिव्यक्ति के लिए मौलिक कार्यप्रणाली का आविष्कार करना होता है। अन्य विचारधाराओं द्वारा आविष्कृत कार्यप्रणाली को अंगीकार करना परकाया प्रवेश के समान होगा। उससे पूरी सफलता की आशा नहीं की जा सकती। गांधीजी ने स्वाधीनता की लड़ाई लड़ने के साथ-साथ एक अभिनव रचनात्मक कार्यप्रणाली की खोज का प्रयास भी जारी रखा था किंतु कैसी विडंबना है कि स्वाधीनता प्राप्त होते ही हमने उनके रचनात्मक प्रयोगों की ओर से मुंह मोड़ लिया। पाश्चात्य राजनीतिक कार्यशैली को ही राष्ट्रनिर्माण का एकमात्र माध्यम मान लिया। इसे अकेले गांधी अनुयायी कहनेवालों की ही नहीं, हमारी समूची राष्ट्रीय प्रक्रिया की पराजय कहना ही उपयुक्त होगा।

हमारी साधना का लक्ष्य हमें स्वयं के वर्तमान को चमकाना नहीं, अपितु अपनी समस्त व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षाओं एवं सुख-सुविधाओं की बलि देकर अखिल, भारतीय राष्ट्रवाद को भावना से ओत-प्रोत, आर्थिक एवं सामाजिक विषमताओं से मुक्त, सुखी, समृद्ध और समर्थ भारत के निर्माण की नींव रखनी है।

□

सामाजिक पुनर्रचना संघ की अवधारणा में निहित

संघ निर्माता परम पूज्य डॉक्टरजी कहा करते थे, ''केवल स्वराज्य प्राप्ति संघ का अंतिम लक्ष्य नहीं है। अपने जीवन-मूल्यों पर आधारित युगानुकूल सामाजिक पुनर्रचना करने व राष्ट्र को परम वैभव प्राप्त करा देने के लिए स्वराज्य अनिवार्य है।'' इस वास्तविकता के कारण ही संघ ने राष्ट्र के सर्वांगीण विकास के लिए आवश्यक संवेदनशील, समर्पित, अनुशासित व कर्मनिष्ठ मनुष्य निर्माण का रचनात्मक दायित्व स्वयं होकर अपनाया है। और इसी कारण स्वराज्य प्राप्ति के बाद भी सत्ता प्राप्ति की अभिलाषा ने संघ को कभी प्रभावित नहीं किया। स्वाधीनता प्राप्त होते ही साधारण नागरिकों के रूप में संघ के स्वयंसेवकों ने देश भर में शिशु मंदिरों की शृंखला खड़ी की। शहरों की गंदी बस्तियों, वनवासियों के सुदूर अंचलों तथा उपेक्षित ग्रामीण क्षेत्रों में पहुंचकर सेवा तथा विकास के अनेकानेक कार्य खड़े किए हैं। केवल वक्तव्यों, प्रस्तावों या कानून बनाने मात्र से राष्ट्र के नवनिर्माण या सामाजिक पुनर्रचना का कार्य संपन्न नहीं हो सकता। संघ की यह धारणा काल की कसौटी पर सत्य सिद्ध हुई है।

स्वाधीनता प्राप्ति के बाद से हर काम राजनीति के चश्मे से देखा जा रहा है। प्रचार माध्यमों व समाचार-पत्रों की भूमिका भी इससे भिन्न नहीं है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की कर्म-साधना को भी इसी चश्मे से देखा जाता है। संघ के विरुद्ध अपप्रचार की जड़ में यही दृष्टि काम कर रही है। सत्ताभिलाषी राजनीतिज्ञ अपनी आकांक्षा पूर्ति के लिए संघ को अपनी सीढ़ी बनाने के चक्कर में रहते हैं। कभी संघ की प्रशंसा तो कभी संघ को बदनाम करने के प्रयास इसी चाल के मोहरे हैं। राष्ट्र सेवा में संलग्न शुद्ध सामाजिक या सांस्कृतिक कार्य हो सकता है, यह वर्तमान राजनेताओं की समझ के परे की बात बन गई है। किंतु हमें विश्वास है कि अपनी अविचल ध्येयनिष्ठा तथा अखंड कर्मसाधना के परिणामस्वरूप यह विषाक्त वातावरण समाप्त होगा तथा अपने सेवा एवं विकास के कार्यों में सबका सहयोग संभव होगा।

सामयिक कदम की उपेक्षा

सदियों बाद अपना देश स्वतंत्र हुआ था। उसी समय राष्ट्र के सर्वांगीण विकास का युग प्रारंभ

डीआरआई दस्तावेज, 1983

हो जाना चाहिए था। स्वाधीनता संग्राम की यही अवधारणा थी। उसी समय स्वतंत्रता संग्राम में बलिदान हुए हुतात्माओं के सपनों का भारत साकार करने की भावना से देश के एक-एक नागरिक को प्रेरित किया जा सकता था। इससे गांव-गांव व गली-गली में नवरचना का अभियान प्रारंभ हो जाता। नई पीढ़ी को रचनात्मक दिशा मिलती। जिस लोक-शक्ति ने विशेषतः युवा-शक्ति ने स्वाधीनता संग्राम में अमूल्य योगदान दिया था, वह असीम लोक-शक्ति राष्ट्र के नवनिर्माण में जुट जाती। किंतु स्वतंत्र भारत के नेतृत्व ने इस महत्त्वपूर्ण पहलू की पूर्ण रूप से उपेक्षा की है।

राजनीति में रचनात्मक वृत्ति का अभाव

स्वतंत्रता प्राप्ति के साथ ही राष्ट्र जीवन में राजनीति को ही सर्वस्व बना दिया गया। सत्ता को कामधेनु माना गया। शासन का दायित्व प्रशासन तक सीमित नहीं रहा। वह सर्वव्यापी बनाया गया। सामाजिक पुनर्रचना का कार्य हो या आर्थिक नवरचना का—सबकुछ सरकार करेगी, यह नीति अपनाई गई। स्वाधीनता प्राप्त नागरिकों में स्वावलंबन की वृत्ति विकसित करने के स्थान पर उन्हें सर्वथा शासन का मुखापेक्षी बनाया गया। परिणामस्वरूप देश के नागरिकों व नौजवानों के मन और मस्तिष्क में न सामाजिक भवितव्य का सपना है, न उनमें समाज के प्रति दायित्व की भावना ही शेष है। प्रत्येक नागरिक चाहे वह शिक्षित हो या अशिक्षित, अपने व्यक्तिगत लाभ में ही लगा हुआ है। आजादी की लड़ाई में अपना सर्वस्व दांव पर लगानेवालों की परंपरा का मानो वह उत्तराधिकारी नहीं है।

स्वाधीनता प्राप्ति के साथ ही देश से सामाजिक नेतृत्व की अर्थात् समाज सुधारकों की परंपरा मिट गई है। जगह-जगह पर केवल सत्ताप्रेमी राजनेताओं का उदय हो रहा है। हर स्तर पर सत्ता के लिए संघर्ष चल रहा है। इस सत्ता संघर्ष में उन्हीं साधनों का प्रयोग हो रहा है, जो विदेशी सत्ता को हटाने के काम में लाए गए थे। अतः स्वतंत्र भारत में भी नारेबाजी, भाषणबाजी, आंदोलन, प्रदर्शन, अनशन, हड़ताल, तोड़-फोड़, कानून-भंग, पुलिस से मुठभेड़, जेल-गमन आदि का ही वातावरण बना हुआ है। राजनीति में रचनात्मक वृत्ति को तलाक दे दिया है। सत्ता में बने रहने या सत्ता प्राप्ति के लिए किसी भी स्तर पर उतर आने में किसी को कोई संकोच नहीं रहा।

हिंदू जीवन की विशेषता

अपना समाज एवं संस्कृति विश्व की अर्थात् संपूर्ण मानवता की पुरातनतम धरोहर है। संसार की अनेक विकसित सभ्यताएं व समाज पराए आक्रमणों की आंधियों में स्वयं को संभाल नहीं पाए। वे काल के गाल में समा गए। किंतु हिंदू समाज व संस्कृति ने प्रबलतम आक्रमणों की आंधियों में भी अपना अस्तित्व कायम रखा। पराजय की स्थिति में भी अपनी अस्मिता को नहीं खोया। गुलामी के सैकड़ों वर्षों के लंबे काल में बर्बर अत्याचारों को झेलते हुए अपना स्वातंत्र्य संग्राम अखंड रूप से चलाए रखा और हर प्रकार की मुसीबतों में से रास्ता खोजते हुए स्वाधीनता

प्राप्त की। अपने समाज एवं संस्कृति की इस असामान्य विजिगीषु वृत्ति व संजीवनी शक्ति का रहस्य छिपा हुआ है, अपनी समाज धारणा की अवधारणा में। अपने समाज का आधार शासकीय सत्ता नहीं, धर्म रहा है। अधिकार की भौतिक भावना नहीं, मानव मात्र के प्रति कर्तव्यनिष्ठा रही है। इसी विशेषता के कारण अपना समाज व संस्कृति सनातन बनी हुई है। अपने समाज ने 'आत्मवत् सर्वभूतेषु'—'सर्वेपि सुखिनः सन्तु' या 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की श्रेष्ठतम मानवीय आकांक्षाओं को व्यावहारिक जीवन में उतारने का माध्यम शासन को नहीं, स्वयं को अर्थात् समाज को माना है। इसी में अपने समाज का चिरंतनत्व है, जो प्रबलतम संकटों पर विजय प्राप्त करने की हमें क्षमता प्रदान करता आ रहा है। अपने राष्ट्र जीवन के इस वैशिष्ट्य को सदैव कायम रखते हुए अपने राष्ट्र का सर्वांगीण विकास करना अपना आद्यकर्तव्य है। यह कार्य केवल शासन के माध्यम से किए जाने की धारणा न केवल अभारतीय व अलोकतांत्रिक है अपितु अव्यावहारिक भी है। अपना गत छत्तीस वर्षों का इतिहास इस बात की पुष्टि करता है। उपर्युक्त गलत धारणा को जनमानस में दृढ़मूल होने दिया गया तो अपने समाज एवं संस्कृति की भी वह ही गति होगी, जो शासनाभिमुखी समाजों व सभ्यताओं की हुई है।

गत छत्तीस वर्षों की गलत दिशा का परिणाम

गत छत्तीस वर्षों में शासन द्वारा पंचवार्षिक योजनाओं पर अरबों रुपयों का व्यय हुआ है, परंतु अपेक्षित सफलता नहीं मिल पाई। नित नए-नए स्कूल-कॉलेज व विश्वविद्यालय खुल रहे हैं, किंतु अशिक्षितों की संख्या में उल्लेखनीय कमी नहीं हुई। प्राथमिक विद्यालयों में पढ़ने की आयु के लाखों बच्चे आज भी शिक्षा से वंचित हैं। अखंड प्रवाहिनी नदियों पर बड़े-बड़े बांधों का निर्माण किए जाने के बावजूद अधिकांश कृषि भूमि असिंचित पड़ी हुई है। बिजली की कमी पग-पग पर अखर रही है। देश के विभिन्न भागों में नए-नए विशालकाय कारखाने खुल रहे हैं। रोजगार दिलाने की नित नई योजनाएं घोषित हो रही हैं। फिर भी बेकारों की समस्या दिन-प्रतिदिन अधिकाधिक विकराल बन रही है। प्रति व्यक्ति उत्पादन बढ़ने के आंकड़े प्रतिवर्ष प्रकाशित किए जाने के बावजूद गरीबी की रेखा के नीचे दयनीय दशा में दिन काटनेवाले परिवारों की संख्या हर साल बढ़ती जा रही है। समाज में समता लाने की घोषणाओं में सतत प्रतिस्पर्धा चल रही है। किंतु गरीब और धनियों में विषमता की खाई अधिकाधिक चौड़ी हो रही है। भ्रष्टाचार उन्मूलन के संकल्प सभी दलों एवं नेताओं द्वारा दिन-रात दोहराने के बावजूद अनैतिकता की घुन कल्पनातीत गति से समाज को खोखला बना रहा है। शासकीय एवं राजनैतिक आश्वासनों के बावजूद संपूर्ण समाज भविष्य के प्रति शंकाग्रस्त बन और निराशा का शिकार हो गया है। विकास कार्यों में जन सहकार की उपेक्षा का यह परिणाम है।

सर्वांगीण विकास की कार्यशैली

उपर्युक्त चिंताग्रस्त परिस्थिति के लिए किसी पर दोष मढ़ने मात्र से राष्ट्र के प्रति हमारा

दायित्व पूर्ण नहीं होता। प्राप्त परिस्थिति में नवरचना की दिशा एवं कार्यक्रम निश्चित कर प्रत्यक्ष कार्य में संलग्न होना ही समाज के प्रति अपने दायित्व को निभाने तथा समाज में भविष्य के प्रति आशा जगाने का एकमेव मार्ग है। स्वतंत्रता के गत काल में अपनी वैशिष्ट्यपूर्ण परंपरा की जो कड़ी टूट गई है, उसे जोड़कर हम आगे बढ़ें। सुशिक्षा, स्वावलंबन, सहयोग, समता व सुस्वास्थ्य सर्वांगीण विकास के पंच पहलू हैं। इनमें से एक-एक पहलू का प्रकल्प हो सकता है या सभी पहलुओं का मिलकर सर्वांगीण प्रकल्प हो सकता है।

सर्वसाधारण लोगों को विकास प्रक्रिया में सहभागी अर्थात् सक्रिय बनाना अपने प्रकल्पों की कार्यपद्धति है। जब तक मानव अपने विकास के लिए स्वयं तत्पर व क्रियाशील नहीं होगा तब तक अन्य कोई शक्ति उसका विकास नहीं कर सकती। उपेक्षित, अशिक्षित व निर्धन नागरिकों के प्रति आत्मीयता की भावना के धनी कार्यकर्ता ही ऐसे बंधु-बहनों में विकास की प्रेरणा जगा सकते हैं। उन्हें अपना साथी बनाकर उन्हें विकास प्रक्रिया का अभिन्न अंग बना सकते हैं। इसी की आज विशेष आवश्यकता है और यही है अपने प्रकल्पों की कार्यशैली। इसी कार्यशैली के माध्यम से हम समाज के विकसित सदस्यों के हृदय में अपने पिछड़े बंधुओं के प्रति करुणा, आत्मीयता व कर्तव्यतत्परता जगाकर अशिक्षित एवं सुशिक्षितों को एक-दूसरे के सान्निध्य में ला सकते हैं। उन्हें एक-दूसरे का सहयोगी बना सकते हैं। इसी में से नई पीढ़ी को उपयुक्त दिशा मिलेगी। व्यर्थ पड़ी लोकशक्ति नवनिर्माण में जुट सकेगी। आत्मनिर्भरता का वातावरण पनपेगा। अपने प्रकल्पों से हमें वही अनुभव प्राप्त हुआ है। इसी से अपना राष्ट्र परम वैभव प्राप्ति की दिशा में गतिशील होगा।

शासकीय व्यवस्थाओं का पूरक प्रयास

युगानुकूल सामाजिक एवं आर्थिक पुनर्रचना के भिन्न-भिन्न प्रकल्पों में संलग्न हम सबके मस्तिष्क में यह बात स्पष्ट है कि हमारे विकास या सेवा प्रकल्पों का हेतु शासकीय व्यवस्थाओं का विकल्प प्रस्तुत करना नहीं है। राष्ट्र के सर्वांगीण विकास का महान् लक्ष्य साकार करने के लिए शासकीय एवं सामाजिक प्रयासों में परस्पर-पूरकता का व्यावहारिक रूप खड़ा करना अपने सभी प्रयोगात्मक प्रकल्पों का प्रयास है।

वासना व संवेदना मानव की दो मूलभूत प्रवृत्तियां हैं। मानव जीवन में इन दोनों का आदर्श संतुलन ही समाज धारणा का आधार है। जीवन में वासना अधिक प्रभावी हो गई तो मानव व्यक्तिनिष्ठ बनता है। वह अन्य किसी की चिंता नहीं करता। केवल अपने सुखानंद के लिए ही कार्यरत रहता है। उसके हृदय की संवेदनशीलता अस्त होने लगती है। पुरातनकाल में ऐसे मानवों को दानव कहा गया है। ऐसों का जीवन समाज धारणा के लिए पोषक नहीं द्योतक सिद्ध होता है।

किंतु मानव जीवन में संवेदना प्रभावी रही तो वह दूसरों की चिंता करता है। परपीड़ा से वह व्याकुल होता है। पीड़ितों की पीड़ा निवारण में वह सुख पाता है। उपेक्षितों व अभावग्रस्तों को अपने पैरों पर खड़ा करने में वह समाधान अनुभव करता है। अपनी आवश्यकताओं व उपभोग

पर वह स्वेच्छा से अंकुश लगाता है। संयमशीलता का वह नमूना बनाता है। उसका प्रत्येक व्यवहार समाज धारणा के लिए पोषक सिद्ध होता है। यही है नैतिकता, आध्यात्मिकता या मानवीयता, जो समाज धारणा का अनिवार्य तत्त्व है।

अनुकरणीय जीवन

सेवा या विकास के प्रकल्पों में संलग्न प्रत्येक महिला व पुरुष कार्यकर्ता सामाजिक व आर्थिक नवरचना का माध्यम है। अतः हमें अपने जीवन में संतुलित वृत्ति व आदर्श कर्म साधना का अनुकरणीय उदाहरण प्रस्तुत करना है। सर्वसाधारण नागरिकों के जीवन में अपेक्षित परिवर्तन एवं प्रगति का लक्ष्य साकार करने के लिए यह प्राथमिक आवश्यकता है। कारण सामान्य मानव की सहज प्रवृत्ति है कि वह जिनके विचारों व जीवन से प्रभावित होता है उनका हर बात में अनुकरण करता है।

अपने प्रकल्पों की रचना व कार्यक्रमों की योजना करते समय इस बात का विशेष ध्यान रखना होगा कि प्रत्येक नागरिक का जीवन स्वावलंबन, सहयोग व स्वाभिमान की त्रिगुणात्मक वृत्ति से विभूषित हो। स्वावलंबन व स्वाभिमान से वंचित व्यक्ति स्वाधीनता का पोषक नहीं हो सकता, न सहयोग वृत्ति रहित व्यक्ति सामूहिक समृद्धि का उपकरण बना सकता है। अतः सामाजिक पुनर्रचना के लिए व्यक्ति और समाज में उपर्युक्त तीनों गुणों के विकास में सहायक कार्यक्रमों को ही अपनाना होगा, तभी हम अपना लक्ष्य प्राप्त कर सकेंगे।

अपना दृष्टिकोण

अपने परिवार के अल्पायु सदस्यों के विकास का प्रयास करते समय हमारी भावना उन पर उपकार करने की नहीं रहती। इस कार्य को हम अपना सहज एवं स्वाभाविक दायित्व मानते हैं। उसी भावना से हम अपने समाज-घटकों के विकास में कार्यरत हों। अन्यथा हम अपने साथियों में तथा जिनके लिए कार्यरत हैं उनमें सामाजिक दायित्व निभाने का सहज स्वभाव विकसित करने में असमर्थ सिद्ध होंगे।

ग्रामवासियों के जीवन में सबकुछ गड़बड़ या त्याज्य है, यह समझना बहुत बड़ी भूल होगी। शहरी जीवन की अपेक्षा ग्राम जीवन में संवेदना की भावना अधिक है। जीवन-मूल्यों के प्रति आस्था भी ग्रामीणों में ज्यादा है। हर एक निरक्षर ग्रामीण को अशिक्षित नहीं कहा जा सकता। परंपरागत ज्ञान तथा अपने अनुभवों के कारण वे शिक्षितों से कम जानकार या कम समझदार नहीं होते। उनकी भाषा अपरिष्कृत हो सकती है, किंतु उनके आचरण में स्वाभाविक विनयशीलता एवं सुसभ्य व्यवहार की मात्रा अधिक होती है। उनके घरों में आधुनिक साज-सज्जा तथा बहुविध व्यंजनों का अभाव होगा किंतु आदरातिथ्य की सहज भावना व अकृत्रिमता का सुखद वातावरण विपुल मात्रा में मिलता है। जहां तक हृदय की विशालता व भारतीयता का प्रश्न है, शहरी जीवन में उसके प्रति उदासीनता तथा भटकाव दिखाई देगा, वहां ग्रामीणों की यह सहज प्रवृत्ति है। अतः

हम विशेष रूप से ध्यान में रखें कि हमारे ग्राम विकास की धारणा ग्रामों का शहरीकरण करने की नहीं है। ग्राम जीवन में जो-जो श्रेष्ठ एवं श्रेयष्कर है, उसे कायम रखते हुए ग्राम जीवन को व संपूर्ण ग्रामीण परिसर को अधिक सुव्यवस्थित साफ-सुथरा, आरोग्यवर्धक एवं प्राकृतिक दृष्टि से अधिक सुहावना बनाना अपने कार्यक्रमों का हेतु है।

इस वैज्ञानिक युग में भी भारतीय जीवन दर्शन अद्वितीय माना जा रहा है, किंतु भारतीयों के व्यावहारिक जीवन में उसका अभाव है। इसका अर्थ यह नहीं है कि अपना जीवन-दर्शन अव्यावहारिक है। उसे दैनंदिन जीवन में उतारने का कार्य ग्रामीण अंचलों में प्रारंभ करना अधिक सुगम है। यह कार्य जितना लोकप्रिय, प्रभावी तथा व्यापक होता जाएगा, ग्रामों से—मानवों का नहीं—अपनी मानवीय संस्कृति का पावन प्रवाह शहरों की ओर बढ़ना प्रारंभ होगा और भारत भारतीयता के लिए संसार के राष्ट्रों में सर्वांगीण विकास का आदर्श प्रस्तुत कर सकेगा।

आवश्यकता पूर्ति का शुभारंभ

प्रत्यक्ष प्रकल्पों में कार्यरत कार्यकर्ताओं के अतिरिक्त इसी दिशा में सोचनेवाले विचारकों एवं लेखकों का भी अच्छा-खासा वर्ग है, जो उपेक्षित, अशिक्षित एवं निर्धनों की दशा से दु:खी है। वह गहन अध्ययन कर इनकी समृद्धि के लिए उपाय खोजने में संलग्न है। आवश्यकता है कि ऐसे विचारक, लेखक तथा प्रत्यक्ष प्रकल्पों में कार्यरत कार्यकर्ता एकत्रित आए। एक ही पथ के दो प्रकार के पथिक एक साथ बैठकर आपस में विचार-विनिमय करें। विचारक एवं लेखक प्रत्यक्ष कार्य में संलग्न कार्यकर्ताओं के अनुभवों को सुनें और समझें तथा कार्यकर्तागण विचारकों ने अपने गहन अध्ययन से जो निष्कर्ष निकाले हैं तथा जिन उपायों को खोजा है, उनका प्रत्यक्ष प्रयोगों में किस प्रकार उपयोग हो सकता है, इस पर विचार करें। इससे प्रयोगात्मक कार्यों में संलग्न कार्यकर्ताओं को जितना लाभ होगा उतनी ही मात्रा में विचारकों को अधिक चिंतन एवं खोज के लिए नई सामग्री उपलब्ध हो सकेगी। राष्ट्र के नवनिर्माण की प्रक्रिया में समय-समय पर ऐसे एकत्रीकरण की नितांत अवश्यकता है। इससे राष्ट्र के सर्वांगीण विकास की प्रक्रिया दोषमुक्त एवं गतिशील बनेगी। इस प्रकार की यह प्रथम अखिल भारतीय कार्यशाला राष्ट्रीय आवश्यकता का शुभारंभ मात्रा है।

□

संघ कार्य
व्यक्ति विकास का उपकरण

संघ शाखाओं में नियमित स्वयंसेवकों की संख्या बढ़े, यह आग्रह लगातार किया जा रहा है। किंतु अपेक्षित सफलता मिल नहीं पा रही है। इसके लिए कुछ सुझाव हैं—

- कई वरिष्ठ कार्यकर्ता समझ रहे हैं कि शाखाओं के प्रचलित कार्यक्रमों का आकर्षण घट रहा है। कारण अन्यत्र अनेक अधिक आकर्षण उपलब्ध हैं। अतः हमें अपनी शाखाओं में अधिक आकर्षक कार्यक्रम अपनाने चाहिए।
- अधिकाधिक आकर्षक कार्यक्रमों की प्रतिस्पर्धा हमें अपनी लक्ष्यसिद्धि तक पहुंचा नहीं पाएगी। आवश्यकता है इस समस्या पर अधिक चिंतन करने की।
- संघ-जीवन के चौंसठ साल बीत गए हैं। इस अवधि में परिस्थितियों में और नई पीढ़ी की मानसिकता में परिवर्तन हुआ है। इस परिवर्तन को विचार में लेना होगा। तभी वास्तविकता समझ पाना संभव होगा।
- हम वास्तविकता के आकलन के लिए संघ-जीवन के काल को दो खंडों में विभाजित करें—

  (क) स्वराज्य प्राप्ति के लिए संघर्ष का काल तथा

  (ख) स्वराज्य प्राप्ति के बाद का काल।
- स्वराज्य प्राप्ति के पूर्व संघ प्रतिज्ञा में स्वराज्य प्राप्ति का लोकप्रिय लक्ष्य स्पष्ट था।
- प्रथम काल-खंड में आम नागरिकों में स्वराज्य प्राप्ति की आकांक्षा जाग्रत् हुई थी। पर्याप्त संख्या में लोग इस दिशा में सक्रिय थे। इस लक्ष्य-सिद्धि के लिए युवा-वर्ग में विशेष व्याकुलता थी। सभी के सम्मुख स्वराज्य प्राप्ति का एकमेव लक्ष्य था।
- इस लक्ष्य-सिद्धि के लिए दो मार्ग प्रचलित थे। एक मार्ग था—सशस्त्र क्रांति का तथा दूसरा मार्ग था—अहिंसापूर्ण सत्याग्रह का।
- अधिकांश लोगों को, विशेषतः युवा वर्ग को लगता था कि बिना युद्ध के स्वराज्य प्राप्ति संभव नहीं है। अतः स्वराज्य प्राप्ति के लिए युद्ध की सिद्धता आवश्यक है।
- संघ शाखा के कार्यक्रम इस मानसिकता के अनुकूल थे। शाखाओं में युद्धाभ्यास होता था। सैनिक गणवेश में सैनिक-प्रशिक्षण मिलता था। युद्ध का अनिवार्य अंग बैंड का निनाद युवा-

डीआरआई दस्तावेज, 1 जनवरी, 1990

हृदयों में उत्साह भरता था। बैंड के साथ तालबद्ध पथ-संचालन युवा-वर्ग को आकृष्ट करता था। संघ शाखा का यह कार्यक्रम स्वराज्य प्राप्ति का सबल साधन अनुभव होता था। संघ शाखाओं की भरपूर संख्या का कारण था—युवाओं में व्याप्त स्वातंत्र्य प्राप्ति की तीव्र आकांक्षा।

- दूसरा काल-खंड है स्वराज्य प्राप्ति के बाद का। स्वराज्य मिला था। इस काल-खंड में सभी संदर्भ बदल गए थे। स्वराज्य प्राप्ति होते ही आम लोगों के हृदय को छूनेवाले नए लक्ष्य की प्रस्तुति आवश्यक थी। दुर्भाग्य से उसी की उपेक्षा हुई। परिणामस्वरूप लोगों के, विशेषतः युवा-वर्ग के सम्मुख कोई स्पष्ट राष्ट्रीय लक्ष्य न रहा, न है।
- स्वराज्य प्राप्ति और देश का विभाजन साथ-साथ हुआ। अनगिनत नरसंहार हुआ। लाखों की संख्या में लोग विस्थापित होकर खंडित भारत में आते गए। उनकी सहायता की कठिन समस्या उपस्थित हुई। इस कार्य के लिए गैर-सरकारी स्तर पर संघ ने कदम बढ़ाने का साहस किया। हिंदू सहायता समिति गठित की गई। संघ-शक्ति इस कार्य में जुट गई। यह तात्कालिक अपितु अति आवश्यक कार्य था। संघ ने यह स्वयं स्वीकृत दायित्व सार्वदेशिक स्तर पर निभाया। संघ के प्रति जनमानस में आस्था बढ़ गई। संघ शाखाओं में संख्या की बाढ़ आने लगी।
- मातृभूमि का विभाजन स्वीकार कर सत्ता पानेवाले नेतृत्व के प्रति जनमानस में रोष व्याप्त था। विभाजन को लेकर घटनेवाली अमानवीय घटनाओं के कारण तनाव बढ़ता जा रहा था। उसी में गांधीजी की हत्या हुई।
- सत्ताधारी नेतृत्व को लगा कि लोकप्रिय संघ-शक्ति कहीं हमारी सत्ता के लिए चुनौती न बन जाए, अहिंसा के नाम से मिला स्वराज्य लाखों की हत्या के खून से लथपथ था। अपनी विफलता के कारण उनके मन में उपर्युक्त अनावश्यक संदेह निर्माण हुआ। उन्होंने महात्माजी की हत्या का संघ पर झूठा आरोप मढ़कर संघ पर प्रतिबंध लगाया। हजारों स्वयंसेवकों को अचानक जेल में ठूंसा। संघ को लोगों की नजर से गिराने के लिए सरकारी स्तर पर घृणित प्रचार किया। लोगों को भड़काकर सैकड़ों स्वयंसेवकों के घर ध्वस्त करवाए। स्वराज्य प्राप्ति के बाद की शुरुआत राष्ट्रीय प्राथमिकताओं से न होकर सत्तामोह की विभीषिका से हुई।
- सदियों बाद अपना देश स्वतंत्र हुआ था। हमें अपने राष्ट्र का नवनिर्माण करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। सर्वसाधारण नागरिकों के सक्रिय सहयोग से इस नए दायित्व को निभाने का कार्य प्रारंभ करना चाहिए था। इस दिशा में पहल करना देश के तत्कालीन नेतृत्व का काम था। नेतृत्व ने इस महती आवश्यकता की उपेक्षा की।
- अपना समाज बहुत पुराना है। सदियों की साधना के माध्यम से उसने नित्य-नूतन बनी रह पानेवाली संस्कृति का आविष्कार किया था, किंतु काल के प्रवाह में सामाजिक जीवन में कई कुप्रथाएं प्रचलित हुईं। अनेक रूढ़ियां कालबाह्य होने के बावजूद भी जीवन का अंग बनी हुई हैं।
- सैकड़ों साल गुलामी से छुटकारा पाने के संघर्ष के काल में तत्कालीन नेतृत्व के लिए युगानुकूल व्यवस्थाएं निर्माण कर उपर्युक्त दोषों से मुक्ति पाना संभव नहीं था। इतना ही नहीं गुलामी के

काल में कुछ और खराबियां अपने सामाजिक जीवन में प्रविष्ट हुईं। स्वराज्य प्राप्ति के बाद उपस्थित नेतृत्व को उपर्युक्त कार्य हाथ में लेने चाहिए थे।

- गत ढाई-तीन सौ सालों में पश्चिमी देशों में वैज्ञानिक एवं तकनीकी के क्षेत्र में कल्पनातीत प्रगति हुई। नित नए जीवनोपयोगी उपकरण उपलब्ध होते गए। इन आधुनिक उपकरणों का उपयोग रोका नहीं जा सकता। उनके उपयोग का प्रभाव व्यक्तिगत, पारिवारिक तथा सामाजिक जीवन पर बढ़ता जा रहा है। उसी के साथ पश्चिम का उपभोगवाद देश में तेजी से फैल रहा है। मानव मन की संवेदनशीलता घट रही है। कृतज्ञता की भावना मिट रही है। नैतिक मूल्यों की महत्ता बची नहीं।
- स्वराज्य पाकर बयालीस साल बीत चुके हैं, किंतु वस्तुस्थिति को समझकर अपने परंपरागत जीवन-मूल्यों को कायम रखते हुए बदलते संदर्भों में जीवन की नवरचना करने के काम की उपेक्षा की जा रही है। परिणामस्वरूप अपनी नित्य नूतन बनी रह पानेवाली संस्कृति भी संकटग्रस्त है।
- इस संभावना के संकेत स्वातंत्र्य संग्राम के दार्शनिकों ने एवं अग्रणियों ने स्वराज्य प्राप्ति के बहुत पहले ही दिए थे। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में घोषणा की थी, ''भारत—पश्चिम में उपजी भोगप्रवण औद्योगिक सभ्यता की बाढ़ में प्रवाह पतित के समान कदापि नहीं बहेगा। अपने पूर्वजों द्वारा प्रदत्त जीवन-दर्शन, वैज्ञानिक समाज रचना तथा अखंड अनुभव परंपरा के प्रकाश में अपनी मौलिक प्रतिभा से स्थायी मानव मूल्यों पर आधारित, आधुनिक आविष्कारों का पूरा लाभ उठाते हुए युगानुकूल सामाजिक एवं आर्थिक रचना खड़ी करेगा, जो शेष विश्व के लिए भी अनुकरणीय बन सके।'' विवेकानंद, अरविंद, तिलक एवं गांधी आदि मनीषियों ने बार-बार दोहराया था, ''नियति द्वारा निर्धारित अपने इस जीवन-लक्ष्य की पूर्ति के लिए ही भारत स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए संघर्ष कर रहा है। अतः भारत की स्वतंत्रता केवल अपने लिए ही नहीं अपितु संपूर्ण विश्व के लिए आवश्यक है।'' स्व. डॉक्टर हेडगेवारजी की हिंदू-राष्ट्र की घोषणा में उपर्युक्त दिशा ही प्रतिबिंबित होती है।
- सत्ता पाते ही नेतृत्व ने उपर्युक्त दिशा-दर्शन की उपेक्षा की। लोक-शक्ति को भुला दिया। राजसत्ता को कामधेनु माना। नौकरशाही के भरोसे राष्ट्र नवनिर्माण एवं सामाजिक नवरचना के सपने देखे। परिणामस्वरूप सर्वसाधारण नागरिकों और नई पीढ़ी के सम्मुख अपने व अपने कुटुंब के पालन-पोषण के अतिरिक्त कोई उदात्त लक्ष्य रहा नहीं। स्वराज्य प्राप्ति के बाद सबका एकमेव लक्ष्य बना अपना व अपने कुटुंबियों का सुख-समाधान तथा व्यक्तिगत वैभव। चारों ओर फैले इस वातावरण में संघ के दैनंदिन शाखाओं की संख्या कैसे बढ़ सकती है?
- स्वयंसेवकों को अनुभव नहीं हो पा रहा है कि शाखाओं में प्रचलित कार्यक्रमों द्वारा संघ-प्रार्थना में वर्णित लक्ष्य सिद्ध होगा। परिणामतः वे शाखाओं की अपेक्षा संघ-प्रेरित अन्य कार्यों में अधिक रुचि लेते हैं। अपनी अनुशासन परंपरा के वशीभूत होने के कारण वे बोलते नहीं, किंतु मन ही मन समझते हैं कि शाखा कार्यक्रमों द्वारा अपना लक्ष्य सिद्ध होनेवाला होता तो

संघ अन्य कार्यों को प्रारंभ क्यों करता? शाखा में प्रार्थना मात्र के लिए जाना एक रूढ़ि मात्र बनी है। नई पीढ़ी रूढ़ियों की लीक पर चलना पसंद नहीं करती।

- उपर्युक्त पृष्ठभूमि में संघ को अपने कार्य की पुनर्रचना करनी होगी। संघ शाखा लक्ष्य सिद्धि का साधन है, साध्य नहीं। साध्य प्रार्थना में वर्णित है। शाखा का वर्तमान रूप साध्य की सिद्धि का उपयुक्त साधन अनुभव नहीं होता। अतः शाखा कार्यक्रमों में आवश्यक परिवर्तन करना आवश्यक है। इसमें अनावश्यक विलंब हो रहा है।
- भारत को हम हिंदू राष्ट्र के रूप में प्रतिष्ठित करना चाहते हैं। क्या हमारे कदम उस दिशा में बढ़ रहे हैं? हम हिंदू कहलाने का आग्रह करते हैं। क्या इतना भर पर्याप्त है? व्यावहारिक जीवन में हम हिंदू बने, क्या इस दिशा में हम प्रयत्नशील हैं? क्या इसके बिना हिंदू राष्ट्र प्रस्थापित होगा?
- समाज में एकता और एकात्मता की निर्मिति के लिए हम कटिबद्ध हैं, यह हमारी धारणा है। किंतु संविधान निर्माताओं ने दलीय आधार पर प्रचलित लोकतंत्र की पश्चिमात्य पद्धति को स्वीकार किया है। तदनुसार काम करने के लिए संघ के कार्यकर्ताओं को प्रोत्साहित किया जाता है। इस दलीय लोकतंत्र की क्रियाकलापों का माध्यम है आत्मस्तुति एवं परनिंदा। क्या उसे अपनाकर हम समाज में एकता व एकात्मता निर्माण कर पाएंगे? क्या यह क्रियाकलाप हमारी संस्कृति के अनुकूल है? क्या इस विधि से हिंदू राष्ट्र का सपना साकार होगा? बालिग मताधिकार पर आधारित उपर्युक्त लोकतांत्रिक व्यवस्था को अपनाकर केवल सैंतीस साल ही व्यतीत हुए हैं। इस अवधि में समाज में एकता व एकात्मता की दृष्टि से अपना अनुभव क्या है?
- सामाजिक जीवन में एकता व एकात्मता को साकार करने के लिए प्रत्येक छोटी-बड़ी आबादी में सर्वमान्य व्यक्तियों की, अर्थात् जो निष्पक्ष और सबके विश्वासपात्र हों, अनिवार्यता होती है। पंचमुखी परमेश्वर की परंपरा का यही आधार रहा है। वर्तमान शासन प्रणाली ने उस आधार को ही ठेस पहुंचाई है। फलस्वरूप ग्राम, जिला, नगर, प्रदेश एवं देश के स्तर पर निष्पक्ष एवं सर्वमान्य व्यक्तियों का भीषण अभाव निर्माण हुआ है। ऐसी स्थिति में क्या स्वीकृत नीति पर हमें पुनर्विचार करना आवश्यक नहीं है?
- वर्तमान काल में राजनीतिक चरित्र कितना भी अवसरवादी बना हो, प्रशासन भ्रष्टाचार ग्रस्त हुआ हो क्षेत्रवाद व जातिवाद उग्र रूप धारण किए हुए हो, स्वार्थलिप्सा सीमा पार कर चुकी हो—फिर भी संघ ही एक सर्वमान्य देशव्यापी शक्ति है, जो अनुशासनबद्ध, संगठित तथा आदर्शवादी है। उसके पास समर्पित कार्यकर्ताओं का अद्वितीय सामर्थ्य है। देश और समाज की दुर्दशा का दोष दूसरों के मत्थे मढ़कर संघ स्वयं को अपने दायित्व से मुक्त मानने की गुलामी की परिचायक दुष्प्रवृत्ति का शिकार नहीं है।
- स्वातंत्र्य संग्राम के दार्शनिकों के सपनों को साकार करने की आकांक्षा संघ कार्यकर्ताओं में ही है। कारण, संघ का जन्म उन्हीं आदर्शों को लेकर हुआ है। संघ के स्वयंसेवक व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षाओं के वशीभूत न होने के कारण वे वर्तमान सत्ता संघर्ष से स्वयं को दूर रखने

की क्षमता रखते हैं। यही एक देशव्यापी गैर-सरकारी संगठन है, जो सर्वसाधारण नागरिकों में विशेषतः युवा-वर्ग में राष्ट्र नवनिर्माण के विभिन्न कार्यों में संलग्न होने की प्रेरणा जगा सकता है।

- राष्ट्र नवनिर्माण केवल आर्थिक विकास की प्रक्रिया तक सीमित नहीं है। काम का संवैधानिक अधिकार दिलवाना तथा बेकारों को बेकारी भत्ता उपलब्ध करवाना ही राष्ट्र नवनिर्माण नहीं है। प्रस्ताव पारित करना, बड़ी-बड़ी शोभा यात्राएं निकालना, हड़तालें करवाना, आंदोलन छेड़ना आदि से भी राष्ट्र नवनिर्माण संभव नहीं है। इस ऐतिहासिक कार्य को संपन्न करने के लिए प्राथमिक आवश्यकता है मानव में आवश्यक जीवन दृष्टिकोण निर्माण करने की। उसमें व्यक्तिगत, पारिवारिक, व्यावसायिक, सामाजिक एवं मानवीय जीवन में परस्पर-पूरकता का भाव जगाने की। यह काम शासकीय या प्रशासकीय तंत्र के माध्यम से असंभव है। इसके लिए एकमेव मार्ग है मानव के लिए मूलगामी संस्कारों की उपलब्धि का। इसकी अनिवार्यता हिंदू मनीषियों ने समझी थी और उसकी समुचित व्यवस्था की थी परिवार संस्था की स्थापना से।
- दुर्भाग्य है कि सदियों से समाज की इस मूलभूत संस्था की महत्ता उपेक्षित हो गई है। मानव को सभ्य, सुसंस्कृत, मानवीय तथा सुयोग्य बनाने की दृष्टि से परिवार की कितनी महत्त्वपूर्ण भूमिका है, यह विस्मृति के गर्त में गायब हो गई है। परिणामस्वरूप वैज्ञानिक क्रांति के बावजूद मानवमात्र भयग्रस्त है। हिंदुस्तान आजाद होने के बावजूद जनजीवन अनैतिकता, भ्रष्टाचार, अनाचार, अत्याचार, अन्याय का सतत शिकार होता जा रहा है। राष्ट्र नवनिर्माण की आधारशिला है परिवार संस्था। यदि परिवार ही सुसंस्कारक्षम न रहा तो मानव का मानवीयता से विभूषित होना असंभव है। इसके अभाव में अन्य कार्य निरर्थक सिद्ध होते हैं।
- हिंदू राष्ट्र का सपना साकार करने के लिए परिवार संस्था को सामाजिक जीवन की आधारभूत इकाई के रूप में पुनर्प्रतिष्ठित करना प्राथमिक आवश्यकता है। परिवार अपनी मूल भूमिका को भुला बैठा है। अनजान में ही वह असामाजिक दिशा में गतिशील है। अधिकाधिक संकुचित प्रवृत्ति का वह कारण बन गया है। उपभोगवाद का वह स्रोत सिद्ध हो रहा है। फलस्वरूप गर्भावस्था से ही नई पीढ़ी पर असामाजिकता के कुसंस्कार हो रहे हैं। ऐसी स्थिति में पारिवारिक जीवन की उपेक्षा कर अन्य उपाय हिंदू राष्ट्र की स्थापना में सहायक नहीं हो सकते।
- वर्तमान काल में उपर्युक्त कार्य संघ के अतिरिक्त अन्य कोई कर नहीं सकता। कारण अन्य कार्यों की पृष्ठभूमि हिंदू संस्कृति पर आधारित नहीं है। वे तात्कालिक एवं सतही काम के अभ्यस्त हैं। उनसे इस संजीवक कार्य की अपेक्षा करना मृगजल के पीछे दौड़ना मात्र है।
- संघ शाखाएं देश के सभी प्रदेशों में, प्रदेश के हर जिले में तथा जिलों के अनेक अंचलों में फैली हुई हैं। अतः उपर्युक्त कार्य संपन्न कराने के लिए उपयुक्त ढांचा बना हुआ है।
- संघ के हजारों सुयोग्य कार्यकर्ता, जो अनेक वर्ष प्रचारक रहे हैं, देश भर में फैले हुए है। विवाहबद्ध होकर वे अपना गृहस्थाश्रम चला रहे हैं। यदि उन्हें इस दिशा में गतिशील करने का

अभियान चलाया जाए तो समाज के सम्मुख सुसंस्कारयुक्त अनुकरणीय परिवार भारत भर में प्रस्तुत किए जा सकते हैं। युगानुकूल सामाजिक नवरचना का यह कार्य यथार्थ माध्यम बनेगा। राष्ट्रीय वृत्ति से परिपूर्ण नई पीढ़ी के विकास का यह शुभारंभ सिद्ध होगा।

- संघ शाखाओं के माध्यम से भी यह कार्य हाथ में लिया जाना चाहिए। लाखों स्वयंसेवकों के परिवार सुसंस्कार-केंद्रों के रूप में विकसित करना संघ के लिए सुगम कार्य है। इस सुगम कार्य द्वारा राष्ट्र नवनिर्माण का महान् कार्य संपन्न हो सकता है। देखते-देखते अपना समाज प्रचलित कुप्रथाओं से मुक्त हो सकता है। युगानुकूल स्वस्थ परंपराओं के आविष्कार द्वारा कालबाह्य रूढ़ियों को हटाया जा सकता है। व्यक्तिगत, पारिवारिक, व्यावसायिक एवं सामाजिक जीवन परस्पर-पूरकता का रूप ले सकता है। वास्तविक रूप से यह ही सामाजिक संगठन का चिरप्रतीक्षित कार्य है। इसके बिना समाज का संगठन स्थायी व स्वस्थ नहीं बन सकता। स्वातंत्र्य संग्राम के दार्शनिकों के सपनों तथा स्व. डॉक्टरजी के हिंदू राष्ट्र को साकार करने का यह मार्ग है। ऐसा हिंदू जीवन मानव मात्र के लिए इस आधुनिक युग में भी अनुकरणीय बन सकता है।
- परिवार का मूल है विवाह। विवाह की औपचारिकता तो किसी-न-किसी रूप में निभाई जाती है, किंतु विवाह क्यों, विवाहबद्धता किस लक्ष्यसिद्धि के लिए? वैवाहिक जीवन एवं सामाजिक जीवन का परस्पर संबंध क्या है? मातृत्व एवं पितृत्व का क्या कोई व्यापक अर्थ है? प्राप्त संतान को कौन सी जीवन दृष्टि प्रदान करनी है, आधुनिक संदर्भों में अपने परंपरागत मानवीय मूल्य रोज के व्यवहार में कायम रखने के लिए कौन सी विधियां विकसित की जानी चाहिए, क्या इन अति महत्त्वपूर्ण जीवनावश्यक जानकारी को उपलब्ध किए बिना हिंदू जीवन इस युग में खड़ा किया जा सकता है? क्या सबल हिंदू जीवन के बिना ही हिंदू राष्ट्र को प्रतिष्ठित करना संभव है?
- हिंदू जीवन हमें 'सर्वेपि सुखिनः सन्तु' की दिशा में गतिशील होने की प्रेरणा देता है। सामाजिक संगठन का यह मूल-मंत्र है। यह दिशा समाज घटकों में केवल संवेदनशीलता ही नहीं आध्यात्मिकता भी बढ़ाएगी। नैतिक स्तर सहज में ही ऊंचा उठाएगी। इसी एक माध्यम से समाज में व्यापक स्तर पर निर्लज्जतापूर्ण प्रचलित विषमता घटाई जा सकेगी।
- हमने राष्ट्र जीवन के अनेक क्षेत्रों में पदार्पण किया है। धार्मिक क्षेत्र में भी हम कार्यरत हैं। किसान और मजदूर क्षेत्र में भी हम आगे बढ़ रहे हैं। सभी क्षेत्रों का यहां उल्लेख करना अनावश्यक है। कारण, हमें अन्य अनेक नवीन क्षेत्रों को भी अपनाना पड़ेगा। इन सभी क्षेत्रों के लिए विभिन्न विषयों में योग्यता प्राप्त विशेष कार्यकर्ताओं की आवश्यकता है। अतः हमारे पास ऐसे कार्यकर्ता उपलब्ध कराने के लिए समुचित प्रशिक्षण व्यवस्था की आवश्यकता है। अन्यथा उन क्षेत्रों का विकास हिंदू जीवन-मूल्यों के अनुसार ही होगा, यह समझना अव्यावहारिक होगा।

अपनी ध्येयसिद्धि तथा राष्ट्र जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में अपेक्षित सफलता पाने के लिए आवश्यक है कि हम अपनी शाखाओं को प्रशिक्षण-केंद्र के रूप में विकसित करें। अपनी शाखाओं

के द्वारा ही सभी क्षेत्रों के लिए प्रशिक्षित कार्यकर्ता उपलब्ध करना संभव होगा। इसके लिए हमें हर एक शाखा में एक या दो विशेष विषयों के प्रशिक्षण की व्यवस्था करनी होगी। केवल पंद्रह–बीस मिनट सभी शाखाओं में समसमान कार्यक्रम चलाए जा सकते हैं।

□

महापुरुषों का प्रसाद
दीनदयाल शोध संस्थान

पंडित दीनदयाल उपाध्याय स्मारक समिति का गठन अपने साथी, सखा तथा नेता की स्मृति में 14 फरवरी, 1968 को किया गया। समिति के अध्यक्ष के रूप में मान्यवर अटल बिहारी वाजपेयीजी का मार्गदर्शन प्रारंभ से ही हमें प्राप्त होता रहा है। समिति के उद्‌देश्य एवं कार्यक्रमों की रूपरेखा निर्धारित करने में देश के अनेक मूर्धन्य विचारकों का योगदान प्राप्त हुआ था। पं. दीनदयालजी के निकटतम सहयोगियों के अतिरिक्त इस कार्य में योगदान करनेवालों में ये नाम विशेष उल्लेखनीय हैं—परमपूज्य श्रीगुरुजी, योजना आयोग के तत्कालीन उपाध्यक्ष श्री धनंजयराव गाडगिल, इंडिया इंटरनेशनल सेंटर के तत्कालीन अध्यक्ष, भूतपूर्व वित्तमंत्री श्री चिंतामणिरावजी देशमुख, उत्तर प्रदेश के भूतपूर्व मुख्यमंत्री व राजस्थान के राज्यपाल श्री संपूर्णानंदजी। इसे विशेषतः अंग्रेजी में लिपिबद्ध करने का दायित्व बड़ी योग्यता के साथ निभाया माननीय श्री दंतोपंतजी ठेंगड़ी ने।

नैतिकता की मजबूत नींव पर अपने पुरातनतम समाज की युगानुकूल सामाजिक तथा आर्थिक पुनर्रचना के क्षेत्र में वैचारिक धरातल पर शोध कार्य करने तथा प्रत्यक्ष क्षेत्र में प्रयोगात्मक कार्य के संचालन के लिए दिल्ली में एक उपयुक्त भवन निर्माण करने का निर्णय किया गया था। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के तत्कालीन सरकार्यवाह श्री माधवराजजी मुले तथा दिल्ली प्रदेश संघचालक माननीय श्री लाला हंसराजजी का आग्रह रहा कि इसके लिए आवश्यक स्थान पुरानी दिल्ली व नई दिल्ली के बीचों बीच लिया जाए। सौभाग्य से छोटी, किंतु उपयुक्त जगह झंडेवालान परिसर में चार लाख रुपयों में प्राप्त हुई, जहां यह भवन खड़ा है।

जगह खरीदने तथा भवन निर्माण के लिए सर्वप्रथम आवश्यकता थी धनसंग्रह की। इस दायित्व का भार वहन किया समिति के प्रतिष्ठापक सदस्य एवं प्रथम कोषाध्यक्ष श्री रामकुमार बत्रा ने।

'दीनदयाल शोध संस्थान' नाम से इस भवन निर्माण का कार्य 1969 में ही प्रारंभ करना था, किंतु उसमें विलंब हुआ। प्रत्यक्ष निर्माण कार्य प्रारंभ हो सका 1970 के प्रारंभ में। भवन निर्माण की रूपरेखा बनाते समय परमपूज्य गुरुजी ने मत प्रकट किया था कि यह कार्य निरंतर व्ययसाध्य

डीआरआई दस्तावेज़, 10 जनवरी, 1984

होने के कारण भवन निर्माण करते समय इस बात का ध्यान रखना आवश्यक होगा कि इसमें से संस्थान के कार्य के लिए नियमित आय होने की संभावना हो सके। तदनुसार ही भवन निर्माण की रूपरेखा अनेक महानुभावों की सलाह से तैयार की गई। वास्तु की जो कल्पना की गई थी, उसे मूर्तरूप देने का कार्य किया दिल्ली के विख्यात आर्किटेक्ट श्री (हनवंत राय) सूरी ने तथा उसके निर्माण का बड़ी लगन एवं योग्यता के साथ कार्य किया सिविल इंजीनियर श्री दीनानाथजी ने। भवन का निर्माण कार्य पूर्ण हुआ 1972 के प्रारंभ में। शोध संस्थान की ओर से निर्माण कार्य की सतत देखभाल करने का जिन्होंने कार्य किया, उसमें दो नाम विशेष उल्लेखनीय हैं—एक दीनदयाल शोध संस्थान के कार्यकर्ता श्री शंकरलालजी तथा समाज-सेविका श्रीमती ऊषा बहन जैन।

पूज्य मां ने आग्रह स्वीकारा

1972 के अगस्त में इस भवन का उद्घाटन करने का निश्चय हुआ। परमपूज्य श्री गुरुजी की इच्छानुसार महर्षि अरविंद की जन्मतिथि, जो उस वर्ष हिंदू पंचांग के अनुसार 20 अगस्त को थी, उस शुभ-घड़ी में दीनदयाल शोध संस्थान का उद्घाटन हुआ। इसी उपलक्ष्य में 'आज के लिए श्रीअरविंदजी का संदेश' विषय पर दीनदयाल शोध संस्थान ने देशव्यापी निबंध प्रतियोगिता रखी थी। देश भर से विद्वान् लोगों ने इस पर निबंध भेजे। निरीक्षण एवं परीक्षण समिति के अध्यक्ष के नाते दायित्व निभाया बिहार के भूतपूर्व राज्यपाल एवं प्रसिद्ध विचारक माननीय श्री आर.आर. दिवाकर ने।

पांडिचेरी आश्रम की पूज्य मां ने मेरा आग्रह स्वीकार कर अपने विशेष प्रतिनिधि को इस प्रसंग पर दिल्ली भेजकर अपना शुभाशीर्वाद दिया। इस भवन का उद्घाटन हुआ परमपूज्य गुरुजी के कर-कमलों द्वारा। उद्घाटन, पावन हवन एवं वेद मंत्रों द्वारा संपन्न किया काशी के विद्वान् देव बंधुद्वय ने।

दीनदयाल शोध संस्थान के भवन निर्माण के बाद धीरे-धीरे शोध संस्थान का कार्य प्रगति करने लगा। शोध संस्थान ने अनेक परिसंवाद एवं प्रकाशन कार्य प्रारंभ किए। देश के अनेक मूर्धन्य विचारकों ने इसमें सहयोग दिया। ऐसे विचारकों में सर्वश्री आचार्य कृपलानी, मोहम्मद करीम छागला, श्रीमती सुचेता कृपलानी, जयप्रकाश नारायण, भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश सुब्बाराव, न्यायमूर्ति ए.एन. ग्रोवर, न्यायमूर्ति के.एस. हेगडे, सी.के. दफ्तरी, अशोक सेन, जस्टिस तारकुंडे, अच्युत पटवर्धन, डी.आर. मनकेकर आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। परिसंवाद के आयोजन कार्य में सर्वोच्च न्यायालय के एडवोकेट श्री अप्पाजी घटाटे संयोजक के नाते विशेष दायित्व निभाते आ रहे हैं।

आपातकाल का आघात

1973 में जयप्रकाशजी ने समग्र क्रांति का उद्घोष किया। उसी को लेकर 1974 में बिहार में उग्र आंदोलन प्रारंभ हुआ। उसमें मुझे विशेष सक्रिय होना अनिवार्य हो गया। 1975 में इमरजेंसी

के आघात से दीनदयाल शोध संस्थान का कार्य उस काल में पूर्णत: बंद रहा। 1977 में इमरजेंसी समाप्त हुई। शोध संस्थान का कार्य नवगति से प्रारंभ हुआ। श्री पी. परमेश्वरनजी ने निदेशक के नाते दायित्व ग्रहण किया। 'मंथन' नाम से हिंदी एवं अंग्रेजी में त्रैमासिक प्रारंभ किया गया। श्री पी. परमेश्वरनजी ने ही संपादन का कार्यभार संभाला था।

25 सितंबर दीनदयालजी का जन्मदिन था। अत: 1977 के 25 सितंबर को दिल्ली के विज्ञान भवन में तत्कालीन प्रधानमंत्री माननीय श्री मोरारजी भाई देसाई की अध्यक्षता में भव्य समारोह मनाया गया। इस पावन प्रसंग पर दीनदयाल शोध संस्थान की भावी योजना की, जिसमें गोंडा ग्रामोदय प्रकल्प की योजना प्रमुख थी, विधिवत् घोषणा की गई। रामकृष्ण मिशन के श्रद्धेय स्वामी रंगनाथानंदजी ने अपना शुभाशीर्वाद देने के लिए स्वयं उपस्थित रहने की कृपा की थी।

तब से मैंने इसी नवनिर्माण के कार्य के लिए अपना अधिकांश समय देना प्रारंभ किया। इस अवधि में मुझे यह तीव्रता से अनुभव होने लगा कि दलगत राजनीति की परिधि में बंधकर सामाजिक एवं आर्थिक पुनर्रचना का कार्य कर पाना असंभव सा है, क्योंकि इस प्रकार के रचनात्मक कार्य की सफलता के लिए समाज के सभी वर्गों तथा स्तरों के व्यक्तियों का सक्रिय सहयोग अनिवार्य है। साथ ही, स्वाधीनता प्राप्ति के बाद समाज में यह धारणा सी बनी है कि युगानुकूल सामाजिक तथा आर्थिक पुनर्रचना का दायित्व केवल सत्ताधिष्ठत व्यक्ति या सरकार का ही है, इस भ्रमपूर्ण धारणा को दूर करने के लिए मुझे यह आवश्यक लगा कि एक साधारण नागरिक के नाते सामाजिक एवं आर्थिक पुनर्रचना के कार्य में बहुत कुछ किया जा सकता है। इसका नमूना उपस्थित करने में ही जुटा रहूं। इस आवश्यकता की पूर्ति को ध्यान में रखकर ही मैंने दिनांक 8 अक्तूबर, 1978 को जयप्रकाशजी की उपस्थिति में पटना नगर में सार्वजनिक रूप से दलीय राजनीति से पूर्णत: अलिप्त होने की घोषणा की। तब से मैं पूर्णरूप से दीनदयाल शोध संस्थान के कार्य में ही संलग्न हूं।

रचनात्मक प्रकल्पों का शुभारंभ

गोंडा ग्रामोदय प्रकल्प की रूपरेखा तैयार करने तथा उसे गोंडा में साकार करने के काम में अनेक लोगों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। सलाह के स्तर पर श्री लक्ष्मीचंदजी जैन, श्री जी.वी.के. राव तथा डॉ. (एम.एस.) स्वामीनाथन का योगदान अविस्मरणीय है। प्रत्यक्ष कार्यक्षेत्र में डॉ. जिनेंद्र कुमार जैन तथा श्री आर.वी. पंडित ने उल्लेखनीय योगदान किया है। 25 नवंबर, 1978 के दिन भारत के तत्कालीन महामहिम राष्ट्रपति श्री नीलम संजीव रेड्डी द्वारा गोंडा के जयप्रभाग्राम में ग्रामोदय प्रकल्प का शुभारंभ किया गया। स्वाधीन भारत में देश के प्रथम नागरिक का अर्थात् राष्ट्रपति का ग्रामों के निर्धनतम नागरिकों के साथ जमीन पर बैठकर पत्तल में साधारण भोजन करने की घटना अपना विशेष स्थान रखती है। इस प्रसंग पर सरसंघचालक पू. श्री बालासाहेब देवरस ने भी उपस्थित होकर इस कार्य को अपना आशीर्वाद प्रदान किया। भारत के भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश न्यायमूर्ति एच.एम. बेग भी विशिष्ट अतिथि के रूप में उपस्थित थे।

गोंडा ग्रामोदय प्रकल्प के कार्य के आंकड़े अलग से अंकित किए गए हैं। फिर भी प्रथम दो वर्ष की अवधि में 27 हजार नलकूप लगाकर ढाई लाख एकड़ की अतिरिक्त सिंचाई की व्यवस्था सुलभ कराना एवं 95 हजार परिवारों को आर्थिक स्वावलंबन प्राप्त कराना उल्लेखनीय है।

उसके बाद अनुभवों के आधार पर सर्वांगीण विकास के लक्ष्य की दिशा में कृषि, स्वास्थ्य, शिक्षा, रोजगार एवं संस्कार के क्षेत्रों में अनेक प्रयोग प्रारंभ किए गए हैं। हमारे 'सबके लिए स्वास्थ्य' कार्यक्रम की सफलता में डॉ. आर.के. सेठ, नेत्र चिकित्सा विशेषज्ञ ने सराहनीय योगदान दिया है। ग्रामों में सचल नेत्र चिकित्सा सुलभ कराने हेतु आधुनिकतम शल्यक्रिया उपकरणों से युक्त दो बसें डालमिया हाउस तथा थापर हाउस के द्वारा प्रदत्त की गईं, जिनसे उड़ीसा के सुंदरगढ़ तथा उत्तर प्रदेश के गोंडा जैसे पिछड़े इलाकों के सुदूरतम ग्रामों में हजारों गरीबजन लाभ पा रहे हैं। अब तक ग्रामीण अंचलों में 50 से भी अधिक नेत्र एवं स्वास्थ्य शिविरों का सफल आयोजन किया जा चुका है। स्कूल, कॉलेजों में जाकर छात्रों के स्वास्थ्य परीक्षण का कार्यक्रम भी नियमित रूप से चल रहा है।

ग्रामीण अंचलों में स्वरोजगार उपलब्ध कराने की दिशा में हमारे प्रशिक्षण एवं क्रय-विक्रय केंद्रों का अनुभव उत्साहवर्धक रहा। अभी हाल में ही प्रयाग में आयोजित एक अंतरराष्ट्रीय हस्तकला प्रदर्शनी में हमारे यहां प्रशिक्षित कारीगरों के द्वारा निर्मित सामग्री की सभी ने सराहना की तथा प्रदर्शनी का प्रथम पुरस्कार भी संस्थान को प्राप्त हुआ। जयप्रभाग्राम में कृषि, पशुपालन, मत्स्यपालन, मुरगीपालन आदि के क्षेत्र में हमारे कार्यकर्ताओं ने अनेक सफल प्रयोग किए हैं जिनका लाभ अब ग्रामीणों को मिलने लगा है। कृषि विकास के क्षेत्र में हमें अनेक विशेषज्ञों का सहयोग एवं मार्गदर्शन मिला है, जिनमें डॉ. नवल किशोर वाजपेयी एवं डॉ. बापट के नाम उल्लेखनीय हैं। इस संदर्भ में बलचालित पंप एवं बीज सुरक्षा के प्रयोग को कृषि पंडित बड़ी आशा भरी निगाहों से देख रहे हैं। इनका सफल प्रयोग व प्रचार देश में नई कृषि क्रांति लाने में समर्थ हो सकता है। इसी प्रकार गोंडा प्रशिक्षण केंद्र में हथकरघा, सिलाई-कढ़ाई, रेडियो मरम्मत, टाइपिंग, शॉर्टहैंड, साबुन निर्माण, रस्सी बटाई, टाट बुनाई आदि का प्रशिक्षण सफलतापूर्वक दिया जा रहा है, जिससे सैकड़ों युवक लाभान्वित हो रहे हैं।

कार्य का विस्तार

गोंडा ग्रामोदय प्रकल्प के अनुभवों का विस्तार करने हेतु संस्थान ने बिहार के सिंहभूम एवं उड़ीसा के सुंदरगढ़ जिलों के आदिवासी क्षेत्रों में अपना कार्य प्रारंभ किया है। सन् 1980 में गांधी जयंती के दिन नागपुर में 'सर्वांगीण बाल विकास प्रकल्प' का शुभारंभ किया गया। तीन वर्ष की अल्पावधि में ही इस प्रकल्प ने जो उपलब्धियां अर्जित की हैं, उनकी सराहना नागपुर के सभी सामाजिक नेताओं एवं समाचार-पत्रों ने की है। इस प्रयोग की सफलता का श्रेय सौ. सुमति ताई सुकलीकर को है, जिन्होंने शारीरिक अस्वस्थता के बावजूद अपने सहयोगियों के साथ दिन-

रात एक कर उपेक्षित परिवारों के बच्चों के विकास कार्य को एक नई दिशा दी।

इसी प्रकार 11 फरवरी, 1983 के दिन महाराष्ट्र के बीड जिले को भी संस्थान ने सर्वांगीण विकास कार्य के लिए अंगीकृत किया है। ज्ञातव्य है कि यह जिला न केवल अत्यंत पिछड़ा है, अपितु वहां 60 प्रतिशत से भी अधिक आबादी को पीने का पानी उपलब्ध नहीं है।

शिक्षा के क्षेत्र में 5 से 15 वर्ष के बच्चों को शिक्षित करने का एक व्यापक कार्यक्रम इस वर्ष हमने तैयार किया है। संस्कारयुक्त एवं रोजगारपरक शिक्षा का प्रयोग करने के लिए जयप्रभाग्राम में एक छोटा विद्यालय भी प्रारंभ किया है, जिसमें लगभग एक सौ पचास बच्चे शिक्षा ग्रहण कर रहे हैं। इस विद्यालय का शिलान्यास पूज्य स्वामी चिन्मयानंदजी के करकमलों द्वारा किया गया था।

सामाजिक कुरीतियों को दूर करने एवं अच्छे संस्कार जगाने की दृष्टि से गोंडा जिले के सभी 269 न्याय पंचायतों में संस्कार केंद्र खोलने की योजना को इसी वर्ष से मूर्तरूप देना प्रारंभ हुआ है।

सर्वांगीण विकास के प्रयोग में गति लाने के लिए गोंडा जिले के विकास की एक सप्तवर्षीय योजना तैयार की है। सन् 1990 तक कृषि, स्वास्थ्य, शिक्षा एवं रोजगार के क्षेत्र में गोंडा जिले को एक आदर्श के रूप में विकसित करने का हमारा संकल्प है।

संस्थान के वैचारिक विभाग का पुनर्गठन किया गया है। हिंदी व अंग्रेजी में मासिक मंथन एवं अन्य उपयोगी साहित्य के प्रकाशन एवं संदर्भ पुस्तकालय के साथ ही व्याख्यानमाला, परिसंवाद, विचार-गोष्ठियां, कार्यशाला आदि कार्यक्रमों का सभी क्षेत्रों में स्वागत किया गया है। युवा पीढ़ी को पुनर्रचना के कार्य में प्रेरित करने के लिए गत दो वर्षों से दीनदयालजी की जन्मतिथि पर आयोजित कार्यक्रम में महाविद्यालयों एवं विश्वविद्यालय के छात्रों ने अच्छी संख्या में उत्साहपूर्वक भाग लिया। पुनर्निर्माण की गतिविधियों को प्रोत्साहित एवं प्रचारित करने के उद्देश्य से ही शीघ्र हिंदी व अंग्रेजी में एक मासिक पत्रिका का प्रकाशन विचाराधीन है।

यह हर्ष की बात है कि दिल्ली विश्वविद्यालय के कई प्राध्यापक संस्थान की बौद्धिक गतिविधियों में सक्रिय सहयोग दे रहे हैं।

राष्ट्र की सामाजिक-आर्थिक पुनर्रचना की दिशा में अपनी विचारधारा का योगदान अधिक ठोस एवं प्रभावी बन सके, इस उद्देश्य को सामने रखकर इस वर्ष पं. दीनदयाल उपाध्याय की जन्मतिथि के अवसर पर देश भर से भारतीय जीवन दृष्टि से अनुप्राणित रचनात्मक कार्यकर्ताओं की एक तीन दिन की कार्यशाला का आयोजन किया गया, जिसमें प्रत्येक प्रांत से कार्यकर्ता पधारे। सरसंघचालक श्री बालासाहेब देवरस ने कार्यशाला का उद्घाटन किया। सरकार्यवाह प्रो. राजेंद्र सिंह कार्यशाला में पूरे दो दिन रहे और उन्हीं के द्वारा कार्यशाला का समारोह हुआ। उनके अतिरिक्त श्री दत्तोपंत ठेंगड़ी, डॉ. जे.डी. सेठी, श्री प्राण चोपड़ा, डॉ. राजकृष्ण, डॉ. एल.पी. विद्यार्थी, श्री शैलेन घोष, डॉ. रामाश्रय राय, श्री लक्ष्मीचंद जैन, प्रो. एस.एन. रानाडे, श्री डी.एल. सेठ आदि मूर्धन्य विचारकों एवं सामाजिक कार्यकर्ताओं ने कार्यशाला में वैचारिक योगदान दिया। इस कार्यशाला से अपने सभी रचनात्मक कार्यकर्ताओं के आत्मविश्वास एवं अब तक के अनुभवों में पर्याप्त वृद्धि हुई है।

कार्यकर्ताओं का योगदान

काफी समय से इस बात की कमी अनुभव की जा रही थी कि जिस विचार प्रवाह एवं संगठन प्रक्रिया में से दीनदयाल शोध संस्थान का जन्म हुआ है, उस संगठन प्रक्रिया के विकास पर प्रकाश डालनेवाली प्रामाणिक सामग्री का संकलन अब तक नहीं हो पाया है। इस कमी को पूरा करने की दृष्टि से संस्थान में एक अभिलेखागार का गठन किया गया है, जिसमें संगठन परिवार से संबंधित सामग्री को एकत्र किया जा रहा है। इस अभिलेखागार का दायित्व अपने एक निष्ठावान कार्यकर्ता श्री कृष्णानंद सागर संभाल रहे हैं।

इस महान् प्रयोग की सफलता के लिए हमें समर्पित कार्यकर्ता एवं साधन दोनों की ही विपुल मात्रा में आवश्यकता है। यह कार्य केवल पुरुष कार्यकर्ताओं द्वारा ही संपादित नहीं किया जा सकता। अतः हमने 125 दंपती कार्यकर्ताओं को कार्य में संलग्न करने की योजना बनाई है। इस प्रकार के लगभग एक दर्जन दंपती कार्यक्षेत्र में कार्यरत हो गए हैं। इन सभी कार्यकर्ताओं की स्थायी व्यवस्था के लिए सवा करोड़ रुपए का एक स्थायी कोष निर्माण करने का कार्य प्रारंभ किया गया है। प्रारंभ में ही इस कोष में स्वेच्छा के सहभागी बननेवालों में सर्वश्री महेंद्रा ऐंड महेंद्रा, टाटा उद्योग, एक्सेल इंडस्ट्रीज के हम विशेष आभारी हैं। हम आशा करते हैं कि शीघ्र ही इस कोष की व्यवस्था कर हम कार्य को एक स्थायी आधार दे सकेंगे।

हमारे गोंडा प्रकल्प को पांच वर्ष पूर्ण हो चुके हैं। इस अवधि में संस्थान की प्रारंभिक उपलब्धियों ने देश-विदेश के विचारकों एवं रचनात्मक कार्यकर्ताओं का ध्यान आकृष्ट किया। शायद ही कोई दिन ऐसा गुजरता हो जब हमारे प्रयोगों को देखने व समझने के लिए अतिथिगण न आते हों। प्रारंभ में अज्ञान एवं भ्रमवश जो हमारे प्रयासों की उपेक्षा, अवहेलना या विरोध करते थे, वे भी अब उसकी उपादेयता स्वीकार कर सहयोग करने को उत्सुक दिखाई देते हैं। चतुर्दिक् सहयोग और सहकार्य का यह वातावरण हमें निर्धारित मार्ग पर तेजी से आगे बढ़ने की प्रेरणा दे रहा है। अब तक समस्त उपलब्धियों का श्रेय हमारे उन समस्त कर्मठ कार्यकर्ता बंधु-बहनों को है, जिन्होंने अपने निजी सुख-सुविधा अथवा सर्दी, गरमी, आंधी, पानी की परवाह न करते हुए लगन व निष्ठा के साथ अपने-अपने उत्तरदायित्वों का निर्वाह किया है। मुझे विश्वास है कि भविष्य में ऐसे समर्पित कार्यकर्ताओं की संख्या में निरंतर वृद्धि होती जाएगी और उनके कर्तृत्व एवं जनता के सहयोग से 'अपने सपनों का भारत' बनाने की दिशा में दीनदयाल शोध संस्थान का अपना योगदान होगा।

□

राष्ट्र-पुरुष की परिभाषा

परमपूज्य गुरुजी

विभिन्न विवादास्पद विषयों पर भी श्री गुरुजी सहज भाव से समाधान बता दिया करते थे। जब भी कोई मार्ग नहीं सूझता था, तब श्री गुरुजी का मार्ग-दर्शन काम आता था। बात उस समय की है, जब पंजाब में भाषा-विवाद खड़ा हुआ था। संयोग से श्री दीनदयालजी और मेरी नागपुर में श्री गुरुजी से भेंट हुई। कई स्थानीय कार्यकर्ता भी थे। हम लोगों से श्रीगुरुजी बोले, ''अरे भाई! क्या चल रहा है पंजाब में?''

हममें से कोई कुछ बोला नहीं। कुछ देर बाद श्री गुरुजी स्वयं बोले, ''क्या राजनीति में काम करनेवालों का दृष्टिकोण सीमित (दलगत) हो जाता है? वह (दृष्टिकोण) व्यापक नहीं रह पाता? हिंदी राष्ट्रभाषा है, स्वाभाविक रूप से उसके विकास के लिए प्रयत्न होना चाहिए, लेकिन पंजाबी क्या विदेशी भाषा है? क्या वह सांप्रदायिक भाषा है? पंजाबी एक क्षेत्रीय भाषा है और हमारी अपनी भाषा है। उसका अभिमान होना चाहिए, न कि उसका उपहास! यह सिर्फ केशधारियों की भाषा नहीं है। यह भी कहना गलत है कि वह सिर्फ नानक-पंथियों की भाषा है। 'गुरुग्रंथ साहब' आदि उनके धार्मिक ग्रंथों में क्या केवल पंजाबी भाषा है? अनेक भाषाएं मिलती हैं। उन्हें किसी भाषा से नफरत नहीं थी। किसी और को भी उनकी भाषा से नफरत नहीं होनी चाहिए।'' कितना स्पष्ट विचार था!

आंध्र समस्या का विश्लेषण और निदान

श्रीगुरुजी उन दिनों इंदौर में विश्राम कर रहे थे। मैं भी संयोग से इंदौर में ही था। उनसे भेंट हुई तो श्रीगुरुजी बोले—तुम्हारा अध्ययन दल वहां क्या कर रहा है? आंध्र और तेलंगाना के अलग होने से कोई कठिनाई नहीं आएगी। इससे राष्ट्रीय एकता खंडित नहीं होती। लोगों को सुविधा हो, आर्थिक विकास का पोषण हो और प्रशासनिक दृष्टि से सुविधाजनक हो, तो आवश्यकतानुसार प्रांतों की पुनर्रचना राष्ट्रीय एकात्मता के लिए भी आवश्यक रहती है।

इसमें अध्ययन का क्या प्रश्न है? यह तो स्पष्ट है। आंध्र-तेलंगाना के प्रश्न को विवादास्पद

श्री माधवराव सदाशिव गोलवलकर उपाख्य श्री गुरुजी 1939 में सरकार्यवाह बने और 1940 से 1973 में अपनी मृत्यु तक सरसंघचालक रहे। मंथन, फरवरी, 1992

बनाने से यदि लोगों में असंतोष उभरे और हिंसक-वृत्ति को बल मिले तो ऐसी हठवादिता से क्या प्रयोजन सिद्ध होगा?

श्रीगुरुजी के सान्निध्य में जो भी आता, चाहे वह किसी भी दल का हो, श्री गुरुजी के व्यक्तित्व से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता था। बात शायद 1946 या 1947 की है। वाराणसी के डी.ए.वी. कॉलेज में संघ-शिक्षण-शिविर लगा हुआ था। डॉ. संपूर्णानंद इस शिविर के समापन समारोह में पधारे। श्रीगुरुजी भी थे। उस समय तो उनसे (डॉ. श्री संपूर्णानंद) बातचीत नहीं हो सकी, पर बाद में उनसे मिलने का संयोग हुआ। तब वे बोले, ''हम तुम्हारे संघ को देख आए है।'' मैं बोला, ''मैं भी वहां था।'' उन्होंने कहा, ''हां, तुम तो उस दिन मिलिट्री कमांडर जैसे लग रहे थे।'' मैंने पूछा, ''क्या आपको हमारे कमांडर बनने में कुछ एतराज है?'' उन्होंने जवाब दिया, ''नहीं भाई, ऐसी कोई बात नहीं। मैं तो कह रहा था कि तुम्हारे यहां बड़ा गजब का अनुशासन है। इस संगठन के पीछे जो तुम्हारे श्रीगुरुजी हैं, उनका व्यक्तित्व बड़ा विशिष्ट, डायनेमिक और डॉमिनेटिंग है। मतभेद की बात दिखलाई देने के बाद भी उनसे विवाद करने की इच्छा नहीं होती। उनसे मिलकर एक आश्चर्य की बात अनुभव में आई कि विवादास्पद विषय का अनुमान करके श्रीगुरुजी ऐसा मत प्रकट करते थे कि सामने बैठे हुए व्यक्तियों को एक नए ढंग से सोचने के लिए प्रेरणा मिल जाती थी।'' मैंने पूछा, ''बाबूजी, आपने यह सब कहा तो सही, पर बात क्या हुई?'' वे बोले, ''खैर, छोड़ो सब बातों को, पर तुम्हारे गुरुजी के बारे में मेरा जो इंप्रेशन हो गया है, वह सही है या गलत, मैं नहीं जानता। यह तुम जानो।''

श्री श्रीप्रकाश की धारणा में परिवर्तन

महाराष्ट्र के राज्यपाल-पद से निवृत्त होकर श्री श्रीप्रकाशजी देहरादून में एक कुटिया बनाकर रह रहे थे, उन्होंने मुझे मिलने के लिए बुलाया। बाद में पता चला कि डॉ. संपूर्णानंद ने उन्हें लिखा था कि तुम नानाजी से मिलो। उनके दिल में भी वही आग मिलेगी, जो आजादी के समय हमारे दिलों में थी। श्रीगुरुजी की 'बंच ऑफ थॉट्स' नामक पुस्तक अवश्य पढ़ो। डॉ. श्री संपूर्णानंद ने ही मेरा परिचय श्री श्रीप्रकाश से करवाया था। उनकी इच्छा देखकर मैंने 'बंच ऑफ थॉट्स' पुस्तक उन्हें भी भेज दी। (हिंदी में 'विचार नवनीत')

जब मेरा श्री श्रीप्रकाश से साक्षात्कार हुआ तो वे बोले, ''मैं श्रीगुरुजी के व्यक्तित्व से प्रभावित अवश्य था, किंतु उनका व्यक्तित्व इतना सर्वव्यापी है, इसकी मुझे कल्पना नहीं थी। हो सकता है, कुछ मामलों में मतभेद हो, पर उनका चिंतन बड़ा मौलिक और जड़ को छूनेवाला है। इसका आप लोग व्यापक प्रचार क्यों नहीं करते? कुछ चीजें तो ऐसी हैं कि जिनको व्यवहार में लाया गया तो हिंदुस्तान की सब समस्याएं ही हल हो जाएंगी। मैं नहीं समझता था कि तुम्हारे श्रीगुरुजी धर्म-परिवर्तन किए बिना मुसलमान और ईसाइयों को

राष्ट्रजीवन का अंग मानने के लिए तैयार हो सकते हैं। गुरुजी के सारे विचार देखकर ऐसा लगता है कि यदि मुसलमानों ने थोड़ा सा भी दृष्टिकोण में परिवर्तन किया और हिंदुस्तान की गौरवमय राष्ट्रीय परंपरा का अभिमान रखा तो तुम्हारे गुरुजी को उन्हें राष्ट्रीय एकात्मता के अंग मानने में कोई एतराज नहीं होगा। गुरुजी के उस विचार से मतभेद नहीं रखा जा सकता। मेरे मन में उनके प्रति आदर बढ़ गया है।''

□

मेरे मित्र एवं पथ-प्रदर्शक पं. दीनदयाल उपाध्याय

स्वयं के संबंध में चर्चा करना स्व. दीनदयालजी के स्वभाव में ही नहीं था। अपने व्यक्तिगत जीवन से वे सदा ही उदासीन रहे। उनके रहन-सहन एवं बातचीत की शैली इतनी सरल, सहज-सादी थी कि उनमें समाई हुई महानता का आभास पाना कठिन था।

एक सामान्य परिवार में जन्म पाकर भी वे असामान्य बन गए। संघ के जन्मदाता परमपूज्य डॉ. हेडगेवारजी के स्वर्गवास के ठीक उपरांत सन् 1940 में संघ-कार्य प्रारंभ करने मुझे और श्री भाऊ जुगादे* को आगरा भेजा गया था। उसी समय एम.ए. की शिक्षा प्राप्त करने पं. दीनदयालजी भी वहां पहुंचे। एक कमरा किराए पर लेकर हम साथ में ही रहने लगे। कुछ ही दिनों बाद भोजनादि की सुविधा की दृष्टि से उनकी मामीजी आगरा आ गईं।

एक दिन प्रातः हम दोनों मिलकर सब्जी खरीदने बाजार गए। दो पैसे की सब्जी खरीदी। लौटकर घर पहुंचने को ही थे कि दीनदयालजी एकाएक रुक गए। उनका एक हाथ जेब में था। वे बोले, 'नाना, बड़ी गड़बड़ हो गई।' मेरे पूछने पर उन्होंने कहा, 'मेरी जेब में चार पैसे थे। उनमें से एक पैसा खोटा था। वह खोटा पैसा ही उस सब्जीवाली को दे आया हूं। मेरी जेब में बचे दोनों पैसे अच्छे हैं। वह क्या कह रही होगी। चलो, उसे ठीक पैसा दे आएं।'

उनके चेहरे पर अपराधी जैसा भाव उभर आया था। हम लोग वापस सब्जीवाली के पास पहुंचे। उसे वास्तविकता बताई तो वह कहने लगी, 'कौन ढूंढ़ेगा तुम्हारा खोटा पैसा? जाओ ठीक है, जो दे दिया। किंतु दीनदयालजी नहीं माने। उन्होंने उस बुढ़िया के पैसे के ढेर में से अपना चिकना, काला और खोटा पैसा ढूंढ़ निकाला। उसके बदले में अपनी जेब में से दूसरा अच्छा पैसा उस बुढ़िया को दे दिया। तब कहीं उनके चेहरे पर संतोष का भाव उभरा। बुढ़िया की भी आंखें डबडबा आईं। वह कहने लगी, 'बेटा, कितने अच्छे हो तुम। भगवान् तुम्हारा भला करे।'

इस घटना के बाद सतत 28 वर्ष तक उनके सान्निध्य में रहने का मुझे सौभाग्य मिला। इस बीच ऐसी अनेक घटनाएं घटीं, किंतु उनमें से किसी एक का भी उल्लेख उन्होंने कभी नहीं किया।

** श्री भाऊ जुगादे महाराष्ट्र में प्रचारक थे। मंथन, फरवरी 1992*

उनका यह व्यवहार इस काल में असामान्य है—यह कल्पना उनके मन को कभी छू नहीं पाई। महानता उनका सहज स्वभाव था।

वे असामान्य प्रतिभा के धनी थे। किसी भी प्रकार के कार्य का बोझ जब उन पर आ पड़ता, तो वे उसे सहज और सहर्ष कर डालते थे। उनके लिए कोई कार्य नया है और उसे संपन्न करने में उन्हें कठिनाई अनुभव होती है, ऐसा कभी देखने को नहीं मिला।

राजनीति को कर्तव्य माना

राजनीति के क्षेत्र में उनका प्रवेश एक संयोग ही था। इस कार्य में उनकी स्वाभाविक रुचि नहीं थी। एक कर्तव्य के नाते वे उसमें जुट गए। सन् 1953 की पहली जनवरी को जनसंघ की शैशवास्था में ही (पार्टी अध्यक्ष) डॉ. श्यामाप्रसाद मुखर्जी ने उन्हें जनसंघ का अखिल भारतीय महामंत्री नियुक्त किया। ठीक 6 माह बाद डॉक्टर साहब देश की एकता की बलिवेदी पर कश्मीर में बलिदान हुए। फलस्वरूप जनसंघ का संपूर्ण दायित्व दीनदयालजी पर आ पड़ा। जनसंघ के प्रतिष्ठापक, विश्वविख्यात राजनीतिज्ञ, प्रतिभा-संपन्न महापुरुष डॉ. मुखर्जी के न रहने से संगठन में घोर निराशा छा गई।

ऐसी हालत में सभी को कार्य में जुटना, प्रत्यक्ष राजनीति से अनभिज्ञ नए-नए कार्यकर्ताओं को प्रशिक्षित करना, देश भर में कार्य का विस्तार करना, जनसंघ की विचारधारा को विकसित करना, लोकसभा एवं विधानसभाओं के सदस्यों का मार्गदर्शन करना आदि अनेक गुरुतर जिम्मेदारियां एक साथ उन पर आ पड़ीं, किंतु वे तनिक भी विचलित नहीं हुए। इतनी सहजता अब अनुभव होती है। उनके अभाव में उनकी स्मृतियां हम लोगों का मार्गदर्शन करने में समर्थ सिद्ध हो रही हैं।

हाथ में लिए काम को किसी ढंग से चलाए रखने मात्र से उन्हें संतोष नहीं होता था। यथास्थिति से उन्हें चिढ़ थी। हाथ में लिए कार्य की गहराई में बैठना और उसे सैद्धांतिक और व्यावहारिक आधार पर खड़ा करना उनका स्वभाव था। वे किसी व्यक्ति या विचारधारा के प्रति पूर्वग्रह बनाकर चलने के विरुद्ध थे। हर एक की वास्तविकता को अनुभव करना उनकी विशेषता थी।

राजनीति में प्रवेश करने के बाद उनकी बुद्धि और कल्पना-शक्ति केवल संगठनात्मक ढांचे या आए दिन उपस्थित होनेवाले चुनावों तक ही सीमित नहीं रही। इन सब कामों में आवश्यक समय लगाते हुए भी उनकी चिंतनशील वृत्ति अधिक गहराई में उतरती गई। संसार भर के जीवन-दर्शनों का उन्होंने नए सिरे से अध्ययन प्रारंभ किया। उन्हें प्रचलित विचारधाराएं अधूरी लगने लगीं।

किसी विचार-दर्शन के प्रति उनके मन में घृणा नहीं थी। मार्क्स के संबंध में भी बोलते हुए उन्होंने कहा था कि उनके मन में पीड़ितों और प्रताड़ितों के लिए करुणा जाग उठी थी। करुणा दैवी गुण है, किंतु उन्होंने मानव के केवल आर्थिक पहलू को ही सर्वस्व माना। उनके अन्य पहलुओं पर संभवत: उनकी दृष्टि पड़ी ही नहीं। इस कारण मार्क्स का दर्शन अधूरा रह गया। वह दर्शन मानव को व्यक्ति-स्वातंत्र्य प्रदान करने में डरता है। यह इस दर्शन की बहुत बड़ी कमजोरी है।

दीनदयालजी कहा करते थे कि मानव मात्र के कल्याण का मार्ग तभी प्रशस्त हो सकता है, जब सर्वांगीण विकास हो। व्यक्ति एकांगी नहीं, बहुरंगी है। मानव तो शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा का सम्मिलित रूप है। इन सबका ध्यान न रखने से ही पश्चिम के दर्शन अधूरे सिद्ध हो रहे हैं।

एकात्म मानववाद के जन्मदाता

राष्ट्रवाद, प्रजातंत्र, समाजवाद या साम्यवाद (कम्युनिज्म) के मूल में समता का ही भाव है। समता समानता से भिन्न है। इसे 'इक्विटिबिलिटी' का पर्याय मान सकते हैं। इन तीन प्रवृत्तियों ने यूरोप की राजनीति को प्रभावित किया है। ये सब ऐसे आदर्श हैं जो अच्छे हैं। मानव की दैवीय प्रवृत्तियों में से इनका जन्म हुआ है, किंतु इनमें से अपने में कोई भी विचार पूर्ण नहीं है। इतना ही नहीं, इनमें से प्रत्येक आदर्श व्यवहार में एक-दूसरे का घातक बन जाता है। राष्ट्रवाद ने विश्व शांति के लिए खतरा पैदा किया। प्रजातंत्र पूंजीवादियों के मेल से शोषण का कारण बन गया। पूंजीवाद को समाप्त कर समाजवाद आया तो उसने प्रजातंत्र तथा उसके साथ ही व्यक्ति के स्वातंत्र्य का ही गला घोंट दिया। अतः आज पश्चिम के सामने प्रश्न खड़ा है कि इन सभी आदर्शपूर्ण प्रवृत्तियों का तालमेल कैसे बैठाया जाए। दीनदयालजी भी युगानुकूल, व्यावहारिक एवं सर्वांगपूर्ण जीवन-दर्शन की आवश्यकता तीव्रता से अनुभव करने लगे। एक बार उनके मन में कोई बात जम जाती और उसकी महत्ता वे अनुभव करने लग जाते तो अन्य कामों की ओर तनिक भी दुर्लक्ष्य किए बिना वे उसे अवश्य कार्यान्वित कर लिया करते थे। उनकी यह विशेषता थी। इसी कारण उनके सतत अध्ययन, चिंतन और मनन में से 'एकात्म मानववाद' को जन्म मिला। उन्होंने उसे सूत्र रूप में लिख डाला। इस पर अनेक विद्वानों और विचारकों से उन्होंने विचार-विनिमय किया। इस पर सामूहिक चर्चाएं भी हुईं। सभी लोगों द्वारा उनकी इस विचारधारा की प्रशंसा होने लगी। जनसंघ ने इसे अपने सिद्धांत के रूप में अपनाया। इसे विस्तार से लिखा जाए, इसका उनसे सभी लोगों द्वारा आग्रह किया जाने लगा। उन्होंने इसकी तैयारी भी कर ली थी, किंतु इस कार्य को प्रारंभ करने के पूर्व ही उनका आदर्शवदी असामान्य जीवन हत्यारे के क्रूर हाथों का शिकार हो गया।

'ऑर्गनाइजर' साप्ताहिक में 'पोलिटिकल डायरी' के रूप में वे नियमित लिखा करते थे। दिवंगत आत्मा के प्रति श्रद्धांजलि के नाते उन लेखों का संग्रह पुस्तक रूप में प्रकाशित करने की योजना बनी। सब साथियों ने सोचा कि इस पुस्तक की प्रस्तावना डॉ. संपूर्णानंद* से लिखाई जाए। यह दायित्व मुझे सौंपा गया। बाबूजी (डॉ. संपूर्णानंद) ने हमारा यह अनुरोध सहर्ष स्वीकार किया। उसी समय मेरे मन में सहज ही विचार उठा कि दीनदयालजी द्वारा सूत्र रूप में लिखित 'एकात्म मानववाद' पर विस्तार से लिखने के लिए मैं बाबूजी से आग्रह करूं। इसका कारण स्पष्ट था। डॉ. संपूर्णानंद एक सक्रिय राजनीतिज्ञ तो हैं ही, पुरातन एवं आधुनिक दर्शन के

** डॉ. संपूर्णानंद 1954-60 तक उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री थे। और संस्कृत व फलित ज्योतिष के प्रख्यात विद्वान्।*

प्रकांड विद्वान् और प्रतिभाशाली विचारक भी हैं। अत: इस काल में कोई एक व्यक्ति उस विषय पर सम्यक् रूप से लिख सकता है तो वह बाबूजी ही हैं।

जब 'पोलिटिकल डायरी' की लिखित प्रस्तावना लेने के लिए मैं अपने मित्र श्री हरीशजी के साथ बाबूजी के पास पहुंचा तो मैंने अपने भाव उनके सम्मुख प्रकट किए। उन्होंने तुरंत बड़ी प्रसन्नता से कहा, 'यह विषय मेरी रुचि का है। दीनदयालजी ने बड़ी अनुपम और सामयिक दिशा दी है। मेरा स्वास्थ्य ठीक नहीं है, किंतु 'एकात्म मानववाद' पर मैं लिखूंगा। उनका इस विषय पर लिखा या कहा जो कुछ उपलब्ध हो, मेरे पास भेज देना, लेकिन ध्यान रखना, तुम्हें पांच-छह सौ पृष्ठों की पुस्तक छापनी पड़ेगी।' उनकी शर्त मैंने स्वीकार की और प्रस्तावना के कागज लेकर प्रसन्नचित्त चला आया।

आगे चलकर बाबूजी का स्वास्थ्य बिगड़ता ही गया और वे दिवंगत हुए। उनके पीछे ऐसा कोई व्यक्ति ध्यान में न आ सका, जो इस विषय पर अधिकृत रीति से लिख सके, किंतु दीनदयालजी के इस युगानुकूल अद्वितीय कार्य को वैसे ही छोड़ देना, उनकी आंतरिक अभिलाषा की उपेक्षा ही नहीं, अपने कर्तव्य की भी अवहेलना होगी। इसी भावना से दीनदयालजी की स्मृति के रूप में 'दीनदयाल शोध संस्थान' की स्थापना कर उसके द्वारा यह कार्य पूर्ण करने का हम सबने संकल्प लिया और सबके बहुमूल्य सहयोग से 'दीनदयाल शोध संस्थान' उसी संकल्प की पूर्ति के लिए प्रयत्नशील है।

□

कार्यकर्ता गढ़ने में अद्वितीय भाऊराव देवरस

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के संस्थापक डॉक्टर हेडगेवार ने देश के विभिन्न प्रदेशों में संघ के कार्य का विस्तार सुशिक्षित नवयुवकों के माध्यम से किया। इन नवयुवकों में भाऊराव देवरस का अपना वैशिष्ट्य है। 1937 की जून में बी.ए. पास करने के बाद वे लखनऊ पहुंचे। लखनऊ उनके लिए पूरी तरह अपरिचित क्षेत्र था। पूरे उत्तर प्रदेश में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का काम फैलाने का लक्ष्य निश्चित कर ही भाऊरावजी को लखनऊ भेजा गया था। बिना किसी आर्थिक या मानवीय संसाधनों के उन्हें यह काम करना था। इसलिए उन्होंने लखनऊ विश्वविद्यालय में बी.कॉम. और एल-एल.बी. में दाखिला ले लिया। संघ के कार्यों के लिए साथियों को जोड़ने के साथ-साथ वे पढ़ाई में लगे रहे। एक साल के भीतर ही अपने स्वभाव और प्रतिभा के कारण वे लखनऊ विश्वविद्यालय में लोकप्रिय होकर एक छात्रनेता के रूप में उभरे।

उन्होंने 1938 में नेताजी सुभाष चंद्र बोस को विश्वविद्यालय में छात्रों के सामने बोलने के लिए बुलाया। भाऊरावजी की प्रार्थना स्वीकार कर नेताजी वहां आए और छात्रों के सामने बोले। उस कार्यक्रम की अध्यक्षता भाऊरावजी ने ही की थी। इसी से अनुमान लगाया जा सकता है कि वे जहां विश्वविद्यालय में एक असरदार नेता के रूप में उभरे, वहीं देश की आजादी के प्रति उनकी भावनाएं कितनी प्रबल थीं। इन सभी कार्यों में लगे होने के बावजूद उन्होंने बी.कॉम. और एल-एल.बी. में विश्वविद्यालय में प्रथम श्रेणी में पहला स्थान हासिल किया। बी.कॉम. में तो उन्हें स्वर्ण पदक भी मिला।

कार्यकर्ता तैयार करने में वे अद्वितीय थे। उनके नेतृत्व में काम करने का मुझे उनकी अंतिम सांस तक सौभाग्य मिला। संघ से मैं 1930* से जुड़ा और 1936 में उनके संपर्क में आया। इतने लंबे काल तक उनके साथ जुड़ा रहा। इसलिए उन्हें काफी गहराई से समझ सका। पंडित दीनदयाल उपाध्याय 12वीं की परीक्षा पास कर स्नातक उपाधि हासिल करने कानपुर से लखनऊ पहुंचे थे। पंडितजी भी परीक्षाओं में सर्वोच्च स्थान प्राप्त कर स्वर्ण पदकों की श्रृंखला अर्जित करते रहे थे। इस कारण भाऊरावजी का ध्यान दीनदयालजी की ओर सहज ही आकर्षित हुआ

** अन्यत्र नानाजी ने 1926 व 1927 में भी संघ से संपर्क में आने की बात कही है। लेकिन नानाजी के अपने शब्दों में लिखे होने के कारण तिथियों से छेड़छाड़ नहीं की जा रही है। लेकिन यह निर्विवाद है कि डाक्टर हेडगेवार ने उन्हें 1934 में संघ की प्रतिज्ञा दी। मंथन, जून-जुलाई 1992*

और बिना किसी पूर्व परिचय या संबंध के उन्होंने दीनदयालजी को अपनी तरफ आकर्षित किया। यह भाऊरावजी की पैनी दृष्टि का ही नतीजा था। लोगों को पहचानने और उनका राष्ट्र कार्य में उपयोग करने की लोक-संग्रह की उनकी दृष्टि गजब की थी। भाऊराव देवरस, डॉक्टर हेडगेवार के समान ही भाषणों के जरिए कार्यकर्ता तैयार नहीं करते थे, व्यक्तिगत संपर्कों का जादू चलाते थे। दीनदयालजी और उनके जैसे सैकड़ों प्रतिभावान कार्यकर्ताओं को योजनाबद्ध तरीके से अपने संपर्क में ले आए और इन चुने हुए लोगों के समर्पित जीवन से विशाल उत्तर प्रदेश में सर्वव्यापी संगठन खड़ा किया। आर्थिक साधनों के बिना सिर्फ जनधन को अपने कार्य का आधार बनाकर विशाल कार्य करने की उनकी विशेषता रही है, जो उन्हें संघ संस्थापक डॉ. हेडगेवार से मिली।

वे दूरदृष्टि संपन्न राष्ट्रचिंतक थे। 1946 में उन्होंने लखनऊ से 'राष्ट्रधर्म' मासिक शुरू किया, जो आज भी अपना प्रभावी कार्य अखंड रूप से करता आ रहा है। यह काम करने के पीछे उनकी बहुआयामी दृष्टि रही। एक तो वे पत्रकारिता का सामाजिक परिवर्तन में इस्तेमाल करने के हिमायती थे। दूसरा, उनका हेतु था कि जिन नवयुवकों में साहित्यिक क्षमता हो, उनकी उस क्षमता का राष्ट्रहित में विकास हो।

□

सार्वजनिक जीवन से संन्यास लेने के पश्चात् भी नानाजी का अपनी गर्भनाल राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ से संपर्क पलभर को भी नहीं टूटा। उन्होंने संघ से अपने संबंध को लेखों व अधिकारियों को पत्रों के माध्यम से जीवंत बनाए रखा।

विराट् पुरुष

1

10 जुलाई, 1981

माननीय श्री रज्जू भैया,

यह तो आपको विदित ही है कि हम लोग दीनदयाल शोध संस्थान के माध्यम से राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ द्वारा प्रदत्त जीवन–दृष्टि के आधार पर सामाजिक–आर्थिक पुनर्रचना के क्षेत्र में व्यावहारिक प्रयोग करने का प्रयास कर रहे हैं। अतः इन प्रयोगों को उचित दिशा में ले जाने के लिए संघ के ध्येयनिष्ठ स्वयंसेवकों का सक्रिय योगदान नितांत आवश्यक है। इस दृष्टि से दीनदयाल शोध संस्थान की निम्न आवश्यकताएं हैं—

- प्रत्येक प्रांत के केंद्र में एक–एक व्यक्ति इस कार्य के लिए प्राप्त हों। यह व्यक्ति प्रचारक हो, यह आवश्यक नहीं है, किंतु महाविद्यालय का अध्यापक हो तथा संघ के नगर कार्यकर्ताओं के स्तर का हो, जिससे वह दीनदयाल शोध संस्थान के कार्य में स्वयं योगदान दे सके तथा शोध संस्थान के कामों में समाज के सब स्तर के लोगों का सहयोग प्राप्त करने की क्षमता रखता हो। 25 सितंबर दीनदयालजी की जयंती है। हम चाहते हैं कि कम–से–कम प्रदेश के केंद्रों में दीनदयाल शोध संस्थान की ओर से एक समारोह करें, जिनमें शोध संस्थान के द्वारा चल रहे कार्यों की जानकारी लोगों को दे सकें तथा उनसे आगे के काम में सहयोग प्राप्त कर सकें।
- हमारे लिए दिल्ली, बंबई, कलकत्ता और मद्रास में एक–एक या दो–दो व्यक्ति ऐसे आवश्यक हैं, जो दीनदयाल शोध संस्थान की ओर से जनसंपर्क का कार्य कर सकें। इसमें प्रमुखतः धन एकत्रित करने का कार्य है। मेरे संबंध हैं किंतु उन संबंधों का पूरा लाभ उठाना मेरे अकेले के लिए संभव नहीं होता। सबसे मेरे मिलने की व्यवस्था करना तथा मेरे मिलने के बाद संबंध रखकर शेष काम करा लेना, यह महत्त्व का कार्य है। इसमें समय भी पर्याप्त लगेगा। अतः इसकी व्यवस्था करा देने की आप कृपा करें। मैंने अभी तक दीनदयाल शोध संस्थान के लिए इस प्रकार के लोग मांगे नहीं थे, किंतु कार्य की आवश्यकता तथा आगे के काम की संभावना को देखते हुए मुझे आपसे यह प्रार्थना करना अनिवार्य हो गया है।
- मुझे नागपुर जिले के लिए योग्य प्रचारक देने की अविलंब व्यवस्था करें। नागपुर जिला गोंडा के समान ही विकसित करने का सोचा है। परमपूज्य बालासाहेबजी से भी बातचीत हुई है। नागपुर जिला और नागपुर नगर में सब प्रकार के प्रयोग करना अपने लिए बहुत लाभकारी होगा। एक तो नागपुर अपने सभी कार्यों का प्रेरणा–केंद्र है। देश भर से अपने कार्यकर्ता वहां आते रहते हैं। यदि वहां ये सब प्रयोग होते रहे तो सबके लिए उनसे प्रेरणा एवं मार्गदर्शन प्राप्त हो सकता है।

1 *ध्येयनिष्ठता स्वयंसेवकों के लिए सर्वोपरि। प्रोफेसर राजेंद्र सिंह उपाख्य रज्जू भैया उन दिनों संघ के सरकार्यवाह थे।*

दूसरी बात है कि वहां परमपूज्य बालासाहेब का सर्वाधिक रहना होता है। अतः हर छोटी-बड़ी बात में हमें उनसे मार्गदर्शन प्राप्त करना सहज संभव हो सकता है। मेरी मांगें अधिक नहीं हैं। अतः आप विशेष ध्यान देकर इतनी मांग अवश्य पूर्ण करें। नागपुर जिले के लिए जो व्यक्ति मिलेगा, वह आयु से बहुत अधिक न हो तथा ठीक स्वास्थ्य एवं रचनात्मक कार्यों में रुचि रखनेवाला तथा आम लोगों से सहयोग प्राप्त करने की योग्यता रखनेवाला होगा, इसका आप ध्यान रखेंगे ही।

2

05 नवंबर, 1981

प्रिय संपादक बंधुओं,

साधना साप्ताहिक के रौप्य महोत्सव के उपलक्ष्य में आप सब एकत्रित हो रहे हैं। साधना के संपादक एवं प्रबंधकों को आप अपनी हार्दिक बधाई देंगे। उसी में आप मेरी भी बधाइयां एवं शुभकामनाएं सम्मिलित कर लें, यह मेरा आपसे विनम्र अनुरोध है—

यह एकत्रीकरण सामूहिक चिंतन का सुअवसर प्रदान करेगा। इस बात को ध्यान में रखकर ही कुछ सुझाव प्रस्तुत कर रहा हूं। संभव है वे उपयोगी हों।

- विचार-पत्र स्वयं में एक बहुत बड़ी शक्ति है। अपने पत्रों का उस दृष्टि से पूरा उपयोग होना चाहिए। जिनके पास अपना विशेष ध्येय नहीं, केवल एक व्यापारिक दृष्टिकोण मात्र है, वे भी अपने पत्रों की एक नीति एवं एक शैली विकसित कर लेते हैं तथा तदनुसार ही अपने संपादकीयों एवं लेखों का चयन करते हैं।

अपने पास तो निश्चित ध्येय है। अपनी दैनिक प्रार्थना में वह स्पष्ट शब्दों में अंकित है। परमपूज्य सरसंघचालकजी हिंदू जीवन-मूल्यों के आधार पर सामाजिक एवं आर्थिक पुनर्रचना का युगानुकूल रूप खड़ा करने पर बल दे रहे हैं। अतः मार्गदर्शन भी स्पष्ट है। अपने पास सभी प्रदेशों में प्रादेशिक भाषाओं में साप्ताहिक पत्र हैं। उनकी देशव्यापी शृंखला है। इन सभी पत्रों का स्वर एवं दिशा समान रही तो हमें अपने लक्ष्यसिद्धि में बहुत बड़ी सहायता होगी। इस कार्य के लिए एक केंद्रीय व्यवस्था खड़ी करना उपयोगी होगा। केंद्रीय व्यवस्था के लिए दो या तीन पूर्ण समय देनेवाले संपादकीय स्तर के कार्यकर्ताओं की आवश्यकता होगी। वे अपने कार्य के लिए दिल्ली में स्थित सभी भाषाएं जाननेवाले अपने स्वयंसेवकों का उपयोग कर सकते हैं। अपने साप्ताहिकों, मासिकों या त्रैमासिकों में प्रकाशित सामग्री का उनके द्वारा अध्ययन कराकर प्रकाशित सामग्री से स्वयं को अवगत करा सकते हैं। यह व्यवस्था अपने सभी पत्रों के लिए दिल्ली में

2 *विचार-पत्रों का राष्ट्र के नवनिर्माण में क्या और कैसे योगदान हो सकता है, इसकी वृहद् कल्पना व योजना थी नानाजी के पास।*

उपलब्ध सामग्री जुटाने का भी काम करेगी। केंद्रीय व्यवस्था अपनी पत्रिकाओं की समस्याओं पर तथा आवश्यकताओं पर विचार कर उनके लिए सहायक बन सकती है। आवश्यकतानुसार यह केंद्रीय व्यवस्था देश भर में एक ही समय अपने पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से एक ही अभियान चलाकर राष्ट्र की एकात्मता को बल पहुंचाने का भी परिणामकारी काम कर सकती है।

- हमारे विचार-पत्र सामयिक घटनाओं पर प्रतिक्रियाएं व्यक्त करते समय अपने लक्ष्य एवं मूल्यों के आधार पर दूरगामी विचार कर अपनी प्रतिक्रियाएं प्रकट करें तो हमारे स्वर की एकता तथा दृष्टिकोण की भावात्मकता का अपेक्षित सुपरिणाम हमें देखने को मिलेगा।
- तात्कालिक राजनीतिक स्पर्धा में भी हमारी भूमिका भावात्मक, तटस्थ, निष्पक्ष एवं निर्भय हो, इसकी देश के लिए आज महती आवश्यकता है।
- अपने पत्र-पत्रिकाएं नए लेखक निर्माण करने का माध्यम बनें। इससे हम अन्य पत्र-पत्रिकाओं के लिए भी लेखक उपलब्ध करा सकेंगे।
- हमारे लेखकों का सर्वांगीण विकास हो, इसके लिए आवश्यक है कि उन्हें विभिन्न क्षेत्रों में कार्यरत लोगों के साथ विचार-विनिमय के अवसर प्राप्त होते रहे तथा उनके साथ चिंतन की प्रक्रिया चलती रहे। फलस्वरूप प्रत्यक्ष अनुभवों से लेखक वर्ग लाभ उठा सकेगा तथा लेखकों के अध्ययन एवं चिंतन का पूरा लाभ अपने क्षेत्र में कार्यरत कार्यकर्ताओं को मिलता रहेगा। इस प्रकार चिंतन एवं व्यवहार का संगम नवनिर्माण का पाथेय बन सकेगा। इसकी पुनर्निर्माण का कार्य संपन्न करने के लिए नितांत आवश्यकता है।
- अपने लोगों द्वारा स्वयं प्रेरणा से चलाई गई तथा अपने विचारों से मिलती-जुलती पत्रिकाओं से संपर्क एवं संबंध प्रस्थापित करने की व्यवस्था निर्माण करनी चाहिए। अपनी कार्यसिद्धि में इनका योगदान संभव हो सकता है। हम यदि इस ओर आवश्यक ध्यान दें तो अपने संगठन को यह कार्य करना सहज संभव है।
- जिलों के स्तर पर छोटे किंतु अच्छे स्तर के साप्ताहिक या पाक्षिकों का जाल फैलाना, साधारण समाज में रचनात्मक दृष्टि विकसित करने तथा कार्य की दिशा देने में लाभदायक सिद्ध होगा। अनेक शिक्षित बेकार अपने पास हैं। उनमें ऐसे भी हो सकते हैं जिनमें लेखन एवं चिंतन की क्षमता हो। उन्हें खोजकर इस कार्य में उन्हें अपने बलबूते पर खड़ा होने की प्रेरणा दी जा सकती है। ऐसी योजना बनी तो हम इस दिशा में भी प्रगति कर सकते हैं।
- जिला प्रदेश तथा केंद्रीय स्तर पर संपादकों के नाम पत्र लिखनेवाला वर्ग तैयार किया जा सकता है। अपने से प्रतिकूल विचारों का समय से समुचित उत्तर देने में तथा अपने विचारों का प्रभावी ढंग से प्रसार करने में इसका बहुत उपयोग हो सकता है। इस प्रचार-युग में यह प्रयास अपने लिए प्रभावी सिद्ध होगा। यह बिना खर्चे के सभी अखबारों का अपने लिए उपयोग करने की हममें क्षमता निर्माण करेगा। अपने विचारों के लेखक तैयार करने में भी यह प्रयास सहायक होगा।
- अपने राष्ट्र जीवन के अनेक पहलू हैं। सामाजिक एवं आर्थिक पुनर्रचना के कार्य में इन सभी

पहलुओं का साथ-साथ विकास होना आवश्यक है। उसके बिना समाज का समग्र एवं सर्वांगीण विकास संभव नहीं होगा। आजादी के गत 34 सालों में केवल राजनीति ही सर्वव्यापी एवं सर्वप्रभावी बनी है। राजनीति राष्ट्र जीवन का एक अनिवार्य एवं महत्त्वपूर्ण अंग है, किंतु केवल राजनीति के ही माध्यम से सबकुछ संभव नहीं हो सकता, यह अनुभव से सिद्ध हो रहा है। अतः राष्ट्र जीवन के हर अंग का विकास करने के लिए सभी अंगों में नेतृत्व का विकास करना—उसमें सक्रियता निर्माण करना तथा पुनर्रचना की दिशा निश्चित करना हमारे वैचारिक एवं कार्यक्षेत्र में कार्य करनेवालों का मिला-जुला दायित्व है। अपने साप्ताहिक, मासिक एवं त्रैमासिक इस दिशा में प्रयत्नशील रहें, यह आवश्यक है।

- अपने पत्रों को महत्त्वपूर्ण विषयों की जानकारी, तथ्य, आंकड़े तथा राष्ट्र जीवन के सभी पहलुओं के लिए अध्ययन दल एवं संदर्भ कक्षों का निर्माण करना लाभदायक रहेगा। इस दिशा में क्या करना संभव है, इस पर भी विचार होना चाहिए।
- हमारी पत्रिकाएं अपने-अपने क्षेत्र में कितनी परिणामजनक सिद्ध हो रही हैं, इसका हर साल सर्वेक्षण करना अपने पत्रों के विकास में सहायक होगा।
- विभिन्न उद्योगों में निर्मित वस्तुओं के लिए देश के हर भाग में बाजार की आवश्यकता है। अपने पत्रों की एक देशव्यापी शृंखला है। यदि अपने सब पत्रों की मिलकर एक केंद्रीय विज्ञापन व्यवस्था खड़ी की गई तथा उसके प्रतिनिधि हर औद्योगिक केंद्रों में नियुक्त किए गए तो आर्थिक दृष्टि से भी हम अधिक सक्षम बन सकते हैं। इस पर विचार करना लाभकारी होगा। ऐसा प्रतिनिधि उत्पादित वस्तुओं के लिए जिस किसी क्षेत्र में बाजार की आवश्यकता होगी, वहां के लिए वस्तु-निर्माता को अपने पत्र का सहारा लेने की सलाह दे सकता है। फलस्वरूप अपने प्रतिनिधि के खर्चे चलाना तथा अपने सभी पत्रों का विज्ञापन क्षेत्र में स्थान बनाना संभव हो सकेगा।

3

30 अगस्त, 1982

आदरणीय श्री भाऊरावजी,

आपका कृपा पत्र मिला। 25 अगस्त को श्री रामनाथजी गोयनका से मेरी बातें हुई थीं। डॉ. जैन ने ही उनसे अनुरोध किया था कि रामनाथजी मुझसे बात कर समझाएं कि मैं डॉक्टर को मंत्री पद से हटाने का आग्रह न करूं। संभवतः डॉ. जैन ने पं. दीनदयाल उपाध्याय स्मारक समिति की बैठक में हुई कुछ बातें उन्हें भी बताई थीं। अन्यथा उन्हें उन बातों का आभास

3 *संस्थान को राजनीतिक गतिविधियों से दूर रखने के बारे में नानाजी बेहद दृढ़ थे। इस पर वे किसी भी कीमत पर समझौता करने को तैयार नहीं थे। इस संबंध में संघ के पितृ-पुरुष श्री भाऊराव देवरस को लिखा पत्र*

कहां से होता। रामनाथजी ने मुझसे कहा कि डॉक्टर का कहना है, ''नानाजी गलतफहमी में है। समिति का कोई सदस्य नानाजी के साथ नहीं है। वे सब नानाजी से नाराज हैं। सबके सब मेरे पक्ष में हैं। श्री भाऊराव देवरस भी मेरे साथ हैं। अतः नानाजी मुझे शोध संस्थान के सचिव पद से हटाने का आग्रह न करें। अन्यथा उनकी स्थिति खराब हो जाएगी।''

''मैंने श्री रामनाथजी से कहा कि बिचारा डॉक्टर ठीक मनस्थिति में नहीं है। आप इन सब बातों को अनसुना कर दें। मा. श्री भाऊरावजी तो इस पचड़े में कभी नहीं पड़ सकते। आप डॉक्टर को समझाएं कि वह इस बात को विवाद का रूप न दें। वह सचिव न भी रहा तो भी मेरा अभिन्न साथी है। उसका व्यवहार में वही स्थान बना रहेगा जो था। सचिव पद पर न रहने से कोई फर्क नहीं पड़ता।'' रामनाथ मुझसे सहमत थे।

उसी दिन रामनाथजी डॉक्टर एवं रागिनी से बातें करना चाहते थे, किंतु डॉक्टर ने उन्हें 26 को प्रातः 8:30 पर अपने यहां आने का निमंत्रण दिया। डॉक्टर रामनाथजी को प्रत्यक्ष रूप में दिखाना चाहता था कि मा. भाऊरावजी उसके साथ हैं। रामनाथजी 26 की प्रातः डॉक्टर के यहां गए। वहां आपको बैठा देखकर वे चकित रह गए। रामनाथजी ने मुझसे कहा कि ''डॉक्टर ने तो श्री भाऊरावजी को पहले से ही बुलाकर रखा था। संघ में भी यह सब हो रहा है, यह देखकर मैं हैरान हूं।'' आपकी उपस्थिति में वहां जो बातें हुईं, उससे वे बहुत व्यथित थे।

इन सब बातों से स्पष्ट है कि जो विवाद खड़ा हुआ है, वह व्यक्तिगत संबंधों को लेकर नहीं है। शोध संस्थान के सचिव पद को लेकर है। जहां तक व्यक्तिगत या पारिवारिक संबंधों का प्रश्न है, मेरी ओर से उन सबके प्रति पूर्ववत् सद्भावना है तथा अब तक भी मैं उनके यहां जाता रहा हूं।

आपको पूर्ण रूप से विदित है कि डॉक्टर का सार्वजनिक जीवन आम जनता में जाना जाता है शोध संस्थान के कार्य में मेरे अभिन्न सहयोगी के रूप में। अतः उनकी सभी गतिविधियों को मेरे साथ जोड़ा जाना स्वाभाविक है।

आप जानते हैं कि हम लोग व मैं राजनीति में लगे हुए होते भी दीनदयाल शोध संस्थान को राजनीति से पूर्णतः अलिप्त रखते रहे हैं। आप प्रारंभ से ही जानते हैं कि मेरी मूल प्रवृत्ति राजनीतिक नहीं, रचनात्मक रही है। इसी कारण 1950 में गोरखपुर में मैंने सरस्वती शिशु मंदिर प्रारंभ किया था। आपके आदेश के कारण ही मुझे राजनीतिक क्षेत्र में उतरना पड़ा था। जो काम सौंपा गया, उसे अपनी पूर्ण शक्ति और बुद्धि लगाकर करना मेरा स्वभाव रहा है। अतः 28 साल तक उसी में जुटा रहा, किंतु मन में कभी संतोष अनुभव नहीं किया। जेल में (आपातकाल में) 17 महीने रहना पड़ा। पढ़ने व सोचने का खूब समय मिला। वहां ही ग्राम पुनर्रचना में लगने का मानस बना। बाहर आकर 25 सितंबर, 1977 को ही गोंडा के काम की योजना बनानी प्रारंभ की। 20 अप्रैल, 1978 को राजनीति से अलग होने का विचार प्रगट किया। उस समय डॉक्टर साथ में उपस्थित रहे।

वे मेरी भावनाओं को समझते थे और सहमत भी थे। 8 अक्तूबर, 1978 को पटना में जे.

पी. की उपस्थिति में मैंने सार्वजानिक रूप से घोषणा की कि मैं पूर्ण रूप से राजनीति से अलिप्त हो गया हूं। उस भाषण का अंग्रेजी अनुवाद करने में डॉ. जैन ने आर.वी. पंडित का पूरा सहयोग किया। अतः मेरे विचार एवं भावनाओं से डॉक्टर कभी अपरिचित नहीं रहे। (20 अप्रैल एवं 8 अक्तूबर के भाषण मा. सरकार्यवाह को दिखाकर उनकी अनुमति लेकर ही मैंने वे घोषणाएं की थीं।) डॉक्टर मेरा पूरा साथ देते थे। अतः मेरा विश्वास जम गया था कि डॉक्टर और मेरी दिशा एक और अभिन्न है।

किंतु इसमें अंतर प्रारंभ हुआ भा.ज.पा. के बंबई अधिवेशन के पूर्व। डॉ. जैन को भा.ज.पा. की अ.भा. कार्यकारिणी में लेने की चर्चा प्रारंभ हुई और निर्णय भी लिया गया। सब जानते थे कि मैंने स्वयं को राजनीति से पूर्णरूपेण अलिप्त कर लिया है। शोध संस्थान के काम में एकाग्र होकर लगा हूं। डॉ. जैन मेरे संस्थान के काम में अभिन्न साथी हैं। इसके बावजूद डॉ. जैन को केंद्रीय कार्यसमिति में बुलाने के पूर्व मुझसे पूछा तक नहीं गया। इसमें आपकी भी अनुमति है, यह स्वयं डॉक्टर ने मुझे बताया। अतः मेरे पास चुपचाप बैठने के अतिरिक्त चारा ही नहीं रहा। यह सबके सहज में ही ध्यान में आने की बात थी कि डॉ. जैन की छवि राजनीतिक क्षेत्र में मेरे अभिन्न सहयोगी के रूप में ही थी। डॉ. जैन का भा.ज.पा. की केंद्रीय कार्यसमिति में सक्रिय होना मेरी राजनीति में अलग होने की घोषणा के पीछे राजनीतिक चाल का आभास उत्पन्न करना मात्र था। और हुआ वह ही। बाहर के लोगों ने या पत्रकारों ने ही नहीं, अपने लोगों तक ने उलाहने देना प्रारंभ किया कि यह है नानाजी का दांव। स्वयं अलग होने की घोषणा की और अपने आदमी को केंद्रीय समिति में घुसा दिया। लोगों की इस प्रतिक्रिया का कड़वा घूंट चुपचाप पीने के लिए मुझे विवश कर दिया गया। और डॉक्टर ने प्रथम बार कहना प्रारंभ किया कि इसी विषय में मैं नानाजी से सहमत नहीं हूं। डॉक्टर को मेरी दिशा का खूब पता था किंतु राजनीतिक अवसर पाते ही मेरे साथ के घनिष्ठ संबंधों एवं मेरी भावनाओं को उन्होंने अपनी राजनीतिक महत्त्वाकांक्षा पूर्ति के लिए सहज में ही बलि चढ़ा दिया।

राजनीतिक क्षेत्र में पहुंचते ही अपने स्वभाव के अनुसार उन्होंने बड़े साहस और गति के साथ आगे बढ़ना प्रारंभ किया। इस राजनीतिक यात्रा में ही उन्हें 'सूर्या' मासिक खरीदने का अवसर प्राप्त हुआ। मेरे साथ उनके कितने अभिन्न संबंध रहे हैं, इसका उल्लेख आपने अपने पत्र में किया है, किंतु 'सूर्या' खरीदने का इतना बड़ा निर्णय जान-बूझकर मुझसे छिपाए रखा, किंतु देश भर में यह समझा गया कि सूर्या कांड के पीछे नाना देशमुख का भी हाथ है। मेरे और डॉक्टर के संबंध ही ऐसे रहे हैं। इतने व्यक्तिगत संबंध होते हुए भी उन्होंने मेरी आत्मीय भावना आंकने की अपेक्षा अपनी राजनीतिक महत्त्वाकांक्षाओं को ही अधिक महत्त्व दिया। क्या इस हालत में भी व्यक्तिगत संबंध बिगाड़ने का दोष मुझ पर ही लगाया जाएगा।

यदि शोध संस्थान के हित का ध्यान डॉक्टर के मन में होता तो उन्होंने स्वयं होकर प्रथम शोध संस्थान के सचिव पद से त्यागपत्र दिया होता और बाद में 'सूर्या' खरीदा होता, किंतु

व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए शोध संस्थान के सचिव पद पर बने रहना उन्होंने आवश्यक समझा।

उनकी व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा का दूसरा प्रमाण तब सामने आया, जब उन्होंने 1982 के राज्यसभा चुनाव में खड़े होने की योजना बनाई। वे इस दिशा में यहां तक आगे बढ़े कि लखनऊ जाकर अकबर डंपी का आतिथ्य स्वीकार किया। इसमें उन्हें सबका आशीर्वाद प्राप्त था, यह उनका कहना है।

लखनऊ जाने के पूर्व वे मुझसे मिलने आए। उस समय प्रथम बार मैंने उनसे अनुरोध किया, ''आपने जब राजनीतिक मार्ग पर बढ़ने का निश्चय कर ही लिया है तो आप शोध संस्थान के मंत्रीपद से त्यागपत्र दे दें तो अच्छा रहेगा। जिससे शोध संस्थान को गैर-राजनीतिक चाबी बनाने में बाधा उपस्थित नहीं होगी।'' मेरी पूरी बात सुनने के पूर्व ही डॉक्टर एकदम भड़क उठे। मेरे व्यक्तिगत संबंधों का भी उन्हें विस्मरण हो गया। वे कहने लगे—''मैं त्यागपत्र नहीं दूंगा। आप मुझे मंत्रीपद से हटा दें। नागपुर जाकर आर.एस.एस. अधिकारियों से शोध संस्थान से निकाल बाहर कर दीजिये मुझे। मैं स्वयं त्यागपत्र नहीं दूंगा।'' डॉक्टर जैन से इन शब्दों में ऐसी प्रतिक्रिया की मैंने सपने में भी कल्पना नहीं की थी। व्यक्तिगत राजनीतिक महत्त्वाकांक्षा व्यक्ति को कहां तक पहुंचा सकती है, इसका यह ज्वलंत उदाहरण है। इसी डॉक्टर जैन से मेरे संबंधों को लेकर संघ क्षेत्रों में मुझ पर आरोप लगाया जाता था कि मैं अपरिपक्व महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति को बढ़ावा दिए जा रहा हूं। संघ क्षेत्रों की प्रतिक्रिया सत्य सिद्ध हुई। डॉक्टर और मेरे संबंध बिगड़ने का कारण व्यक्तिगत या पारिवारिक नहीं है।

''मैं अभी और सब जगह राजनीतिक दांव चलता रहूं और दीनदयाल शोध संस्थान का सचिव भी बना रहूं।'' यह है उनका आग्रह। यहां व्यक्तिगत या पारिवारिक संबंधों का प्रश्न कहां उपस्थित होता है? अब मेरे सामने यह अंतर्द्वंद्व खड़ा है कि मैं व्यक्तिगत संबंधों को महत्त्व दूं या जिस ध्येयपूर्ति का संकल्प कर उसके लिए स्वयं को समर्पित किया है, उस पर अड़ा रहूं।

मैं संघ का बहुत पुराना स्वयंसेवक हूं। लगातार 45 वर्षों से अधिक काल मैंने संघ के संस्कारों में बिताया है। प्रारंभ से आज तक क्षण मात्र के लिए भी संघ कार्य से अलग नहीं रहा हूं। आपसे ही शिक्षा पाता रहा हूं कि संघ कार्य करते समय व्यक्तिगत या पारिवारिक संबंधों को ध्येयनिष्ठा की बलि नहीं चढ़ानी चाहिए। मैं तो सोचता रहा कि डॉक्टर के हृदय में मेरे लिए थोड़ा सा स्नेह रहा होता तो वे स्वयमेव इस विवाद को समाप्त कर मुझे एकाग्र हो अपनी साधना में संतुलित रहने देते।

इन दिनों में डॉक्टर का जो व्यवहार प्रगट हुआ है, उसके बावजूद डॉक्टर को सही दिशा में चलने के लिए न कहकर मुझे ही वर्तमान स्थिति के लिए दोषी ठहराया जाए तो इससे अधिक दुर्भाग्य की बात मेरे लिए इस जीवन में क्या हो सकती है?

बातचीत करने में आपको कष्ट होता है, यह आपके पत्र में पढ़कर आपके पत्र का लिखित उत्तर देने के लिए विवश हुआ हूं। क्षमा करें।

4

16 दिसंबर, 1984

मा. श्री रज्जू भैया,

आपका पत्र मिला। मेरे लेख के अंतिम अंश को ही पत्रकारों ने बहुत उछाला। नागपुर के 'मीट द प्रेस' कार्यक्रम में आपने जिस संतुलित रूप में मुझे अपना मानकर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की, उससे मन को संतोष हुआ।

हिंदी में ही लिखने का मेरा अभ्यास है, किंतु उसके अंग्रेजीकरण से कभी समाधान नहीं हुआ। अतः गुरु नानक जयंती पर मूलतः अंग्रेजी में ही लिखने का प्रथम बार ही प्रयास किया। प्रि. श्री श्रीधरणजी व देवेंद्रजी का सहयोग लिया था। इसमें पूरे दो दिन अवश्य लगे किंतु एक नया विश्वास जगा। समाधान भी हुआ। हम तीनों ने पर्याप्त विचार-विनिमय के साथ एक-एक शब्द उपयोग में लाने का प्रयास किया था। आठ नवंबर को गुरु नानक जयंती थी। उसी दिन लेख को प्रसारित करना आवश्यक था। उसी समय मुझे तीन-चार विशेष व्यक्तियों से मिलना था। समय कम पड़ रहा था। अतः उस लेख को हिंदी में रूपांतरित करने का काम प्रिय देवेंद्रजी पर सौंपा। उनकी भाषा से अपने सभी लोग परिचित हैं। उसे देखकर अपने यहां के विशेष लोगों ने चर्चा छेड़ दी कि मेरे सब वक्तव्य व लेख श्री देवेंद्रजी ही तैयार करते हैं। मैं तो उनके हाथ का एक खिलौना मात्र बना हुआ हूं। यह आपसी चर्चा अखबारों में भी पहुंची।

मैं अपनी सीमाओं को भली-भांति जानता हूं। मैं एकदम मामूली सा व्यक्ति हूं। इस कारण अपने ही लोग हर बात में मेरी क्षमता पर संदेह करते रहते हैं। उसमें उन्हें दोष देना उचित नहीं। 4 नवंबर, 1974 की घटना है। पटना में जे.पी. के नेतृत्व में एक जुलूस व प्रदर्शन की योजना बनाई थी। उसे विफल करने पर सरकार तुली हुई थी। उसने अनेक प्रकार से बाधाएं खड़ी की थीं। मुझ पर भी बिहार में जाने पर प्रतिबंध लगाया गया था। इन बाधाओं के बावजूद 4 नवंबर का जुलूस बहुत ही विशाल बन गया था। मैं भी अपने ढंग से पहुंच गया था। सरकार यह दृश्य देख बहुत परेशान हुई। विधान सभा पहुंचने के पूर्व ही दोनों ओर से जंग देख सैकड़ों पुलिस व सी.आर.पी. जवानों ने सामने से जुलूस को रोका। बिना किसी कारण और घोषणा किए बिना ही बहुत बर्बर लाठी चार्ज चालू कर दिया। सर फटे जवान लड़कों-लड़कियों के खून से लथपथ दृश्य ने बड़ा दर्दनाक दृश्य उपस्थित किया। यह देख जे.पी. तेजी से आगे बढ़े। मैं उनके साथ में ही था। सी.आर.पी. के लंबे जवान ने लंबी लाठी तान ली। संयोग ही कहना चाहिए कि मेरी नजर समय से उस लाठी पर पड़ी। एकदम कूदकर अपने बाएं हाथ का रोध लेकर उस लाठी का वार अपने हाथ पर लिया। मेरे हाथ की हड्डी में फैक्चर अवश्य हुआ, किंतु जे.पी. बच गए। दूसरे

4 *सिद्धांतहीन व टकराव की राजनीति ने नानाजी को बहुत ही व्यथित कर दिया था। विशेषकर अपने कतिपय साथियों के व्यवहार से वे बहुत दुःखी थे।*

दिन देश भर के अखबारों में फोटो सहित यह खबर छपी, किंतु मैं ऐसा साहस व स्फूर्ति दिखा सकता हूं, इस पर अपने ही नेताओं को संदेह हुआ। बात आपसी चर्चा तक ही सीमित नहीं रही। प्रिय श्री लालजी आडवाणी ने दिल्ली से पटना फोन लगाकर इस खबर की सत्यता के बारे में जे.पी. से ही पूछताछ की। उसके पूर्व श्री चंद्रशेखर व अन्य नेतागण दिल्ली से पटना आकर जे.पी. से अस्पताल में मिलकर जा चुके थे। जे.पी. को लालजी द्वारा हुई पूछताछ के कारण अजब सा लगा। वे सायंकाल मुझसे मिलने आए तथा मुझसे फोन पर हुई बातचीत बताई। मैं क्या कहता? मन ही मन अपने दुर्भाग्य पर आश्चर्य करता रहा। मैंने आज तक इस बात का कहीं उल्लेख नहीं किया था। इस पृष्ठभूमि में इस लेख को लेकर मेरी अक्षमता पर अपने ही बंधु आपस में चर्चा करें तथा वह सब अखबारों में भी छपे तो उस पर दु:ख या आश्चर्य क्यों करूं?

अपनी योग्यता या क्षमता के कारण नहीं अपितु पचास साल से अधिक काल के अखंड संघ संस्कारों के कारण मैं न कभी किसी के हाथ का खिलौना बना हूं, न बन पाऊंगा। अपने लोगों को छोड़कर अन्य लोग इस बात को जानते और समझते भी हैं। जो कुछ गलत-सही सोचता या करता हूं, उसका प्रेरणा-केंद्र संघ ही है। न कोई अन्य व्यक्ति है, न व्यक्तिगत प्रतिष्ठा की भावना या आकांक्षा है। प्रिय देवेंद्रजी तो बहुत कम समय से मेरे साथ काम कर रहे हैं। मेरा यह स्वभाव तो 1943 से ही अपने संघ अधिकारियों के ध्यान में आया हुआ है। वह ही संभवत: कारण है कि अपने लोगों की नजर में मेरी यह स्थिति बनी हुई है, किंतु मेरी दृढ़ धारणा है कि मेरे स्वभाव के कारण न कभी संघ की हानि हुई है, न होगी।

इधर कई दिनों से अनेक प्रश्न मेरे दिमाग में परेशानी पैदा कर रहे हैं। उन पर आप गंभीरता से विचार कर मार्गदर्शन करें। उन्हें प्रस्तुत कर रहा हूं—

- अपनी प्रेरणा व योजना से राजनीतिक क्षेत्र में हमने काम प्रारंभ किया था। यह कदम सत्ता प्राप्ति का माध्यम मात्र मानकर उठाया नहीं था। लक्ष्य था देश की राजनीति पश्चिम के अंधानुकरण की दिशा में गतिमान न हो। देश के विभाजन के बाद भी तुष्टीकरण की नीति फिर से घातक न बने। अपने परंपरागत जीवन-मूल्यों की राष्ट्रजीवन में प्रतिष्ठा बढ़े। देश की सुरक्षा, अखंडता व एकात्मता अधिकाधिक सुदृढ़ हो। समृद्धि का स्रोत हर दरवाजे तक पहुंचे। समाज में परस्पर सद्भावना व सहयोग बढ़ता रहे।

31 साल बीत गए हैं। इस काल में हम न इस दिशा में खास प्रगति ही कर पाए हैं, न अपने बलबूते पर विकल्प ही खड़ा कर सके हैं। प्रचलित राजनीति में गुणात्मक परिवर्तन करने में भी सफलता नहीं मिल पाई है। अपितु वर्तमान राजनीतिक प्रणाली के परिणामस्वरूप सामाजिक विघटन की गति बेकाबू हो रही है, जो संघ लक्ष्य सिद्धि के पूर्णत: प्रतिकूल है।

इस घातक प्रवाह को रोकने तथा संघ का एकात्म समाज निर्माण का लक्ष्य प्राप्ति की गति तीव्र करने के लिए इस वातावरण में क्या किया जाना चाहिए?

- स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से ही प्रमुख रूप से कांग्रेस पार्टी से सत्ता या पद प्राप्त करने में असफल व्यक्ति स्वयंभू नेता बन अपनी व्यक्तिगत आकांक्षा पूर्ण करने के लिए एक नया

दल बनाते जा रहे हैं। फलस्वरूप देश में दलों के नेता कम दिखाई देते हैं, किंतु नेताओं के दलों की संख्या बढ़ती ही जा रही है। यह लोकतंत्र की परिणति नहीं, स्वार्थपूर्ण व्यक्तिवाद का नग्न तांडव है। इस निष्क्रिय प्रवृति को संघ घातक मानता रहा है। अतः इस बढ़ती हुई घातक प्रवृत्ति को किस प्रकार रोकना संभव होगा?

- विरोधी दल का मुखौटा चढ़ाते ही इन्हीं स्वार्थी व अवसरवादी नेताओं के दलों से गठबंधन करना अभिनंदनीय माना जाता है। क्या इस प्रक्रिया से देश की राजनीति स्वस्थ बन सकेगी? क्या इससे अवसरवाद की—जो अपने जीवन-मूल्यों के लिए विषवत् है—प्रतिष्ठा बढ़ाने में योगदान नहीं होगा? इस प्रक्रिया के परिणाम कौन से संकेत दे रहे हैं? 1967 से अर्थात् गत 17 सालों के अनुभवों के आधार पर हमने अपने उस क्षेत्र के साथियों के लिए क्या निष्कर्ष निकाले हैं?
- सार्वदेशिक स्तर पर कोई भी विरोधी दल बहुमत में आने की स्थिति में नहीं है। बहुमतवादी कांग्रेस भी अपना बहुमत खोने के मार्ग पर है। दूसरी ओर अनुभव बताता है कि मिली-जुली सरकारें प्रदेशों में तथा केंद्र में भी अल्पजीवी व असफल हो रही हैं। केंद्र में किसी एक दल का बहुमत न आया और मिली-जुली सरकार बन गई और वह चल न पाई तो राजनीति में सक्रिय अपने लोग क्या करें?
- उपर्युक्त स्थिति में कानून और व्यवस्था की हालत अधिक विकट हो सकती हैं। हर आबादी में अराजकता बढ़ सकती है। ऐसे समय उन आबादियों में चलनेवाली शाखाओं को कौन सा दायित्व निभाना होगा? इस संबंध में अपने प्रमुख कार्यकर्ताओं को समय से स्पष्ट कल्पना देने की आवश्यकता है या नहीं?
- विश्व हिंदू परिषद् के कुछ कार्यक्रमों से ध्यान में आया है कि अपने समाज में हिंदुत्व की भावना गहरी व प्रबल है। उन कार्यक्रमों में देश के अनेक भागों में दलगत भावना से उपर उठकर विभिन्न राजनीतिक दलों के सक्रिय कार्यकर्ता खुलकर सम्मिलित हुए थे। अपनी प्रेरणा से चल रहे सेवा एवं विकास के कार्यक्रमों का यह ही अनुभव है। इन सभी कार्यों के माध्यम से संघ में सर्व साधारण नागरिकों के साथ-साथ दलीय, निर्दलीय तथा अन्य धर्मावलंबी लोगों को भी स्वार्थ रहित होकर एक साथ ले चलने की क्षमता बढ़ाई जा सकती है। संघ के अतिरिक्त ऐसी अन्य देशव्यापी कोई शक्ति आज अस्तित्व में नहीं है, किंतु संघ राजनीतिक क्षेत्र में व्यावहारिक आधार पर किसी एक दल का पावक बना रहा तो क्यों सबको साथ-साथ ले चलने की संभाव्य क्षमता खोने की स्थिति में नहीं पहुंचेगा?
- स्वातंत्र्य प्राप्ति के काल से ही अपने देश में मूल्यहीन व सिद्धांतहीन टकराव की राजनीति चल पड़ी है। नव स्वतंत्र देश के लिए विशेषतः भारत के लिए सुरक्षा, एकात्मता एवं विकास की दृष्टि से टकराव की राजनीतिक पद्धति हितावह सिद्ध नहीं हुई है। इस सिद्धांतहीन, टकराव की राजनीतिक पद्धति से मुक्ति पाए बिना समाज के लिए आवश्यक परस्पर सद्भावना व सहयोग का जीवन पनप नहीं सकता। यह बात सैंतीस साल का अनुभव है।

इस अनुभव को आधार बनाकर समाज में सद्भाव व सहयोग का जीवन निर्माण करने में ही संघ का ध्येय है, हमें अपनी शक्ति केंद्रित करना उपयुक्त नहीं होगा।

मैं अपनी अल्प बुद्धि से समझता हूं कि इन प्रश्नों पर गंभीरता से विचार कर अपने देशव्यापी संगठन में संलग्न समर्पित कार्यकर्ताओं का इस बढ़ती हुई अनिश्चितता की स्थिति में मार्गदर्शन करना नितांत आवश्यक है।

5

01 फरवरी, 1985

मा. श्री रज्जू भैया,

सादर नमस्कार। परसों रात मैं आपसे मिला था। मेरे आठ नवंबर के लेख तथा हाल में इंडियन एक्सप्रेस में छपे मेरे विचारों को लेकर चर्चा हुई। मेरे उस लेख के लिखने के पीछे क्या हेतु रहा, यह भी बात उठी। शोध संस्थान के लिए सरकारी सहायता की अभिलाषा या अपनी प्रसिद्धि की कामना काम कर रही है, ऐसी आशंकाएं प्रगट हुईं।

पचास सालों से अधिक काल से अपने कार्य के प्रति अखंड निष्ठा के साथ कार्यरत कार्यकर्ता इतनी अशुद्ध भावनाओं का शिकार हो सकता है, ऐसी शंकाएं उठना कम गंभीर बात नहीं है। जिस पर शंका की गई केवल उसी के लिए यह असह्य दु:ख का कारण नहीं है अपितु अपने संगठन की स्थिति स्वस्थ नहीं है, इसका द्योतक है। यह पहली ही धारणा नहीं है। ऐसी शंकाएं अन्य महत्त्वपूर्ण कार्यकर्ताओं के बारे में भी प्रगट हुई हैं। अपने इतने पुराने कार्यकर्ता किसी प्रभाव में आ सकते हैं, यह अपने संगठन की ही कमजोरी है, यह मानना पड़ेगा। क्या अपने अनेक सालों के संस्कार इतने सतही हैं?

अपना संगठन अब साठ साल का हो रहा है। उससे प्रारंभिक कार्यकर्ताओं की आयु भी साठ के आस-पास या अधिक ही है। उन्होंने अपने कार्यकाल में सामाजिक जीवन के अनेक अनुभव प्राप्त किए हैं। उन अनुभवों के आधार पर उनके अपने प्रामाणिक विचार हो सकते हैं। क्या यह मानने की अपनी संगठन में गुंजाइश नहीं होनी चाहिए? अन्यथा हर स्तर पर शंका-कुशंकाओं का वातावरण परस्पर विश्वास को घटाता जाएगा एवं ऐसी चर्चाएं संगठन को कमजोर करेंगी।

1951 में मुझे राजनीति के क्षेत्र में काम सौंपा गया था। आजादी मिलने के बाद प्रथम बार 1967 में कांग्रेस की व्यापक स्तर पर पराजय हुई थी। उन चुनावों के परिणामस्वरूप बंगाल तथा केरल में कम्युनिस्टों की सरकारें बनी थीं। 1962 की हार के बाद डॉ. लोहिया ने गैर-कांग्रेसवाद चलाया था। 1967 में उसे तात्कालिक सफलता प्राप्त हुई थी।

बिहार विधान सभा में 318 स्थानों में से कांग्रेस को केवल 128 स्थान मिले थे। जनसंघ

5 *संदेह नहीं, खुले दिल से बात करने पर जोर। 8 नवंबर, 1984 के लेख के संदर्भ में, जो इसी खंड के पृष्ठ 54 पर दिया गया है।*

को 26 स्थान मिले थे। हमारे बिना भी सरकार बन सकती थी। या कम्युनिस्ट प्रभावित वामपंथी सरकार बनती। बिहार में भी कम्युनिस्टों की जड़ें फैलतीं। कांग्रेस के बाद वामपंथी देश की बागडोर संभालेंगे, यह वातावरण बनता। यह न जनसंघ के लिए ठीक होता, न देश के लिए ही। ऐसा न होने देना तात्कालिक राजनीतिक आवश्यकता थी। बिहार में इसी कारणवश जनसंघ का सम्मिलित होना उपयोगी होगा, ऐसा लगा। किंतु कम्युनिस्टों के साथ शासन में सहभागी होना अपनी नीति में नहीं बैठता था। यह प्रश्न प. पू. गुरुजी के सम्मुख रखा गया। आपत् धर्म के नाते बिहार में सरकार में जाने की अनुमति मिली थी। बिहार की सरकार में पहुंचकर अपने लोगों ने अपेक्षित दायित्व निभाया।

अन्य प्रदेशों के अपने लोगों ने बिहार की विशेष स्थिति को न समझकर कांग्रेस की कमजोर सरकारों के लोगों को तोड़कर अपनी सरकार बनाने का आग्रह प्रारंभ किया। उत्तर प्रदेश की बैठक इसी हेतु रखी गई। उसमें मुझे भेजा गया। मुझे लेने हवाई अड्डे पर श्री राजेंद्र गुप्ता आए। मैंने उन्हें स्पष्ट शब्दों में कहा कि यह काम जनसंघ के लिए घातक सिद्ध होगा। हमारे अंदर भी अवसरवाद पनपेगा। अपनी विशेषता खत्म होगी। बैठक में इस विचार का मैंने अवलेखन पढ़ा। आप इसकी जांच कर सकते हैं। सबने मिलकर मुझ पर ही दायित्व सौंपा कि मैं चौ. चरण सिंह को कांग्रेस से बाहर निकालकर उन्हें मुख्यमंत्री बनाऊं। वह गलत काम मैंने किया, किंतु उसके परिणाम वह ही निकले जो मैंने बताए थे। अपने संगठन की विशेषता समाप्त हुई। हम भी अन्य दल के समान ही बन गए। अपने लोग देश में महत्त्वपूर्ण नेता अवश्य बने किंतु न हमारी विशेषता कायम रह पाई, न संगठन ही वैसा टिक पाया। कार्यकर्ताओं का दल नेताओं के दल के रूप में परिवर्तित हुआ।

उसके बाद 1971 के चुनाव हुए। उसमें भी हमें सबके साथ ही चुनाव लड़ने पड़े। कारण, हम केवल प्रेशर ग्रुप के नाते नहीं सत्ताप्राप्त दल के नाते काम करने की नूतन आकांक्षा से प्रभावित हुए थे। यह काम हम अकेले कभी न कर पाएंगे, यह हमारे नेता का विचार था। उस समय फिर से मैंने एक पेपर बनाकर अपने दल को पुनर्संगठित करने का सुझाव रखा था, किंतु उसकी पूर्ण उपेक्षा हुई। उसके बाद 1980 के चुनाव के बाद दूसरा पेपर बनाकर दिया था। वह भी उपेक्षा की टोकरी में ही पहुंचा।

संघ कार्य के संबंध में भी मेरे मन में विचार उठते रहते हैं। उन्हें भी लिपिबद्ध कर मैंने अपने अधिकारियों को विचार करने के लिए दिया था। 15 मार्च, 1980 को एक पेपर तथा दूसरा 16 जुलाई, 1981 को, किंतु उन दोनों पेपर्स की भी उतनी ही उपेक्षा हुई, जितनी अपने राजनीतिक नेताओं ने की थी। संघ के किसी भी अधिकारी ने मुझे बुलाकर उस पर बात तक करना उचित नहीं समझा।

मेरी यह धारणा बनी है कि अपने वरिष्ठ अधिकारी मुझे एवं मेरे विचारों को निरर्थक मानते हैं, किंतु मेरी अल्प बुद्धि यह कहती है कि समय की कसौटी पर मेरे बातों की यथार्थता प्रगट हो रही है। मैं समझ ही नहीं पाता कि अन्य पक्षों के लोग आकर मुझसे बातें कर अपने ढंग से उन्हें प्रकाशित

करते हैं किंतु अपने कोई व्यक्ति कभी मिलकर वास्तविकता को स्पष्ट करा लेना आवश्यक नहीं समझते। क्या इससे अपने लोगों में फैलनेवाली गलतफहमी दूर नहीं हो सकती? अस्तु।

मुझे बड़ी तीव्रता से अनुभव हो रहा है कि हम सब लोगों को एक संग बैठकर खुले दिल से अपने द्वारा संचालित सभी कामों तथा संघ कार्यशैली पर पुनर्विचार करना चाहिए। केवल एक दूसरे की प्रामाणिकता पर संदेह करना स्वस्थ उपाय नहीं है।

संघ की शाखाओं की स्थिति स्वस्थ नहीं है। यद्यपि उस पर हर बार बल देने का आग्रह होता है। संघ के बहुत कम स्वयंसेवक दस प्रतिशत से कम शाखाओं पर आते हैं, किंतु उनके हृदय में संघ है। इसके बावजूद उनका व्यवहार सामान्य नागरिक के समान है। इस कारण हमारी अपेक्षाएं निष्फल सिद्ध होती हैं। कारण उनसे सतत संपर्क का अपने पास कोई माध्यम नहीं है। उनके विचार समझने की अपने पास व्यवस्था नहीं है। मैंने अपने प्रथम पेपर के (15 मार्च, 1980 के) द्वितीय पृष्ठ पर लिखा था कि चिरंतनस्वरूप के कार्यों के संबंध में समय-समय पर मूल्यांकन करना व आवश्यक परिवर्तन एवं परिवर्धन के साथ उन कार्यों को सामयिक संदर्भ में उपयोगी बनाए रखना आवश्यक रहता है।

इन बातों का परिणाम शाखाओं में आनेवाले स्वयंसेवकों के मन पर भी होता है। आशा है, आप इस पर विचार करेंगे।

6

10 मार्च, 1986

परम पूज्य श्री बाला साहेब,

गत नवंबर में दीपावली के दिनों में क्षेत्रीय तथा प्रांतीय प्रचारकों की बैठक मद्रास में हुई थी। बैठक का समारोप करते हुए आपने इच्छा व्यक्त की थी कि अपने कार्य की दृष्टि से संभव सुझाव मिलें तो उन पर विचार हो सकता है। तदनुसार मैं अपना मानस व्यक्त कर रहा हूं।

- अनेक सालों से लगातार आग्रह करने पर भी शाखाओं की औसत उपस्थिति में अपेक्षित वृद्धि नहीं हो पा रही है। आवश्यक संख्या के अभाव में संघ शिक्षा वर्गों में सिखाए जानेवाले कार्यक्रमों का उपयोग रोज की शाखाओं में नहीं होता। उस कष्टसाध्य शिक्षा की उपादेयता वर्ष में एक बार आयोजित वार्षिक उत्सव तक सीमित हो गई है।
- शाखा कार्य के माध्यम से ही देश की समस्याओं का निराकरण होगा, समाज की सर्वांगीण उन्नति होगी तथा राष्ट्र परम वैभव के शिखर पर पहुंचेगा, यह धारणा स्वयंसेवकों के मन में जमाने का सतत प्रयास होता रहा है। रोज की प्रार्थना, बौद्धिक वर्ग, बैठकें, चर्चाएं, गीत आदि इसके अधिकृत माध्यम माने गए हैं।

6 *सामाजिक एवं पारिवारिक कार्यों में संघ की भूमिका की विवेचना। श्री बाला साहेब देवरस उन दिनों संघ के सरसंघचालक थे।*

किंतु स्वयं होकर हम अन्य अनेक कार्य भी खड़े करते जा रहे हैं। फलस्वरूप स्वयंसेवकों के मन में सहज में ही विचार-चक्र चलने लगता है कि रोज का शाखा कार्य अपनी लक्ष्यसिद्धि के लिए पर्याप्त नहीं है। हमारी अपनी अनुशासन परंपरा के कारण शाखा में आनेवाले स्वयंसेवक अपने इस मानसिक अंतर्द्वंद्व को व्यक्त नहीं करते, किंतु इस मानसिक दुविधा का स्वयंसेवकों की कार्यक्षमता पर परिणाम हुए बिना नहीं रहता।

- संघ पर लगे प्रथम प्रतिबंध काल में तथा बाद में अनेक अन्य कार्य चलाना प्रारंभ हुआ। तभी से अपने कार्यकर्ता शाखा कार्य के साथ-साथ अन्य कार्य भी करने लगे। कम-अधिक मात्रा में सभी स्थानों पर संघ के सक्रिय शाखा अधिकारी तथा प्रमुख प्रचारक भी अनेक बार शाखा समय में अन्य कामों में व्यस्त रहते हैं। प्रार्थना मात्र के लिए संघ स्थान पर पहुंचते हैं। शाखा की महत्ता पर इसका भी परिणाम हुए बिना नहीं रहता।
- अपना कार्य साठ साल पूर्ण कर चुका है। इस सुदीर्घ अवधि में बहुत से स्वयंसेवकों ने प्रचारकों के रूप में अनेक लोगों को संघ कार्य के लिए प्रेरित किया है। उनमें से अनेक प्रचारक विवाहबद्ध होकर अपनी घर-गृहस्थी में व्यस्त हो गए हैं। ऐसे कार्यकर्ताओं की संख्या कम-अधिक मात्रा में है। इन सबका संघ कार्य के लिए बहुत बड़ा लाभ होता, यदि ये पुराने कार्यकर्ता पारिवारिक दायित्व के साथ सपरिवार संघ का आदर्श अपने व्यावहारिक जीवन में साकार कर आदर्श नागरिक का अनुकरणीय नमूना प्रस्तुत कर सर्वसाधारण नागरिकों के लिए प्रेरणा का केंद्र बनते किंतु ऐसा नहीं हो रहा है, अपितु उनमें से अधिकांश लोग रोज की शाखाओं में भी सक्रिय नहीं रहे। अनेक ने तो स्वयं को संघ कार्य से दूर ही रखना पसंद किया है। इस कारण संघ में आ रहे स्वयंसेवक मन ही मन सोचते हैं कि संघ कार्य तो प्रचारकों के लिए ही संभव है। पारिवारिक दायित्व निभाते हुए संघ कार्य करना कठिन है। इसका परिणाम जहां अपने दैनिक कार्य पर होता है, वहां उसकी व्यापकता पर भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। इतिहास काल में साधारणतः पारिवारिक लोग ही राष्ट्र कार्य का दायित्व निभाते रहे हैं, किंतु इन ऐतिहासिक अनुकरणीय उदाहरणों का हम लाभ उठा नहीं पाते।
- प्रचारक व्यवस्था ही संघ की आधारभूत शक्ति बन गई है। प्रचारकों के बिना शाखाओं का नियमित रूप से चलना भी संभव नहीं होता। प्रमुखतः प्रचारकों के प्रयासों के कारण ही संघ शिक्षा वर्गों में शिक्षार्थियों की संख्या पहुंचती है। प्रचारकों के प्रयासों से ही कुछ काल के लिए प्रचारकों के रूप में कुछ कार्यकर्ता निकल आते हैं। फिर भी उस मात्रा में न शाखाओं की संख्या बढ़ पा रही है, न औसत उपस्थिति।
- गत साठ साल के काल में लाखों लोग संघ के स्वयंसेवक बने। वे देश भर में फैले हुए हैं। उनमें से कई सामाजिक जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण पदों पर रहे हैं तथा अनेक लोग अभी भी ऐसे प्रभावी पदों पर विराजमान हैं। उन लाखों स्वयंसेवकों में से अनुमानतः नब्बे प्रतिशत से अधिक स्वयंसेवक विभिन्न कारणों से संघ कार्य में सक्रिय नहीं हैं। अपनी

इस देशव्यापी संस्कारित शक्ति का अपनी लक्ष्यसिद्धि के लिए उपयोग करने की स्थिति में अपनी शाखाएं नहीं हैं। न उस दृष्टि से हमारी कोई योजना ही है। ऐसी स्थिति में सर्वसाधारण नागरिकों को हम अपनी लक्ष्यसिद्धि के लिए किस प्रकार सहकारी बना पाएंगे?

- जब तक संघ का साधारण से साधारण स्वयंसेवक सहज में ही अनुभव नहीं करता कि संघ शाखाओं के माध्यम से रोज की प्रार्थना में व्यक्त लक्ष्यसिद्धि निकट भविष्य में संभव है, तब तक न स्वयंसेवकों में, न रोज की शाखाओं में, न संघ की लाखों स्वयंसेवकों के रूप में बेकार पड़ी संस्कारित शक्ति में सक्रियता संभव होगी। अपने द्वारा चलाए जा रहे अन्य कार्य भी बड़े-बड़े सम्मेलनों, विशाल उत्सवों, शोभा यात्राओं आदि तक ही सीमित रहेंगे। प्रार्थना में वर्णित समाज निर्माण की दृष्टि से विशेष उपलब्धि संभव होगी, ऐसा नहीं लगता।
- हम लोग सेवा कार्यों पर काफी बल दे रहे हैं, किंतु इतने भर से अपनी लक्ष्यसिद्धि होगी, इसमें संदेह है। अस्पताल खोलना व चलाना, स्वास्थ्य शिविर लगाना, निःशुल्क ओषधि वितरित करना, आवासीय या अन्य विद्यालय या महाविद्यालय चलाना, छात्रालयों की व्यवस्था करना, प्राकृतिक प्रकोपों से या बड़ी दुर्घटनाओं से पीड़ित लोगों की सहायता करना आदि सेवा कार्यों की महत्ता कम नहीं है। ये सब ठोस कार्य हैं। इनसे संकटग्रस्त लोगों की तात्कालिक आवश्यकताएं पूर्ण हो सकती हैं, किंतु इन सेवा कार्यों से समाज के घटकों की जीवन दृष्टि में सामाजिकता अंकुरित एवं विकसित होती हो, ऐसा अनुभव नहीं है। उपर्युक्त सब प्रकार के सेवा कार्य बड़े-बड़े लोग व संस्थाएं बराबर करती आ रही हैं। अभी भी ये सब काम छोटे-बड़े पैमाने पर अनेक लोग व संस्थाएं करती हैं। इन स्तुत्य प्रयासों के बावजूद जनजीवन से सामाजिकता, नैतिकता व सदाचार का लोप तेजी के साथ हो रहा है। परस्पर विद्वेष व कलह बढ़ रहा है। इससे स्पष्ट है कि केवल सेवा कार्यों के माध्यम से सामाजिक जीवन में सुस्थिति निर्माण नहीं हो सकती। ये सब काम जनजीवन में सामाजिकता की व्यावहारिक वृत्ति अंकुरित करने व पनपाने के लिए पर्याप्त नहीं है। इनसे व्यक्ति व समाज परस्पर-पूरक बनना संभव नहीं है।
- देश स्वतंत्र होकर भी अड़तीस साल का काल बीत गया है। शासन-तंत्र देशवासियों के हाथ में आने पर भी स्वातंत्र्य संग्रामकालीन सपने साकार होते दिखाई नहीं देते। उलट उस अवधि में जन-जीवन से केवल उदात्तता व नैतिकता का ही ह्रास नहीं हुआ, अपितु स्वातंत्र्य संग्रामकालीन जनमानस में भविष्य निर्माण के प्रति जो प्रबल विश्वास था, जिस कारण साधारण से साधारण नागरिक में विशेषतः युवाओं में साहस, त्याग एवं बलिदान की भावनाएं प्रखर हो उठती थीं, वह विश्वास ही उखड़ गया है। सुशिक्षित, बुद्धिमान व समझदार माने जानेवाले लोग भी, जिनसे मार्गदर्शन की अपेक्षा की जा सकती थी, भविष्य के प्रति आशंकाग्रस्त है। सर्वव्यापी, भ्रष्टाचार व निरंतर वृद्धिगत प्रशासकीय अक्षमता के कारण सर्वसाधारण जन निराश है। असामाजिक तत्त्व अधिकाधिक हावी हो रहे हैं। किसी के भी जान-माल और इज्जत की सुरक्षा का ठिकाना नहीं है। प्रगति के साथ आ रही इस अराजकता

को रोकने की क्षमता किसी में दिखाई नहीं देती। स्वयं सरकार विदेशी घुसपैठ की शिकायत कर परिस्थिति पर काबू पाने में असमर्थता प्रकट कर रही है।

- 1967 में प्रादेशिक स्तर तथा 1977 में केंद्रीय स्तर पर शासनारूढ़ नेतृत्व में परिवर्तन के प्रयोग विफल सिद्ध होने के कारण शासकीय नेतृत्व परिवर्तन से जो अपेक्षाएं थीं, उन पर भी पानी फिर गया है। लोकतंत्र की दलीय प्रणाली ने राष्ट्रीयता पर ही कुठाराघात किया है। स्वातंत्र्य प्राप्ति के काल में सत्ता को इतना अधिक महत्त्वपूर्ण प्रचारित किया गया था कि स्वातंत्र्य प्राप्ति के बाद के काल में सत्ता ही सर्वगुण-संपन्न देवता बन बैठी है। अतः सत्ता प्राप्ति के लिए कौन किस सीमा तक जाएगा, इसका ठिकाना नहीं रहा। आम लोगों को राष्ट्र के प्रति कर्तव्य-तत्पर बनाने के स्थान पर, दलगत स्वार्थ एवं सत्ता प्राप्ति के लालच में, उनमें जातिगत संकुचितता व व्यक्तिगत स्वार्थ उभारने की विभिन्न दलों में प्रतिस्पर्धा चल रही है। अवसरवाद एवं सिद्धांतहीनता दलगत राजनीति का अभिन्न अंग बन गई है। राजनीतिक दल साधारणतः सिद्धांत के नहीं, व्यक्तिवाद के सहारे जी रहे हैं। दलों के नेता नहीं रहे, नेताओं के दल बनते जा रहे हैं। परिणामस्वरूप देश में जातिवाद, वर्गवाद, भाषावाद, मजहबवाद, क्षेत्रीयवाद आदि की विकृत एवं विघटनकारी भावनाएं आज जितनी प्रबल व उग्र बन गई हैं, उतनी शायद इतिहास के बुरे दिनों में भी न रही हों। इस अवस्था के कारण समाज स्वयं को नेतृत्वविहीन अनुभव कर रहा है। इस दलगत युग में राष्ट्र नवनिर्माण के कार्य में सर्वसाधारण नागरिकों को जुटाने का कार्य करनेवाले राष्ट्रीय नेतृत्व का अभाव हो गया है। इस चिंताजनक अवस्था में समाज में हर स्तर पर उपयुक्त, सशक्त व निष्पक्ष नेतृत्व समय रहते उभर न सका तो देश का भविष्य क्या बनेगा, इसकी कल्पना भी डरावनी सी लगती है।
- देश की इस गंभीर अवस्था में राष्ट्रीय दृष्टि एवं वृत्ति से युक्त, अनुशासित, देशव्यापी शक्ति संघ के अतिरिक्त अन्य नहीं है। समय की आवश्यकता पूर्ण करने की संभाव्य क्षमता एकमात्र संघ के ही संगठन में है, किंतु दुर्भाग्य है कि अनेक लोग संघ को एक दलीय संगठन के रूप में देखते हैं। जबकि देश के लिए आज निष्पक्ष अर्थात् दलीयता से मुक्त राष्ट्रीय शक्ति की नितांत आवश्यकता है। उसके बिना दलीयता के रोग से पीड़ित समाज में राष्ट्र के भविष्य के प्रति विश्वास जगाना असंभव है। अखंड भारत के अनन्य पुजारी संघ ने देश विभाजन का असह्य आघात चुपचाप सहन किया था, यह बात मन को बराबर कचोटती रहती है। देशभक्ति से अधिक प्रबल बनी दल-भक्ति एवं व्यक्ति-निष्ठा के इस काल में समष्टि-निष्ठा का उपासक संघ ही निष्पक्ष राष्ट्रीय शक्ति के रूप में उभरकर समय की आवश्यकता पूर्ण करने की स्थिति में आ सकता है। बेसहारा बने सामान्य जन ऐसे ही नेतृत्व की प्रतीक्षा में बेचैन हैं। भारत के सामान्य नागरिकों में आवश्यकतानुसार सबकुछ करने की क्षमता विद्यमान है, किंतु निष्पक्ष राष्ट्रीय नेतृत्व के अभाव में उनकी यह सुप्तशक्ति प्रगट नहीं हो सकती। राष्ट्र-जीवन में उपस्थित इस नाजुक एवं ऐतिहासिक प्रसंग पर अपना राष्ट्र संघ से केवल तात्त्विक भूमिका की नहीं, अनुकरणीय व्यावहारिकता की अपेक्षा करता है। साठ साल

की तपस्या की सार्थकता का यह क्षण आ पहुंचा है।

- इस समय प्राथमिक आवश्यकता है नगरों की गली-गली तथा ग्रामीण अंचल की बस्ती-बस्ती में दयनीय दशा में जी रहे लोगों में भविष्य के प्रति आस्था जगाने की। अपने अड़ोस-पड़ोस में सुस्थिति निर्माण करने के लिए किसी पर निर्भर रहे बिना स्थानीय लोगों का सहकार प्राप्त कर काम करने की। मानव मन की ईश्वर प्रदत्त संवेदनशीलता उभारकर परस्पर सहयोग से अपने क्षेत्र के पीड़ित व उपेक्षितों को अपनाकर उन्हें दु:ख व दैन्य से मुक्त कर आत्मनिर्भर बनाने की दिशा में बढ़ने की। इन कार्यों के लिए स्वातंत्र्य प्राप्ति के लिए काम आए कानून भंग जैसे समाज में अनुशासनहीनता बढ़ानेवाले आंदोलनों की घिसी-घिटी पद्धति को त्यागकर नवरचना के सृजनात्मक समयोचित साधनों को अपनाने की। हर समस्या का दोष दूसरों पर मढ़कर संतोष करने की प्रवृत्ति से छुटकारा पाकर सबके सहयोग को जुटाते हुए समस्याओं के निराकरण में सक्रिय होने तथा लोगों में सामाजिक दायित्व की भावना भरने की। लोगों में अधिकार भावना भड़काने के स्थान पर अपने रचनात्मक व्यवहार से लोगों में कर्तव्य तत्परता की भावना विकसित करने की। सर्वथा शासन पर निर्भर बने रहने की प्रचलित पद्धति से नागरिकों को मुक्त करने तथा सर्वसाधारण समाज के घटकों को विशेषत: युवा-वर्ग को सामाजिक एवं आर्थिक पुनर्रचना के विभिन्न कार्यों में जुटाकर सर्वसाधारण लोगों में स्वावलंबन व स्वाभिमान की वृत्ति पनपाने की। समाज की शासन पर निर्भरता जितनी कम होती जाएगी, उतना ही भ्रष्टाचार एवं अनैतिकता घटेगी। इसी से लोकशक्ति विकसित होकर जहां शासकों व प्रशासकों पर अंकुश का काम करेगी, वहां राष्ट्रीयता के पावन प्रवाह को सबल बनाने में सबका सहकार खड़ा कर सकेगी। इसके बिना न लोकतंत्र की जड़ें जमेंगी, न मजबूत होंगी।
- स्वातंत्र्य काल का उनतालीस साल का अनुभव बता रहा है कि समाज में व्यावहारिक स्तर पर अनुकूल वातावरण बनाए बिना अच्छे से अच्छे कानून निरर्थक सिद्ध होते हैं तथा किसी की भी केवल उपदेशात्मक भूमिका फलदायी सिद्ध नहीं होती।
- संघ की हर एक शाखा अपने-अपने क्षेत्र में उपर्युक्त कार्यों को, अपने स्वयंसेवकों के माध्यम से स्थानीय नागरिकों का सक्रिय योगदान प्राप्त कर संपन्न कर सकती है। इससे जहां अपने स्वयंसेवकों का स्तर, योग्यता व क्षमता बढ़ेगी, वहां सामान्य नागरिकों को राष्ट्र नवरचना की समयानुकूल दिशा प्राप्त होगी। सबमें कर्तव्य तत्परता, सामाजिकता एवं आत्मनिर्भरता की अभिनंदनीय एवं अति आवश्यक वृत्ति विकसित होगी। इसी से भविष्य के प्रति विश्वास जमने लगेगा। संघ की प्रत्येक शाखा उस क्षेत्र के नागरिकों की रचनात्मक गतिविधि का केंद्र बनेगी। शाखाओं में प्रतिभाशाली युवकों का पुनरागमन प्रारंभ होगा। अपनी प्रार्थना में वर्णित समाज रचना खड़ी कर पाने का विश्वास अपने स्वयंसेवकों व समाज में जगेगा। देश और समाज के लिए जीवन सर्वस्व लुटाने की प्रेरणा मिलेगी। लाखों की संख्या में निष्क्रिय पड़ी अपने स्वयंसेवकों की संस्कारित शक्ति इन सब कार्यक्रमों के कारण सक्रिय होगी।

अपने शाखाओं का कार्य केवल शारीरिक एवं बौद्धिक कार्यक्रमों तक सीमित नहीं रहेगा। संघ समाजमय एवं समाज संघमय होने का मार्ग प्रशस्त होगा।

- समाज की आधारभूत इकाई के रूप में परिवार संस्था का आविष्कार हुआ था। व्यक्ति एवं समाज को एक-दूसरे से जोड़ने का यह स्वाभाविक एवं सुगमतम माध्यम था। नवजात शिशु को जन्मकाल से ही मानवीयता से विभूषित करने का परिवार ही संस्कार केंद्र था। संवेदनशीलता, नैतिकता तथा सदाचार जैसे गुणों को बचपन से ही व्यावहारिक रूप में विकसित करने की यह आत्मीयता से परिपूर्ण प्राथमिक पाठशाला थी। काल के प्रवाह में मानव की जन्मजात वासना पर जन्मजात संवेदना के सुसंस्कारों के अभाव में समाज की यह आधारभूत इकाई अर्थात् परिवार अपने दायित्व को खो बैठा है। अतः व्यक्ति अपने परिवार तक तथा परिवार अपनी संतान तक सीमित बन गया है। परिणामस्वरूप व्यक्ति एवं समाज तथा समाज एवं परिवार की परस्पर-पूरकता का लोप हो गया। इस प्रकार समाज की नींव ही ढह गई। सभी समस्याओं तथा अपने सामाजिक जीवन की दुर्दशा का यह प्रमुख कारण है। आवश्यकता है परिवार को फिर से समाज की आधारभूत इकाई के रूप में पुनर्प्रतिष्ठित करने की। सामाजिकता के नवजीवन का यह कार्य संघ के अतिरिक्त वर्तमान समय में करने की स्थिति में न अन्य कोई संस्था या शक्ति सक्षम है, न यह कार्य संघ कार्य की परिधि से परे हैं।

यदि उपर्युक्त दिशा में कोई व्यावहारिकता एवं तथ्य अनुभव होता हो तो संपूर्ण कार्य के कार्यक्रमों की विस्तृत रूपरेखा प्रस्तुत करने के लिए मैं प्रयास कर सकता हूं।

7

27 अप्रैल, 1986

परम पूजनीय श्री बाला साहेब,

नागपुर में 10 मार्च, 1986 की बैठक के समय मेरे द्वारा दिए हुए पत्र को पढ़कर आपने 13 मार्च की सायंकाल प्रार्थना के बाद मुझसे कहा था कि तुम्हारा पत्र मैंने पढ़ा। अतः तुम उसके अनुसार कार्यक्रम बनाकर देना। मैंने अपनी समझ के अनुसार कार्यक्रम बनाए हैं। वे प्रस्तुत हैं:

संघ शाखाओं को उनके क्षेत्र में निवास करनेवाले सभी परिवारों के साथ बिना किसी भेदभाव के जोड़ना नितांत आवश्यक है। सामाजिक भावना व राष्ट्रीय दृष्टिकोण से ये परिवार सदियों से वंचित हैं। इनके दैनंदिन जीवन में न पीड़ितों के लिए संवेदनशीलता है, न सामाजिक हित में कुछ करने की अभिलाषा। समाज व शासन से सबकुछ पाने की अपेक्षा मात्र उनमें प्रबल है। व्यक्तिगत या पारिवारिक स्वार्थसिद्धि में दिन-रात लगे रहना ही इनका जीवनक्रम बन गया है। इन

7 *राष्ट्र का नवनिर्माण व समाज की पुनर्रचना सिर्फ संघ के माध्यम से ही संभव है, इसे रेखांकित करते हुए उन्होंने एक विस्तृत कार्ययोजना संघ के समक्ष रखी।*

असामाजिक संस्कारों में ही नई पीढ़ी जन्म पा रही है, पल रही है तथा बढ़ रही है। इसको और भी विषाक्त बना रहा है जातिगत, भाषागत, क्षेत्रीय, सांप्रदायिक व दलगत संकुचितता का निरंतर बढ़ता हुआ दूषित वातावरण। इसके अतिरिक्त एक और भी दोष अपने सामाजिक जीवन को बिगाड़ रहा है। समाज के परस्पर-पूरक एवं अभिन्न अंग एक-दूसरे से कट रहे हैं। शिक्षित व अशिक्षित, धनी व निर्धन, बुद्धिजीवी व श्रमजीवी, शहरी व देहाती आदि वर्गों में अपना समाज बुरी तरह बंटा है। इन वर्गों के व्यक्तियों, परिवारों या बालक-बालिकाओं की आपस में मिलने-जुलने तथा एक दूसरे के सुख-दु:ख में सहभागी बनने की प्रक्रिया पता नहीं कब से बंद पड़ी है। इनके रहने, विचार-विनिमय तथा आमोद-प्रमोद के दायरे एकदम अलग-थलग हो गए हैं। मानो एक ही आबादी में कई समाज बसे हों। इनके एक-दूसरे के प्रति के भाव केवल सहानुभूति शून्यता तक ही सीमित नहीं रहे अपितु घृणा व विद्वेष में परिणत हो गए हैं।

किसी कारण अपने धर्म से बिछुड़ा हुआ व्यक्ति या परिवार फिर से अपने धर्म में लौट आता है तो कुछ ही दिनों में समाज में प्रचलित उपर्युक्त वातावरण के कारण घबरा जाता है। उसके दिमाग में अपने, विशेषत: अपनी संतान के भविष्य को लेकर अनेकानेक शंकाएं उठने लगती हैं। उपर्युक्त संकुचित व विघटनकारी वातावरण का निराकरण करने के साथ-साथ समाज के घटकों में परस्पर-पूरकता का वातावरण निर्माण करने की दिशा में प्रत्यक्ष काम किए बिना न स्वस्थ सामाजिक जीवन खड़ा किया जा सकता है, न सबल राष्ट्र जीवन। इस लक्ष्यसिद्धि के लिए निम्न कार्यक्रम उपयुक्त हो सकते हैं।

स्वस्थ, संतुलित, सुखद, उन्नत व समयानुकूल सामाजिक नवरचना खड़ी करने के लिए आवश्यक है कि देश का हर एक नागरिक विशेषत: नई पीढ़ी का प्रत्येक व्यक्ति स्वस्थ व सशक्त, साक्षर व सुशिक्षित, आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर व स्वाभिमानी, स्वभाव से संवेदनशील व सहयोगी, वृत्ति से सामाजिक व आवरण में प्रामाणिक तथा सदाचारी बनें। अत: प्रत्येक शाखा को अपने स्वयंसेवकों के माध्यम से शाखा क्षेत्र में रहनेवाले नागरिकों के परिवारों को सतत अपने संपर्क में बनाए रखने की विधियों को विकसित करना होगा। हम निम्न सात कार्यक्रमों के माध्यम से अपना लक्ष्य सिद्ध कर सकते हैं—

- समाज की आधारभूत इकाई के रूप में परिवार संस्था की पुनर्प्रतिष्ठा करना। मानव दो मूलभूत प्रवृत्तियों के साथ जन्म पाता है। उनमें से एक है वासना व दूसरी है संवेदना। वासना उसे अपने शारीरिक सुखोपभोग के लिए प्रवृत्त करती है। उसकी शक्तियों को—शारीरिक एवं बौद्धिक-व्यक्तिगत सुख के दायरे में ही सीमित रखती है।

संवेदना की प्रेरणा इससे सर्वथा भिन्न है। वह दूसरों के सुख-दु:ख की अनुभूति कराती है। दूसरों का दु:ख निवारण करने व उसे सुखी बनाने के लिए वह मानव को प्रोत्साहित करती है। वह उसे व्यापक व परोपकारी बनाती है। संवेदना से प्रभावित मानव दूसरों की सुख-सुविधाओं के लिए अपनी वासनाओं को संयमित रख पाता है। परिणामस्वरूप वह मानवीयता से विभूषित होता है। इसी कारण संवेदनशीलता को नैतिकता एवं आध्यात्मिकता का मूल माना गया है। जीवन

में इन दो मूलभूत प्रवृत्तियों का अनुकरणीय संतुलन ही हिंदू संस्कृति है।

मानव स्वभाव से अनुकरणशील है। उसका स्वभाव व व्यवहार साधारणतः चारों ओर के वातावरण का परिणाम है। पुरातन व नूतन मनोवैज्ञानिकों के अनुसार मानव अपने जीवन के प्रारंभिक 6 वर्षों में ही देखने व सुनने की शक्ति के सहारे अपने मस्तिष्क के कंप्यूटर का 80 प्रतिशत भाग भर लेता है। ग्रहणशीलता की गति आयु के प्रथम तीन वर्षों में जितनी तेज रहती है, उतनी जीवन में कभी नहीं रहती। उसके इसी काल में व्यक्ति के स्वभाव की धारणा होती है। उसकी आयु का यह प्रारंभिक काल माता-पिता एवं परिवार के सान्निध्य में बीतता है। मानव की इन विशेषताओं को जानकर अपने पुरातन मनीषियों ने परिवार को समाज की आधारभूत इकाई के नाते विकसित किया था। मानव की मूलभूत प्रवृत्तियों में से संवेदना को विशेष रूप से विकसित करते हुए परिवार में जन्म पानेवाले शिशु को क्रमशः चारों ओर रहनेवाले समाज से अभिन्न बनाना परिवार का दायित्व था। परिवार इस दायित्व को भुला बैठा है। समाज की आधारभूत इकाई के स्थान पर वह समाज से अलग-थलग इकाई बन गया है। व्यक्ति परिवार तक व परिवार अपनी संतान तक सीमित हो गया है। समाज के अवनति की यही जड़ है। फलस्वरूप विभिन्न प्रकार के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक समस्याएं अधिकाधिक जटिल बनती जाएंगी।

शाखा में आनेवाले स्वयंसेवकों में से लगभग सभी अपने परिवारों में रहते हैं। उनमें से पर्याप्त संख्या में परिवार के प्रमुख हैं। उन्हें अपने परिवार को उपर्युक्त दिशा में गतिशील बनाकर क्षेत्र के अन्य परिवारों के सम्मुख अनुकरणीय उदाहरण प्रस्तुत करना संभव हो सकता है। संघ शिक्षा वर्गों में इस कार्य के प्रशिक्षण की व्यवस्था करनी चाहिए। निम्न सभी कार्यक्रम परिवार को समाज की आधारभूत इकाई के रूप में पुनर्प्रतिष्ठित करने में सहायक हो सकते हैं।

- शाखा के क्षेत्र में साक्षरता, सुशिक्षा व संवेदनशीलता के साथ-साथ रोज के व्यवहार में सदाचार तथा सामाजिक कर्तव्य-तत्परता बढ़ाना।

हर एक शाखा के क्षेत्र में शहरी हो या ग्रामीण कम-अधिक मात्रा में शिक्षित एवं अशिक्षित व्यक्तियों की संख्या रहती ही है। अपनी शाखा क्षेत्र की आबादी को अशिक्षा व अज्ञान से पूर्णतः मुक्त करना स्वतंत्र देश का राष्ट्रीय कार्य है।

शिक्षा का अर्थ केवल लिखना, पढ़ना व हिसाब करना मात्र नहीं है। शिक्षा का अर्थ जीवन-शिक्षा से है। अपने अड़ोस-पड़ोस का समाज अर्थात् एक-एक परिवार व उसका हर एक सदस्य सभ्य, सुसंस्कृत, सदाचारी एवं परस्पर-पूरक बनाने का अर्थ है सबको शिक्षित अर्थात् सुशिक्षित बनाना। राष्ट्र व समाज अमूर्त बात नहीं है। वह यथार्थ है। राष्ट्र के घटकों में अर्थात् प्रत्येक परिवार व व्यक्ति में राष्ट्र की अवस्था दिखा करता है। अतः अपने पड़ोस के निवासियों की सेवा राष्ट्रसेवा का ही अंग है।

उपर्युक्त कार्य केवल शाखा के स्वयंसेवकों तक सीमित न रहें। क्षेत्र के सभी निवासियों को इस कार्य में सक्रिय बनाया जाए। किसी बात का श्रेय लेना अपना लक्ष्य नहीं है। श्रेय की अपेक्षा न कर ठोस कार्य करना अपनी वृत्ति है। इस कार्यक्रम के माध्यम से हम समाज के सभी वर्गों,

व्यक्तियों को एक-दूसरे के केवल संपर्क में नहीं लाएंगे अपितु एक-दूसरे का पूरक बनाएंगे। इसी से संघ समाजमय एवं समाज संघमय बनेगा।

- सभी आयु के निरक्षरों को साक्षर बनाना। वृद्ध एवं वृद्धाओं को भी कम-से-कम अपने भगवान का नाम लिखने के लिए प्रवृत्त करना। इससे परिवार में लिखने-पढ़ने का वातावरण बनता है। इससे नन्हे-नन्हे बच्चों में व बालक-बालिकाओं में लिखने-पढ़ने की सहज में ही रुचि बढ़ सकती है।
- घर में प्रौढ़ों व वृद्धों को, सुबोध, मनोरंजक एवं मानवगुण संवर्धक कथा कथन का अभ्यास कराना चाहिए। वे अपने घर व पड़ोसियों के बच्चों को रोज सायंकाल इन कथाओं को रुचिपूर्ण तरीकों से सुनाने का क्रम चला सकते हैं। इससे बच्चों का भविष्य उज्ज्वल होगा तथा प्रौढ़ों के जीवन में भी आवश्यक परिवर्तन की प्रक्रिया प्रारंभ होगी।
- इन्हीं प्रौढ़ों व वृद्धों से चुने हुए नीतिपरक दोहे, चौपाइयां, सुभाषित, प्रातः स्मरण, कविताएं आदि याद कराकर नित्य प्रातः कहने का क्रम प्रारंभ करवाना चाहिए। इससे नई-पीढ़ी को उचित दिशा प्राप्त होगी। धीरे-धीरे परिवार के सभी सदस्य सामूहिक रूप से इसे अपना नियमित कार्यक्रम बनाएंगे तो प्रत्येक परिवार सुसंस्कार केंद्र बनेगा।
- स्वाध्याय की रुचि बढ़ाना। चलते-फिरते पुस्तकालय प्रारंभ करना। इसमें सभी आयु के लोगों के लिए उपयोगी व सामाजिक वृत्ति बढ़ाने व सद्गुण संवर्धन करने में सक्षम व स्वस्थ मनोरंजन करनेवाला साहित्य सम्मिलित करते जाना चाहिए।
- इस साहित्य के आधार पर अपने क्षेत्र में आयु के अनुरूप विभिन्न विचार-गोष्ठियों का क्रम चलाना चाहिए। इससे भविष्य निर्माण का मार्ग सहज में ही प्रशस्त हो सकता है।
- बालक-बालिकाओं की विभिन्न विषयों को लेकर प्रतिस्पर्धा—अंताक्षरी, महापुरुषों के बोल आदि का समय-समय पर आयोजन किया जा सकता है।
- इन कार्यक्रमों में क्षेत्र में रहनेवाले प्रतिष्ठित लोगों का सक्रिय योगदान प्राप्त करने से विभिन्न वर्गों में अनुभव होनेवाली दूरी घटाई जा सकती है।
- क्षेत्र, प्रांत, देश, विदेश की उपयोगी जानकारी देनेवाले, कलाविषयक, प्रकृति परिचायक, वैज्ञानिक तथा मानवगुण प्रदर्शक स्लाइड्स व वी.डी.ओ. दिखाने के कार्यक्रम भी आयोजित करना संभव हो सकता है।
- समय-समय पर प्रामाणिक, सदाचारी एवं निष्पक्ष लोगों के कार्यक्रम आयोजित करना उपयुक्त हो सकता है। समाज में निष्पक्ष लोगों की संख्या व प्रतिष्ठा बढ़ाना सामाजिक सुस्थिति के लिए अनिवार्य है। अन्यथा विभिन्न प्रकार की संकुचितताओं की बाढ़ को रोकना कठिन होगा।
- सामान्य नागरिकों के जीवन में, विशेषतः नई पीढ़ी में आर्थिक आत्मनिर्भरता एवं स्वाभिमानपूर्ण जीवन विकसित करना।

आजादी के लगभग चालीस वर्ष बीतने आ रहे हैं, किंतु लोगों में नौकरी करने की वृत्ति बढ़ती

ही जा रही है। यह स्वावलंबन एवं स्वाभिमान के विपरीत है। इस दिशा को बदले बिना अपना स्वतंत्र बना देश स्वावलंबी नहीं बन पाएगा।

औद्योगिक प्रशिक्षण प्रतिष्ठान से प्रशिक्षित हो या कृषि विश्वविद्यालय से निकले कृषिशास्त्र के स्नातक हों—सबके सब नौकरी पाने के ही अभिलाषी रहते हैं। स्वतंत्र उद्योग व आदर्श खेती के माध्यम से शिक्षा से वंचित या गांव के गरीबों को अपने अर्जित ज्ञान का लाभ पहुंचाने की दिशा में बढ़ने की कल्पना इन तथाकथित सुशिक्षित एवं तकनीकी विद्वानों को छूती तक नहीं। इसके कुछ दुष्परिणाम निकले–

- नौकरी की वृत्तिवाले नौजवानों में काम के प्रति जिम्मेदारी की भावना नहीं पनपती। वह अपना वेतन और भत्ता बढ़ाने में जितना ध्यान लगाता है, उसका शतांश भी अपने प्रतिष्ठान की प्रगति व सफलता में नहीं लगाता। इस प्रकार देश की शिक्षित तथा प्रशिक्षित शक्ति उत्पादन क्षमता बढ़ाने में सहायक नहीं होती।
- देश में शासकीय या अन्य क्षेत्रों में नौकरी–पेशा वर्ग जितना व्यापक व प्रबल बनेगा, उसी मात्रा में कार्यक्षमता व कर्तव्यतत्परता घटेगी। अनैतिकता व भ्रष्टाचार बढ़ेगा। यह अनुभव सिद्ध बात है।
- सबके लिए नौकरी उपलब्ध कराने का अर्थ है तानाशाही को निमंत्रण और लोकतंत्र का विनाश।

इस प्रचलित वृत्ति से नई पीढ़ी को मुक्त कर समय से नई दिशा प्रदान न की गई तो जहां जनसेवा के सरकारी, अर्धसरकारी या निजी कार्य अधिक अस्त–व्यस्त होंगे, वहां बेकाबू हो रही बेकारी की समस्या प्रशासनिक एवं सामाजिक व्यवस्थाओं को ध्वस्त कर देगी।

घाटे की अर्थव्यवस्था को विकास का आधार माना गया है, किंतु उसके कारण तथा संगठित कर्मचारियों के वेतन व भत्ते में सतत वृद्धि के कारण निरंतर बढ़नेवाली महंगाई समाज के अधिकांश परिवारों के लिए असह्य हो रही है। अतः माध्यम एवं निम्न स्तर के परिवारों की आयु बढ़ाने के लिए उपयुक्त कदम उठाने की आवश्यकता है। बढ़ती महंगाई के कारण निश्चित आयवालों, मध्यम श्रेणी के लोगों तथा असंख्य असंगठित श्रमिकों का जीना दूभर हो गया है। उनकी आर्थिक आय बढ़ाने के नए–नए उपयुक्त साधनों का विस्तार न किया गया तो सामाजिक अस्थिरता बढ़ना अनिवार्य है।

इस कार्य में आर्थिक दृष्टि से सफल एवं संपन्न लोगों का योगदान प्राप्त कर धनी एवं निर्धनों में परस्पर–पूरकता का मार्ग प्रशस्त किया जा सकता है। सरकारी सब्सिडी व बैंकों से सुविधाजनक कार्य भी उपलब्ध कराया जा सकता है। आर्थिक संसाधनों का विकास करते समय नई दिशा अपनाना आवश्यक है। आज 'टेक्निकल नो हाऊ' आयात करने का चक्कर तेज होता जा रहा है। व्यावहारिक रूप से देखा जाए तो कोई एक टेक्नोलॉजी विश्व भर में समान रूप से लाभकारी नहीं हो सकती।

स्थानीय आधार पर उपलब्ध कच्चा माल तथा वहां की आबादी की संख्या व उनकी प्रकृति पर आधारित टेक्नोलॉजी विकसित की जानी चाहिए। तभी स्थानीय प्रतिभा का विकास संभव होगा।

इसी से स्थानीय बाजार पनपेगा, वस्तुएं सस्ती होंगी व मिलावट घटने लगेगी। सबको रोजगार संभव होगा। आर्थिक संतुलन बढ़ेगा। नई पीढ़ी को इस दिशा में प्रोत्साहित करने से ही आर्थिक क्षेत्र में नई व उपयुक्त दिशा उभरेगी।

- क्षेत्र के नागरिकों में परस्पर गुणग्राहकता, सद्भाव एवं सामूहिक सहयोग की भावना व्यावहारिक धरातल पर विकसित करना—

वर्तमान काल में आत्मस्तुति एवं परनिंदा का वातावरण दिन-प्रतिदिन बढ़ रहा है। तथाकथित नेतागणों का तो यह स्वभाव बन गया है। आत्मनिरीक्षण इतिहास की बात बन गई है। जीवन की यह दिशा हिंदू धर्म या हिंदू संस्कृति के पूर्णतः प्रतिकूल है।

इस घातक प्रवृत्ति के कारण समाज के घटकों का एक दूसरे के प्रति विश्वास तेजी से घट रहा है। परस्पर सामाजिक सहयोग को पनपने नहीं देता। परस्पर सहयोग के बिना आर्थिक या सांस्कृतिक समृद्धि संपादित नहीं की जा सकती। अतः परस्पर विश्वास अंकुरित करने एवं बढ़ाने के लिए आवश्यक है कि हम परनिंदा एवं आत्मस्तुति का वातावरण घटाने का प्रयास करें। दूसरों में उपलब्ध गुण ग्रहण करने की वृत्ति विकसित करें। तभी परस्पर सद्भाव एवं सहयोग पनप सकेगा। इसी पर समाज का भविष्य निर्भर है। इसके लिए निम्न कार्यक्रम उपयुक्त हो सकते हैं—

- अपने क्षेत्र में जितने भी सामाजिक स्थान, मंदिर, उद्यान, जलाशय, रास्ते, गलियां और नालियां होंगी या अत्यंत विपन्न स्थिति में जीवन काटनेवाले लोगों के आवास होंगे, इन्हें अधिक सुस्थिति में लाने के कार्यक्रम हाथ में लेकर सबके सहयोग से अपने क्षेत्र को स्वच्छ, सुंदर एवं सुखद संभव बनाने की दिशा में लोगों को बढ़ाना चाहिए।
- अपने क्षेत्र में असहाय, पीड़ित और उपेक्षित लोगों का जीवन सुखी बनाने में क्षेत्र के लोगों का सहयोग प्राप्त करना। इससे संवेदनशीलता व्यावहारिक जीवन में प्रतिबिंबित होगी एवं परस्पर सहयोग का जीवन पनप सकेगा।
- क्षेत्र में रहनेवाले नागरिकों में सामाजिक एकता व एकात्मता, आर्थिक संतुलन तथा परस्पर-पूरकता निर्माण करने के लिए आवश्यक विधियों का आविष्कार करना तथा उन्हें कार्यान्वित करना।

अपना समाज विभिन्न स्तरों में बंटा हुआ है। ऊंच और नीच की भावना प्रबल और व्यापक है। महलों एवं गंदी बस्ती में रहनेवाले लोग एक-दूसरे को तुच्छता की नजर से देखते हैं। घर में सफाई करनेवाले, बरतन मांजनेवाले व कपड़े धोनेवाले के कारण घरवालों को सब प्रकार की सुख-सुविधा उपलब्ध होती है, किंतु इन कर्मचारियों के प्रति आत्मीयता देखने को नहीं मिलती। यहां तक कि खाना पकानेवालों के लिए अलग मोटे अनाजों की व्यवस्था देखने को मिलती है। जिनके परिश्रम से हम सुख पाते हैं, उनके बच्चों का अपने बच्चों के समान भविष्य बने, इसकी चिंता करना संपन्न लोगों के स्वभाव में नहीं है। हम अपने स्वयंसेवकों के माध्यम से इस अहिंदू दिशा को बदलें। 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की हिंदू भावना को व्यावहारिकता का रूप देने की दिशा में कदम बढ़ाएं। ऐसे आमोद-प्रमोद या अन्य कार्यक्रम रचें, जिससे हम सब एक, अभिन्न व समान हैं, यह भावना

पनप सके तथा एकता व एकात्मता का व्यावहारिक जीवन खड़ा कर सकें।

- व्यक्तिगत, पारिवारिक व सामूहिक स्वास्थ्य संपादन करना।

जहां दिन-प्रतिदिन अपने नागरिकों की औसत आयु बढ़ रही है, वहां बीमारियों व बीमारों की संख्या में कमी नहीं आ रही है। वह अधिक गति से बढ़ रही है। दवाओं के कारखाने व दुकानें तेजी से बढ़ रही हैं तथा अच्छा लाभ कमा रही हैं। इससे स्पष्ट है कि जन स्वास्थ्य की स्थिति ठीक नहीं है।

अपना समाज निरोग रहे, यह अपने समाज की पुरातनतम आकांक्षा है-सर्वे सन्तु निरामया। उसे साकार करने का सुनियोजित प्रयास न किया गया तो वह आकांक्षा केवल कहावत मात्र बनकर कुछ लोगों को अपने भाषणों द्वारा केवल विद्वत्ता बघारने के काम आएगी।

नई पीढ़ी में व्यक्तिगत स्वास्थ्य के लिए हानिकर आदतें बढ़ती जा रही हैं। पारिवारिक आदतें भी स्वास्थ्यवर्धक नहीं हैं तथा सामूहिक स्वास्थ्य का ध्यान रखना तो संभवतः अपने स्वभाव में ही नहीं है। इस गलत व हानिकर वृत्ति से मुक्ति पाना आवश्यक है। अतः—

- अपने क्षेत्र में रहनेवाली सभी गर्भवती महिलाओं के स्वास्थ्य की नियमित जांच एवं उपचार की व्यवस्था करना।
- गर्भवती महिलाओं को नितांत आवश्यक पौष्टिक खाद्य उपलब्ध हो, इसकी व्यवस्था करना। अन्यथा नई पीढ़ी समाज के लिए असह्य बोझ बनेगी।
- नवजात शिशुओं का रोग-निरोधक उपचार समय से करवाना।
- शिशुओं का विकास आयु के अनुसार हो, इसका ध्यान रखना।
- परिवार में शिशु, बालक, किशोर, युवक, प्रौढ़ तथा वृद्धों की आदतें स्वास्थ्यकर बनें, इसके लिए उपयुक्त वातावरण बनाए रखनेवाले कार्यक्रम आयोजित करना।
- अपने क्षेत्र की नालियां और रास्ते, गलियां और गड्ढे गंदे न रहें, उनकी नियमित सफाई होती रहे, इसके लिए सफाई मजदूरों को साथ में लेकर साप्ताहिक कार्यक्रम आयोजित करना।
- घर का कूड़ा और कचरा या गंदा पानी सार्वजनिक स्थान को गंदा व विषैला न बनाए, इसके लिए सामूहिक प्रयास करवाना।
- शुद्ध पेयजल की उपलब्धि सबके लिए सुलभ हो, इसकी समुचित व्यवस्था के लिए आवश्यक प्रयास करना।
- सस्ते किंतु पौष्टिक पदार्थ क्या-क्या हो सकते हैं तथा इनका उपयोग किस रूप में करना अधिक स्वास्थ्यकर हो सकता है, इसकी जानकारी से अपने क्षेत्र का कोई परिवार वंचित न रहे, इसका प्रयास करना।
- व्यक्ति को रोग का शिकार न होना पड़े, इसके लिए योगासन, व्यायाम तथा विभिन्न प्रकार के खेल आयु के अनुसार लोकप्रिय बनाना।
- सामूहिक आमोद-प्रमोद एवं स्वस्थ मनोरंजन के कार्यक्रम आयोजित करना।
- असामाजिक, विषमतामूलक एवं कालबाह्य परंपराओं के स्थान पर समयानुकूल, समतामूलक व सुसंस्कारक्षम नूतन परंपराओं को प्रचलित करना।

विराट् पुरुष

अपने समाज में आधुनिक काल में भी असामाजिक, कालबाह्य एवं घातक परंपराएं चल रही है। केवल कानूनों के द्वारा उनमें परिवर्तन नहीं हो सकता। इस सामयिक कार्य के लिए सरकार या राजनीतिक मुखापेक्षी बनना न आवश्यक है, न उचित। बाल विवाह प्रथा, दहेज प्रथा, परदा प्रथा, छुआछूत प्रथा आदि अनेक कुप्रथाएं चलती चली आ रही हैं।

हम अपने स्वयंसेवकों के माध्यम से प्रथमतः उनके परिवारों से व आगे बढ़कर नातेदारों व रिश्तेदारों के यहां से, परिचित एवं संबंधित लोगों के यहां से इन गलत प्रथाओं को समाप्त करने की दिशा में कारगर कदम उठाएं।

अपने संघ स्वयंसेवकों के माध्यम से हम देश भर में फैले हुए हैं। हमने निश्चय किया तो हम देखते-देखते अपने समाज की पुनर्रचना व राष्ट्र नवनिर्माण कर सकते हैं। हर एक गृहस्थ व विद्यार्थी स्वयंसेवक अपने परिवार के सभी सदस्यों को सहयोगी बनाकर उपर्युक्त कार्य अपनी क्षमता के अनुसार कर सकता है। अपनी लक्ष्यसिद्धि के काम में संपूर्ण परिवार संलग्न होने का समाधान पा सकता है।

उपर्युक्त सब कार्य करने की क्षमता अपनी शाखाओं में है या नहीं, यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है। हमने अपनी प्रार्थना में जिन लक्ष्यों का उल्लेख किया है, उन्हें प्राप्त करना हमारा धर्म है। उपर्युक्त कार्य शाखाओं के क्षेत्र में संपन्न करने का निश्चय किया गया तो इन कार्यक्रमों को सफल करने की क्षमता अपनी इन्हीं शाखाओं में पनपने लगेगी। नए-नए सक्षम कार्यकर्ता निर्माण होंगे तथा हजारों की संख्या में निष्क्रिय बने कार्यकर्ताओं में से अनेक लोग इस कार्य के लिए सोत्साह आगे आएंगे। अन्यथा शाखाओं की स्थिति अधिक दयनीय होती जाएगी, जो हमारे लक्ष्यसिद्धि का एकमेव माध्यम है।

8

22 जुलाई, 1986

मा. श्री रज्जू भैया,

आपके संपर्क में आया हूं तब से आज तक आपके मन में मेरे प्रति किसी भी प्रकार की गलतफहमी प्रवेश न कर सकी। आपकी सद्‌भावनाओं एवं स्नेह का मैं सदैव पात्र रहा हूं। उसी पूंजी के बल पर मैं अधिक स्पष्ट शब्दों में अपना मानस व्यक्त कर रहा हूं।

संघ कार्य ही अपना जीवन व्रत है। अतः उस संबंध में मस्तिष्क में सतत चिंतन चलना स्वाभाविक है। अभी इसी माह भोपाल में केंद्रीय कार्यकारी मंडल की बैठक में इसी विषय को लेकर आपसे सामूहिक चर्चा कराई थी। उस चर्चा या उसके समापन में हम लोग किसी निष्कर्ष पर पहुंच नहीं पाए। इतने कम समय में वह अपेक्षित भी नहीं था, किंतु सबके चिंतन की दिशा का

8 *संघ शिक्षा वर्ग के प्रशिक्षण में परिवर्तन को रेखांकित करता पत्र।*

अनुमान अवश्य लगा। उसी पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करने की आवश्यकता अनुभव कर रहा हूं। कारण माननीय श्री शेषाद्रिजी के पास लिखित पहुंचे सुझावों पर आप अधिकारीगण विचार करने जा रहे हैं।

नित्यप्रति शाखा लगाना एवं प्रार्थना करना अपना नियमित कार्य है। प्रार्थना के द्वारा हम अपने साध्य का रोज ध्यान करते हैं। प्रार्थना में व्यक्त अपने साध्य की सिद्धि का साधन हैं अपनी शाखाएं। हम सब स्वयंसेवक प्रार्थना में व्यक्त साध्य के साधक हैं।

साधकों को शीघ्रातिशीघ्र साध्य के निकट पहुंचाते हुए साध्य की सिद्धि करा देना साधन का काम है। साधक अपनी ध्येय सिद्धि के लिए स्वीकृत साधन के सहारे अपनी साधना में लगा रहता है। साधना में हो रही प्रगति के अनुरूप अर्थात् साधना के बढ़ते स्तर के अनुरूप साधन में परिवर्तन करना आवश्यकता रहता है। अन्यथा साध्य की सिद्धि में अनावश्यक विलंब होता है। साधना के काल में साधक का संपूर्ण ध्यान साध्य पर केंद्रित रहना चाहिए। अन्यथा साधक का स्वीकृत साधन में ही लिप्त हो जाने की संभावना रहती है। फलस्वरूप साधक की नजर से साध्य ओझल हो सकता है। मुझे लगता है, अपनी अवस्था कुछ ऐसी ही है।

हम नित्य अपनी प्रार्थना अवश्य करते हैं, किंतु आराधना हो रही है साधन की—साध्य की नहीं। हम इस बात का विचार तक नहीं करते कि हम अपने साध्य की सिद्धि की दिशा में प्रगति कर भी रहे हैं या नहीं। हम अपना संपूर्ण ध्यान अपने साधन पर ही केंद्रित किए हुए हैं। हर बैठक व कार्यक्रम में हम चिंता करते हैं केवल शाखाओं की संख्या व शाखाओं की उपस्थिति की तथा इस वर्ष कितनी अधिक गुरुदक्षिणा हुई और कितने स्वयंसेवकों ने की, इस बात की। अपनी लक्ष्यसिद्धि का हमने यह ही मापदंड बना लिया है और साध्य अपेक्षित रह रहा है।

संघ शिक्षा वर्गों में प्रार्थना पर एक बौद्धिक वर्ग रखकर प्रार्थना के अर्थ से स्वयंसेवकों को अवगत कराने की केवल औपचारिकता मात्र निभाई जाती है। उसमें व्यक्त साध्य को किस प्रकार सिद्ध करना है, उसे साकार करने में अपनी गति कैसे बढ़ानी है, उसके लिए हम साधकों को अर्थात् स्वयंसेवकों को अपने व्यक्तिगत तथा पारिवारिक जीवन में क्या-क्या परिवर्तन करने हैं, किस प्रकार अपने क्षेत्र में रह रहे या पड़ोस में रह रहे नागरिकों के दृष्टिकोण व जीवन में परिवर्तन लाना है तथा उसके लिए क्या करना आवश्यक है, इसकी कल्पना देने की हम चिंता तक नहीं करते। संघ निर्माता ने संघ तथा स्वयंसेवकों को तात्त्विक भूमिका निभाने का दायित्व नहीं सौंपा था। सर्वसाधारण नागरिकों के सम्मुख व्यावहारिक अर्थात् अनुकरणीय आदर्श प्रस्तुत करने की हम पर जिम्मेदारी सौंपी थी।

क्या हम अपनी शाखा में आनेवाले स्वयंसेवकों के जीवन में सुशीलता कितनी बढ़ रही है, उसकी चिंता करते हैं? अपने स्वयंसेवकों के संपर्क में आनेवाले नागरिकों के जीवन में किस मात्रा में नैतिकता बढ़ रही है, उस पर क्या कभी सोचते हैं? शाखा के क्षेत्र से या स्वयंसेवकों के पड़ोसियों के जीवन से अज्ञान, अविध तथा कालबाह्य रूढ़ियां मिटाने की दिशा में अपने स्वयंसेवक किस गति से काम कर रहे हैं, इसका विचार तक हमें नहीं छूता।

विराट् पुरुष

मैं पत्र को अनावश्यक लंबा खींचना नहीं चाहता, किंतु प्रार्थना में व्यक्त सुशीलता एवं राष्ट्र को परम वैभव प्राप्त करा देने का संकल्प नित्य दोहराना मात्र साधक का काम नहीं है। उसका प्रत्यक्ष राष्ट्र जीवन में साक्षात्कार कराना हमारा कर्तव्य है। उसके लिए शाखा साधन मात्र है। शाखा हमारा साध्य नहीं है। अपने साध्य को जीवन में उतारने के लिए शाखा के रूप में, शाखा के कार्यक्रमों में, संघ शिक्षा वर्ग के प्रशिक्षण में आवश्यक परिवर्तन करने की आवश्यकता है। अन्यथा हम भी शाखा की रूढ़ि मात्र निभाते रह जाएंगे। राष्ट्र को परम वैभव प्राप्त करा देना केवल नारा मात्र रह जाएगा। हम अच्छे से अच्छे गीत बनाते हैं। उनका सामूहिक गान कराते हैं, किंतु तदनुरूप प्रत्यक्ष कुछ नहीं करते। परिणामस्वरूप स्वयंसेवकों में हिप्पोक्रैसी पनपने लगती हैं। कथनी व करनी में कोई मेल नहीं रहेगा।

साधक की नजर से साध्य ओझल होने तथा व्यवहार में साधन ही साध्य बन जाने पर साधन का चैतन्य शून्य बन जाना स्वाभाविक है। मनोरंजन के वर्तमान साधनों को, टेलीविजन और वीडियो टेप्स को दोष देना वस्तुस्थिति के आकलन का द्योतक नहीं है। अनेक प्रकार के प्रभावी आकर्षण उन दिनों में भी थे, जिन दिनों में शाखाओं में स्वयंसेवकों की संख्या बहुत अधिक हुआ करती थी, मैं स्वयं उन दिनों अपने विद्यालय में जनरल कैप्टन था। उन दिनों छपनेवाले लेख पढ़ने का दीवाना था। शाखा में चलनेवाला सैनिक संचालन आजादी की लड़ाई के लिए बढ़ रहे कदम के गौरव की अनुभूति कराता था। आजादी के लिए कुछ कर रहा हूँ, यह समाधान लेखों में नहीं मिलता था। अतः अन्य आकर्षणों को लात मारकर शाखा में सम्मिलित होने की सहज में ही प्रेरणा मिलती थी। शाखा सीधे स्वातंत्र्य संग्राम में जोड़नेवाली कड़ी अनुभव होती थी। उस समय शाखा साध्य नहीं, उपयुक्त साधन अनुभव होता था।

किंतु आजादी मिलने के बाद सामाजिक जीवन को उन्नत करने, अनैतिकता को मिटाने, समाज में परस्पर विश्वास बढ़ाने, समाज में सहयोगी जीवन खड़ा करने, कालबाह्य रूढ़ियों को मिटाने, समयानुकूल नूतन परंपराएं कायम करने, सामाजिक एवं आर्थिक विषमताएं मिटाने एवं सामाजिक नवरचना खड़ी करने का शाखा माध्यम है, इसकी किसी को भी अनुभूति नहीं होती। शाखा में साहस का सर्वथा अभाव दिखाई देता है। हम यह कर पाएंगे या नहीं, कुछ कर दिखाने की शाखाओं में क्षमता है या नहीं, इसी उधेड़बुन के वातावरण से शाखा का आकर्षण बढ़ नहीं सकता।

स्वतंत्र भारत में युवा-शक्ति को राष्ट्र नवनिर्माण में जुटाने के काम का माध्यम शाखा बन सकती थी। प्रार्थना में व्यक्त साध्य सामाजिक जीवन में उतारने का कार्यक्रम शाखाओं द्वारा चलाया जाता तो संघ कार्य देश की युवा-शक्ति का आकर्षण व सर्वसाधारण जनता की आकांक्षाओं का केंद्र बनता। अब भी बहुत विलंब नहीं हुआ है। हम शाखा को साध्य नहीं, प्रार्थना में व्यक्त आदर्श का साक्षात्कार कराने का साधन बनाएं, यह आवश्यक है।

मैं यह इस कारण लिख रहा हूं कि अपनी शाखाओं ने कालबाह्य रूढ़ियों का रूप धारण कर लिया है। ये कार्यक्रम स्वयंसेवकों के व्यक्तिगत तथा पारिवारिक जीवन में सामाजिकता लाने में

असमर्थ सिद्ध हो रहे हैं। वे समाज में परिवर्तन नहीं ला पा रहे हैं। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी हम स्वतंत्रता प्राप्ति के काल के लिए उपयुक्त कार्यक्रमों में ही लगे हुए हैं। आवश्यकता है स्वतंत्र भारत का नव निर्माण करनेवाले कार्यक्रमों को अपनाने की। आप सब अधिकारीगण मिलकर संघ की कार्यशैली पर विचार करने जा रहे हैं। इसी कारण मैं उपयुक्त मानस स्पष्ट शब्दों में व्यक्त कर रहा हूं।

9

20 अक्तूबर, 1987

माननीय श्री शेषाद्रिजी,

देश भर के अपने प्रमुख कार्यकर्ताओं का नागपुर सम्मेलन सोत्साह संपन्न हुआ। लोकतंत्र के माने हुए लोगों को अपने सम्मेलन के स्वस्थ वातावरण में उन्मुक्त चिंतन सुनने व देखने को मिलते तो वे स्वयं को संभवतः स्वप्नलोक में होने का अनुभव करते।

इस सम्मेलन का बहुत लाभ होगा। अपने कार्यकर्ताओं में सर्वांगीण चिंतन की प्रक्रिया गतिमान होगी। फलस्वरूप अपना संगठन अधिक व्यापक, ठोस व परिणामजनक बनेगा। विस्तृत चर्चा से स्पष्ट हुआ कि अपने लोगों में आंदोलनात्मक कार्यक्रमों के प्रति अधिक रुचि एवं उत्साह है। यह बात सुखद होते हुए भी ध्यान रखना होगा कि हर एक बात एक सीमा तक ही लाभप्रद होती है। अन्यथा मूल बात दृष्टि पथ से ओझल होने की संभावना बढ़ती है।

संपूर्ण विश्व में काल की गति तथा वैज्ञानिकता की कसौटियों पर एकमेव हिंदू दर्शन ही निरंतर खरा उतरा है। आज के दिग्भ्रमित विश्व में संकटग्रस्त मानवीयता का सहारा बनने की क्षमता भी हिंदू जीवन दर्शन में ही है। इसकी अनुभूति आधुनिक काल के विचारक भी कर रहे हैं। इसके बावजूद अपनी ही जन्मभूमि में इस दर्शन के उत्तराधिकारी ईसाई व इसलाम जैसे अवैज्ञानिक मजहबों से आतंकित हैं। यह कम आश्चर्य की बात नहीं है। इसका कारण ढूंढ़ने के लिए हमें अंतर्मुखी होकर सोचना होगा।

सदियों से अपने सर्वांगीण व सर्वकालीन जीवन दर्शन के लिए अपने समाज के घटकों के व्यक्तिगत, पारिवारिक व सामाजिक जीवन के दैनंदिन व्यवहार में कोई स्थान नहीं रहा। सुविधा प्रेमीजनों ने यह वातावरण निर्माण किया कि हिंदू जीवन दर्शन आदर्श का प्रतीक है—नित्याचरण का विषय नहीं। परिणामस्वरूप हिंदुत्वाभिमानी भी इसे प्रत्यक्ष व्यावहारिक जीवन में उतारने से कतराते आए हैं। कर्मकांड को ही हिंदुत्व मानकर काम चलाने की प्रथा चली आ रही है।

'आत्मवत् सर्वभूतेषु' व 'सर्वेपि सुखिनः सन्तु' जैसे व्यावहारिक पहलुओं के साधारणतः हिंदुत्वाभिमानियों के भी जीवन में दर्शन नहीं होते। इन्हें प्रत्यक्ष जीवन में उतारने की सदियों

9 *हिंदू दर्शन को प्रत्यक्ष जीवन में उतारने की आवश्यकता। यह दायित्व संघ ही निभा सकता है। श्री होंगसन्द्र वेंकटरमैया शेषाद्रि उस समय संघ के सरकार्यवाह थे।*

से लगातार उपेक्षा का ही परिणाम है कि अपना समाज ऊंच-नीच, छूत-अछूत आदि विघटनकारी रूढ़ियों से ग्रस्त है। केवल प्रचार, उपदेश व आंदोलनों के सहारे इनका उन्मूलन नहीं हो पाता, यह सौ से अधिक सालों का अनुभव है।

अपने समाज के ही मूर्धन्य लोगों ने हिंदू जीवन दर्शन को शास्त्रार्थ, भाष्यों, प्रवचनों, विद्वत्ता बघारने, प्रभावी भाषणों एवं पर-उपदेशों का माध्यम बनाकर संतोष कर लिया है। इसी कारण उसे प्रत्यक्ष जीवन में उतारने का किसी के द्वारा प्रयास न हुआ है, न हो रहा है। परिणामस्वरूप सही अर्थ में हिंदू स्वयं हिंदुत्व से वंचित है। ऐसी स्थिति में हिंदू संस्कृति व हिंदू समाज विदेशी ईसाई मिशनों से व इसलामी मजहब से आतंकित न हो तो आश्चर्य है।

ऊपरी व तात्कालिक उपायों का अवलंबन अत्यावश्यक होता है। इसमें संदेह नहीं है। किंतु हिंदू जीवन दर्शन का प्राण अर्थात् उसका आचरण ही हमारे व्यक्तिगत, पारिवारिक व सामाजिक जीवन से नदारद हो गया तो हिंदू संस्कृति व हिंदू समाज के रक्षण का अर्थ क्या होगा?

राष्ट्र जीवन में आंदोलनों व अभियानों की महत्ता नकारी नहीं जा सकती। उनसे उत्पन्न लहर का लाभ उठाना भी उचित हो सकता है, किंतु यह भी ध्यान में रखना अनिवार्य है कि इन पर राष्ट्र जीवन का भव्य मंदिर खड़ा नहीं किया जा सकता। इस संबंध में इस सम्मेलन में विस्तृत चर्चा होगी, यह अपेक्षा थी। अन्यथा जो परिणाम होते हैं, उस ओर इसी सम्मेलन में पूज्य सरसंघचालकजी को इशारा करना पड़ा। उन्होंने असंदिग्ध शब्दों में कहा कि विद्यार्थी परिषद्, मजदूर संघ व भा.ज.पा. देश में प्रचलित कल्चर के ही अनुगामी हैं।

संघ के नाते हम गत 62 वर्षों से अखंड रूप से कार्यरत हैं। लाखों स्वयंसेवकों के माध्यम से उनके परिवार संघ के संपर्क में है। हम चाहते तो साधारणतः अधिकांश स्वयंसेवकों के परिवार, हिंदू जीवन दर्शन को दैनंदिन जीवन में उतारने की दृष्टि से अपनी प्रयोगशालाओं के रूप में विकसित हो सकते थे। इसी एक काम से हिंदू समाज में देशव्यापी स्तर पर गुणात्मक परिवर्तन अनुभव करने को मिल पाता। अभी भी इस दिशा में बढ़ा जा सकता है। मैं अपेक्षा किए हुए था कि इस विषय पर भी अपने इस सम्मेलन में चर्चा होगी।

संघ अपने प्रारंभिक काल से ही समाज के सभी अंगों को अभिन्न मानकर कार्यरत है। संभवतः 1934 में वर्धा के संघ शीत शिविर में गांधीजी आए थे। तब भी उन्हें सभी स्वयंसेवकों के साथ समान रूप से हरिजन बंधुओं को देख आश्चर्य व आनंद हुआ था। अपने इस पांच दिनों के सम्मेलन में देश भर से चुने हुए 180 प्रमुख कार्यकर्ता उपस्थित रहे। इस स्तर में हरिजन बंधु कितने रहे? हम लोग कौन किस जाति के हैं, इसका विचार नहीं करते। करना भी नहीं चाहिए, किंतु हमारी भावनाएं व्यावहारिक जीवन में किस मात्रा में प्रतिबिंबित हो रही हैं, इसका ध्यान रखना तो आवश्यक होगा ही। अन्यथा हम काम तो करते रहेंगे किंतु लक्ष्यसिद्धि के कितने निकट पहुंच पाए हैं, यह समझना कठिन होगा।

देश की वर्तमान नाजुक परिस्थिति में संघ ही एक देशव्यापी व स्वस्थ संगठन है। लोकतंत्र की दलीय शासन पद्धति के कारण दलीय वातावरण प्रबल है। उसी कारण बिखर रहा समाज व बंट रहा देश को एकसूत्र में बांधे रखना अन्य किसी के लिए कठिन है और अन्य किसी को इसकी आंतरिक चुभन है ऐसा दिखाई भी नहीं देता। संघ ही एक ऐसी शक्ति है जिसकी छवि दल निरपेक्ष—सत्तानिर्लिप्त व सर्वसंग्राहक रूप में उभर सकती है। अतः संघ की इस छवि को किस प्रकार अधिक असंदिग्ध, प्रभावी व परिणामजनक बनाया जाए, इस विषय को अधिक महत्त्व देकर इस दिशा में मार्गदर्शन प्राप्त होगा, ऐसी इस सम्मेलन से अपेक्षा रही।

पंजाब में संघ को कार्य करते हुए पचास साल हो चुके हैं। देश विभाजन के काल की विषम परिस्थिति में पंजाब में संघ स्वयंसेवकों ने सर्वसाधारण हिंदुओं को, जिनमें काफी संख्या में सिख बंधू भी रहे, बचाने में भारतीय सेना से कम साहस एवं शौर्य नहीं दिखाया था। पंजाब में हमारा इतना प्रबल काम था, इसके बावजूद पंजाब में हिंदू-सिख समस्या इतनी उग्र व बेकाबू हो रही है कि संघ के नाते हम प्रभावहीन बन गए हैं। ऐसा क्यों हुआ, इस पर भी इस सम्मेलन में चर्चा होगी, ऐसा लगता रहा।

किंतु बनी बनाई कार्यक्रमों की चौखट में ऐसे अनेक विषयों पर विचार हो पाना संभव नहीं हुआ। समाधान इसी बात का है कि खुले दिल से विचार-विनिमय की प्रक्रिया प्रारंभ हुई है। फलस्वरूप इन विषयों पर भी समय रहते विचार होकर उपयुक्त निर्णय लिए जाएंगे, ऐसा विश्वास बढ़ा है।

एक स्वयंसेवक के नाते मस्तिष्क में विचार उठते ही रहते रहे, किंतु 1980 से अपने विचारों को लिपिबद्ध कर सर्वोच्च अधिकारियों की सेवा में प्रस्तुत करता आ रहा हूं। उन्हीं में से कुछ की प्रतियां आप के अवलोकन के लिए इस पत्र के साथ प्रस्तुत कर रहा हूं। आप से सविनय अनुरोध है कि आप उन्हें समय निकालकर पढ़ें। पढ़ने के बाद मुझे बुलाकर बातचीत करने का अवसर प्रदान करने की कृपा करें।

10

24 फरवरी, 1989

माननीय श्री शेषाद्रिजी,

वर्तमान परिस्थिति में राष्ट्र के लिए सर्वमान्य नेतृत्व तथा शक्ति की नितांत आवश्यकता है। इस आवश्यकता की अनुभूति दिन-प्रतिदिन अधिकाधिक तीव्र हो रही है। दलीय दिशा ऐसी शक्ति की सिद्धि नहीं कर सकती। वह सर्वमान्यता प्राप्ति के प्रतिकूल है। संघ का जन्म राष्ट्र-शक्ति के रूप में उभरकर हर परिस्थिति में परिणामकारी सिद्ध होने के लिए हुआ है। आप संघ परिवार के प्रमुख अधिकारी हैं। परिवार के एक सामान्य घटक के नाते अपने मन की अनुभूति अधिकारी की सेवा में प्रस्तुत करना अपना कर्तव्य मानकर उपर्युक्त विनम्र निवेदन है।

10 *संघ शक्ति राष्ट्र की दिशा बन सकती है।*

11

24 मई, 1989

माननीय श्री शेषाद्रिजी,

कल सूचना मिली कि सेवा विभाग की बैठक भोपाल में न होकर नागपुर में होगी। राजकोट में हुई प्रतिनिधि सभा ने सामाजिक परिवर्तन का प्रस्ताव पारित किया था। तदनुसार निश्चित कार्यक्रम बनाकर हमें उस दिशा में गतिशील होना होगा।

अपना समाज सनातन कहलाता है। यह धारणा बहुत अर्थपूर्ण है। अपने स्थायी जीवन-मूल्यों को कायम रखते हुए सामाजिक जीवन में युगानुकूल परिवर्तन करने की परंपरा अपने समाज की विशेषता रही है। यह गतिशीलता ही अपने सनातनत्व का मर्म है।

गत कुछ शताब्दियों में मानव जीवन की साधन सामग्री में अभूतपूर्व परिवर्तन हुए हैं। यह क्रम सतत बढ़ता जा रहा है। इस अवधि में हमारी सामाजिक समाज परिवर्तन की प्रक्रिया लगभग अवरुद्ध रही है, किंतु नूतन साधन सामग्री का उपयोग सहज रूप में बढ़ रहा है। परिणामतः अपना समाज अपने जीवन-मूल्यों की उपेक्षा करते हुए भोग प्रवण सभ्यता के प्रवाह में प्रवाह पतित के रूप में बह रहा है। इस पृष्ठभूमि में अपना राजकोट में पारित प्रस्ताव असाधारण महत्त्व रखता है, किंतु उसके कार्यान्वयन की आवश्यक व्यवस्था कर उस दिशा में हम गतिशील न हुए तो वह प्रस्ताव निरर्थक सिद्ध होगा।

हिंदू समाज में गृहस्थाश्रम की बहुत बड़ी महत्ता रही है। वस्तुतः गृहस्थाश्रम ही एक ऐसी संस्था है, जो सनातनत्व का दायित्व वहन करती रही। संभवतः इसी कारण कुटुंब संस्था को सामाजिक जीवन की आधारभूत इकाई माना गया था। काल के प्रवाह में पारिवारिक जीवन की यह मूलभूत भावना लुप्त हो गई। पारिवारिक जीवन में सामाजिक दायित्व बोध की परंपरा ही मिट गई। फलस्वरूप व्यावहारिक जीवन में व्यक्ति अपने पारिवारिक एवं परिवार अपनी संतान तक सीमित हो गया है। इसके दुष्परिणाम जीवन के हर क्षेत्र में देखने को मिल रहे हैं। स्थिति यहां तक पहुंची है कि जन्म देनेवाले माता-पिताओं के प्रति कृतज्ञता की भावना तेजी से घट रही है। यदि हमेशा ऐसा ही चलता रहा तो अपना सनातनत्व खतरे में पड़े बिना नहीं रह सकता।

संपूर्ण संसार में हिंदू ही एक ऐसा समाज रहा है, जिसने गर्भकालीन संस्कारों की भी महत्ता अनुभव की थी। गर्भकाल, शैशवकाल एवं बाल्यकाल में ही मानव के व्यक्तित्व की नींव पड़ती है। इसी काल में उसकी प्रवृत्ति दृष्टमूल होती है। अतः सामाजिक परिवर्तन की प्राथमिक आवश्यकता है परिवारों को समाज की आधारभूत इकाइयों के रूप में पुनर्प्रतिष्ठित करने की। अन्यथा न सामाजिक परिवर्तन संभव होगा, न सांस्कृतिक, आर्थिक तथा राजनैतिक जीवन ही सुधरेगा।

11 *पारिवारिक जीवन में सामाजिक दायित्व-बोध के प्रति आग्रह।*

12

04 जुलाई, 1989

माननीय श्री शेषाद्रिजी,

आपके आदेश के अनुसार नागपुर बैठक में विचार करने के लिए कुछ बिंदु प्रस्तुत कर रहा हूं—

- वस्तुत: वह ही समाज सुसंगठित, स्वस्थ एवं उन्नतशील माना जा सकता है, जिसमें व्यक्ति तथा समाज के दैनंदिन जीवन में परस्पर-पूरकता प्रतिबिंबित होती है।
- इस परस्पर-पूरकता के विकास का सहज एवं स्वाभाविक माध्यम है—परिवार।
- परिवार संस्था को समाज की आधारभूत इकाई मानने का यह ही मर्म है। व्यक्ति परिवार में जन्म पाता है। उसी में पलता और बड़ा होता है। परिवार में उपलब्ध वातावरण के अनुसार उसकी वृत्ति बाल्यकाल समाप्ति के पूर्व ही दृढ़मूल होती है। अत: उसके स्वभाव में परिवार के माध्यम से ही समाज के प्रति पूरकता की भावना विकास पा सकती है। अन्य सामाजिक या सांस्कृतिक संस्थाएं इस कार्य में सहायक तो बन सकती हैं, किंतु वे परिवार का स्थान नहीं ले सकतीं।
- सदियों से परिवार संस्था के इस वैशिष्ट्य की उपेक्षा हो रही है। सामाजिक जीवन की दुर्दशा का यह सबसे बड़ा कारण है। जब तक परिवार संस्था को समाज की आधारभूत इकाई के रूप में पुनर्प्रतिष्ठित नहीं किया जाएगा, समाज जीवन सुसंगठित एवं स्वस्थ नहीं हो पाएगा।
- उपर्युक्त कार्य को संपन्न करने के लिए माता-पिताओं का योगदान नितांत आवश्यक है। उसमें भी मां की भूमिका बहुत महत्त्व रखती है। वह ही व्यक्ति को नौ मास अपने गर्भ में पालती है। इस काल में मां की मानसिकता का गर्भ स्थित शिशु पर परिणाम होता है। आधुनिक मनोवैज्ञानिक भी मानने लगे हैं कि व्यक्ति का गर्भकाल संस्कारों की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होता है।
- युगानुकूल (परंपरागत स्थायी जीवन-मूल्यों को कायम रखते हुए) सामाजिक पुनर्रचना के लिए परिवार संस्था को माध्यम बनाए बिना समाज परिवर्तन संभव नहीं होगा।
- इस कार्य को संपन्न करना संघ के लिए सहज संभव है। कारण, संघ के निष्ठावान स्वयंसेवक लाखों की संख्या में देश और विदेशों में विराजमान हैं।
- अल्पसंख्यक प्रचारकों के अतिरिक्त स्वयंसेवकों की विशाल संख्या पारिवारिक जीवन बिता रही है।
- उनके परिवारों में पुत्र एवं कन्या रत्न जन्म पा रहे हैं। यह क्रम सतत चलनेवाला है। नई

12 *परिवार संस्था की पुनर्प्रतिष्ठा पर बल।*

संतान पर गर्भकाल से ही क्या और किस प्रकार संस्कार किए जाने चाहिए, इसकी वैज्ञानिक विधियों का आविष्कार करने की दिशा में इन परिवारों को प्रेरित करना संभव हो सकता है। इसके लिए कार्यक्रम और आवश्यक साहित्य तैयार करना होगा।

- व्यक्ति एवं समाज का जीवन एकात्म है। व्यक्ति का शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक एवं आत्मिक विकास साथ-साथ होना आवश्यक है। इसी से संतुलित व कर्तृत्वशाली व्यक्तित्व विकसित हो सकते हैं। जिस प्रकार उपयुक्त चारों पहलू व्यक्ति के जीवन के अभिन्न अंग हैं, उसी प्रकार समाज के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा आध्यात्मिक अंग हैं। उन चारों का एक साथ समसमान व परस्पर-पूरक विकास की व्यवस्था करना आवश्यक है।
- उपर्युक्त दृष्टि से हर परिवार का क्या दायित्व है इसकी ठीक-ठीक जानकारी हर मां-बाप को तथा बननेवाले मां-बाप को प्रदान करने की व्यवस्था करनी होगी। तभी वर्तमान पीढ़ी में अपेक्षित परिवर्तन तथा आगामी पीढ़ी के लिए सामाजिक संस्कारों की संभावना होगी।

असंख्य परिवारों का संचालन करनेवाले सुशिक्षित या अशिक्षित माता-पिताओं को इस दायित्व की तनिक भी कल्पना नहीं है। कारण, समाज के इस सर्वाधिक महत्त्व के पहलू की ओर किसी सामाजिक या सांस्कृतिक संगठन का ध्यान जा नहीं रहा है।

सामाजिक परिवर्तन का दायित्व निभाने की सिद्धता करनेवालों को इस पहलू को अपनाकर कार्यरत होना अनिवार्य है।

हम लोग हर प्रांत में इस विधि के विकास केंद्र प्रारंभ कर सकते हैं। इसी से पारिवारिक जीवन में सामाजिक दृष्टिकोण का बीजारोपण संभव होगा तथा अपनी अपेक्षा के अनुसार सामाजिक परिवर्तन का शुभारंभ हो पाएगा।

13

01 जनवरी, 1990

माननीय श्री रज्जू भैया,

दिन प्रतिदिन बिगड़ रही परिस्थिति से मन बेचैन हो रहा था। सहज मन में आया कि अपने सरसंघचालकों के भाषणों को पढ़ूं। उससे संभवत: मन को शांति मिलेगी और वर्तमान परिस्थिति में मार्गदर्शन भी प्राप्त हो सकेगा।

उन भाषणों को पढ़कर केवल मन की बेचैनी ही दूर नहीं हुई अपितु वर्तमान समस्याओं के निराकरण का कारगर उपाय भी समझ में आया।

अपने परमपूज्य सरसंघसंचालकों के मार्गदर्शन के अनुसार हमारी हर एक शाखा एवं

13 *संघ की भावना के अनुरूप अखिल भारतीय दृष्टि का प्रतिपादन।*

स्वयंसेवक तत्परता के साथ एकाग्र होकर कार्यरत हुआ तो समाज में व्याप्त निराशा दूर हो सकती है, वर्तमान समस्याओं से मुक्ति पाने का समाज में विश्वास जाग सकता है, देश की युवा-शक्ति रचनात्मक कार्यों में जुट सकती है तथा राष्ट्र उज्ज्वल भविष्य की ओर बढ़ सकता है, ऐसा मुझे लगा। अतः उन विचारों को लिपिबद्ध कर प्रस्तुत कर रहा हूं आपके मार्गदर्शन की अपेक्षा से।

स्वाधीनता प्राप्ति के चौंतीस वर्ष पश्चात् राष्ट्र जीवन का जो दुर्दशापूर्ण चित्र दिखाई दे रहा है, उसे देखकर कौन विचारशील स्वयंसेवक चिंतित एवं व्यथित नहीं होगा? जिन सीढ़ियों पर चढ़कर राष्ट्र को परम वैभव के शिखर पर पहुंचाने का संकल्प हमने अपने मनों में संजोया है, वे सीढ़ियां इन चौंतीस वर्षों में एक-एक कर खिसकती जा रही हैं।

शताब्दियों लंबी ऐतिहासिक प्रक्रिया के कारण राष्ट्रीय एकता की जो भावना हमारे मानस में समाहित थी और जिसके बल पर हम परकीय सत्ता के विरुद्ध लंबी लड़ाई लड़ सके थे, वह भावना स्वाधीनता के इन चौंतीस वर्षों में पुष्ट होने की बजाय अधिकाधिक दुर्बल होती जा रही है। क्षेत्र, भाषा, जाति और पंथ के आधार पर भेदों को बढ़ावा मिला है। अखिल भारतीय दृष्टि समाप्त होती जा रही है। इन संकुचित निष्ठाओं को उभारने के लिए राजनीतिक दलों एवं नेताओं में होड़ सी लगी हुई है।

जिन उदात्त भारतीय मूल्यों के आधार पर स्वाधीन भारत की रचना करने का संकल्प संपूर्ण स्वाधीनता आंदोलन के काल में गूंजता था, उन जीवन-मूल्यों का ह्रास इन चौंतीस वर्षों में जितना हुआ है, उसका एक अंश भी हजार-बारह सौ वर्षों के पारतंत्र्य काल में नहीं हुआ था। पारस्परिक स्नेह, विश्वास एवं सहयोग की भावना तथा नैतिकता मिटती जा रही है। स्वार्थ, छल-कपट तथा भ्रष्टाचार का वातावरण सर्वव्यापी बन रहा है। 'कम काम और अधिक दाम' के नारे से हर व्यक्ति कम-अधिक मात्रा में प्रभावित है। चोरी, डकैती, हत्या, अपहरण, बलात्कार आदि की खबरों से कान सुन्न हो रहे हैं। वर्तमान शिक्षा के अंधाधुंध प्रसार के साथ-साथ दहेज प्रथा जैसी अनेक कुरीतियां घटने के स्थान पर बढ़ती जा रही हैं। नारी की पवित्रता तथा जान-माल की असुरक्षा जितनी अधिक मात्रा में आज अनुभव हो रही है, उतनी असुरक्षा की भावना देश के इतिहास में संभवतः कभी भी अनुभव नहीं हुई।

इन चौंतीस वर्षों में आर्थिक विकास पर सर्वाधिक बल दिया गया है, किंतु इस क्षेत्र में भी हम कहां पहुंचे हैं। आर्थिक विषमता की खाई सीमा पार कर रही है। बेरोजगार नौजवानों तथा गरीबी की रेखा के नीचे जीनेवालों की संख्या निरंतर बढ़ रही है। इस कारण जहां लोगों की क्रयशक्ति घटती जा रही है, वहां जीवनावश्यक वस्तुओं की कीमतें आसमान को छू रही हैं। गोपाल कृष्ण की भूमि में शुद्ध घी और दूध के दर्शन दुर्लभ हैं। एक ओर देश की भूमि सिकुड़ती जा रही है, दूसरी ओर जनसंख्या तीव्र गति से बढ़ रही है। परिणामस्वरूप दारिद्र्य का अभिशाप साधारण नागरिक के जीवन को असह्य बना रहा है।

अंग्रेजों के शासन के विरुद्ध हमारे स्वाधीनता संघर्ष की मुख्य प्रेरणा थी कि पश्चिम में जनमी

भोगवादी यंत्रप्रधान सभ्यता हम अपने ऊपर सवार नहीं होने देंगे। भारतीय मनीषा द्वारा सदियों लंबे अनुभवों एवं प्रयोगों के माध्यम से विकसित उदात्त जीवन-मूल्यों के आधार पर युगानुकूल जीवन रचना खड़ी करके विश्व के सम्मुख एक नया नमूना प्रस्तुत करेंगे। किंतु इन चौंतीस वर्षों में हम राष्ट्र जीवन के किसी भी क्षेत्र में—चाहे वह शिक्षा हो या सामाजिक जीवन, किसी भी क्षेत्र में अपनी राष्ट्रीय प्रतिभा को अभिव्यक्त करनेवाली अभिनव रचना का सूत्रपात हम नहीं कर पाए। इन चौंतीस वर्षों में जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में ब्रिटिश साम्राज्यवाद द्वारा स्थापित रचना के बिगड़े हुए रूप का ही विस्तार होता जा रहा है। चाहे प्रशासकीय ढांचा हो या औद्योगीकरण, चाहे शहरीकरण हो या फाइव स्टार होटल, चाहे शिक्षा प्रणाली हो या संस्कृति, सभी कुछ अंग्रेजों द्वारा निर्धारित दिशा में ही बढ़ता नजर आ रहा है। यह सब देखकर लगता है कि हम स्वाधीनता आंदोलन की मूल प्रेरणाओं से न केवल भटक गए हैं, अपितु विपरीत दिशा में बढ़ते जा रहे हैं।

स्वाधीनता संग्राम के काल में समाज में विशेषतः युवाओं में देश के प्रति समर्पण की भावना कितनी प्रखर थी। देश के लिए साहस, त्याग और बलिदान करने के लिए जगह-जगह तत्पर जवानों की टोलियां नजर आती थीं, किंतु गत चौंतीस वर्षों में इन भावनाओं पर तुषारापात हुआ है। बालिग मताधिकार पर आधारित जिस चुनाव प्रणाली को हमने प्रत्येक नागरिक के हृदय में राष्ट्र के प्रति अपने दायित्व की भावना को प्रज्वलित रखने के लिए अपनाया था, वह प्रणाली आज हमारे लिए अभिशाप सिद्ध हो रही है। बालिग मताधिकार के कारण हर परिवार में मतदाता बने हैं। चुनाव में विजय की आकांक्षा से प्रेरित हर एक राजनीतिक दल एवं उम्मीदवार समर्थन पाने के लिए हर एक मतदाता के पास पहुंचने का प्रयास करता है।

1952 से नेताओं द्वारा हर मतदाता को लगातार समझाया जा रहा है कि वह उनके पक्ष में मतदान करें। मतदाताओं की समस्याओं के निराकरण एवं आवश्यकताओं की पूर्ति करने का कार्य वे करेंगे। इसका जनमानस पर एक ही परिणाम हुआ है कि राष्ट्र के प्रति मतदाताओं का दायित्व मतदान करना मात्र है। इससे हर नागरिक के मन में सत्ता से अपेक्षाएं बहुत बढ़ गई हैं, किंतु देश के लिए स्वयं कुछ करने की प्रेरणा एवं भावना समाप्त सी है। अतः स्वराज्य प्राप्ति के बाद साधारण नागरिकों तथा युवाओं को सामाजिक पुनर्रचना में कौन सा दायित्व निभाना है, इसकी जानकारी देने तथा राष्ट्र के नवनिर्माण में उनका सहयोग लेने की राजनीतिक नेतृत्व आवश्यकता ही नहीं समझता। परिणामस्वरूप गत चौंतीस वर्षों में देश की युवा-शक्ति राष्ट्र के नवनिर्माण की दृष्टि से बेकार सिद्ध हो रही है। इसके घातक परिणाम सर्वविदित हैं। लोकतंत्र का अर्थ बन गया है कि राष्ट्र के भविष्य का दायित्व केवल सत्तारूढ़ दल का है, शेष दल सत्ता प्राप्ति में लगे रहें और आम जनता सत्तारूढ़ नेतृत्व की आलोचना से ही अपना पेट भर लिया करे।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् हमारे इस भटकाव के कारण क्या हैं? उन्हें किस प्रकार रोका जा सकता है? अपने जीवन-मूल्यों के आधार पर युगानुकूल समाज रचना की प्रक्रिया कौन प्रारंभ करेगा? भविष्य के प्रति हताश एवं निराश बने समाज में आशा की किरण कौन जगा सकेगा? देश के नागरिकों को, विशेषतः युवा-शक्ति को राष्ट्र के नवनिर्माण में कौन सक्रिय बना सकेगा?

ये प्रश्न चिंतनशील व्यक्ति को बेचैन बना रहे हैं।

राष्ट्र की इस चिंताजनक हालत से परेशान होकर आजकल अधिकांश लोग कहने लगे हैं कि गत चौंतीस वर्षों में हमारे चारित्रिक पतन का और राष्ट्रीय एकता को दुर्बल बनाने का प्रमुख कारण है-केवल वोट और सत्ता के लिए चल रही दलगत राजनीति। ऐसे समय यह स्मरण करना उपयुक्त होगा कि संघ के नेतृत्व ने अपनी भविष्य भेदी दृष्टि से इस संभावना की 1949 में ही कल्पना कर देश को चेतावनी दी थी। दु ःख के साथ कहना पड़ता है कि देश के नेताओं ने उस समय उसकी उपेक्षा की।

इस बिगड़ी हुई परिस्थिति में से उत्पन्न उपर्युक्त प्रश्नों के, जो सबकी घबड़ाहट का कारण बने हैं, निराकरण का एकमेव मार्ग है—संघ के तीनों परमपूजनीय सरसंघचालकों की वाणी को अविलंब कार्यान्वित करना।

स्वतंत्रता प्राप्ति के तुरंत पश्चात् संघ पर आरोपित अन्यायपूर्ण प्रतिबंध से मुक्त होकर दिसंबर 1949 में स्व. परमपूज्य गुरुजी ने संघ के कार्यकर्ता सम्मेलनों में बदली हुई परिस्थिति में संघ कार्य की भूमिका को स्पष्ट करते हुए कहा था—

''मनुष्य के अंदर श्रेष्ठ जीवन उत्पन्न करने का कार्य केवल सत्ता से नहीं हो सकता। जिन्होंने सत्ता नहीं पाई वे तो दु ःख और कष्ट का जीवन अपनाकर ही समाज हित के लिए कार्यरत रहे। उन्हीं से समाज की धारणा रही। सत्ता से मद और एकांतिक अनाचार की ओर प्रवृत्ति होकर व्यवस्था के स्थान पर अव्यवस्था उत्पन्न हो जाती है। सत्ता प्राप्त होने पर सत्ता को बनाए रखने की आवश्यकता होती है और फिर स्वयं सत्ताधारी एवं शेष गुलाम (अनुयायी), यही भाव पैदा हो जाते हैं। वहां स्वयं प्रेरणा से कार्य करने की शक्ति भी नष्ट हो जाती है।'' **ध्येय-दर्शन, पृ. 49**

''लोग चुनावों में देश का भला करने के भाव से नहीं—दलगत स्वार्थ लेकर आते हैं।...सेवा की संपूर्ण प्रवृत्ति भी दलगत स्वार्थ में ही फंस जाती है। दलगत स्वार्थ ही प्रमुख रह जाता है और राष्ट्र दृष्टि से ओझल हो जाता है।...दल बनाकर दलगत स्वार्थ से ऊपर उठाने की बात असंभव है।'' **ध्येय-दर्शन, पृ. 42**

''हम में से किसी को मंत्री बनने की इच्छा नहीं है। भारत में चलनेवाले प्रत्येक कार्य पर यदि हम अपना रंग चढ़ाना चाहते हैं तो हमें इस ठोस चिरंतन कार्य को ही अपनाना चाहिए। जैसे सूर्य के प्रकाश से चंद्रमा प्रकाशित होता है, उसी प्रकार प्रजा के प्रकाश से ही, लोकशक्ति के प्रकाश से ही सत्ता को जीवन-प्रकाश और प्रभाव मिलता है। सूर्य के अंदर की प्रभावान चैतन्ययुक्त शक्ति के समान हम प्रजा के सर्वस्व—उसकी आशा आकांक्षा और कर्तृत्व के मूर्तरूप बने, फिर उसके प्रकाश से चमकनेवाली सत्ता और कौन सा प्रकाश दे सकती है?'' **ध्येय-दर्शन, पृ.-53**

राष्ट्र के उज्ज्वल भविष्य के लिए अपने आद्य सरसंघचालक स्व. परमपूज्य डॉक्टरजी ने संघ के प्रारंभिक जीवन में ही हमें विधायक दृष्टि प्रदान की थी। उन्होंने कहा था, ''संघ को केवल लकीर के फकीर जैसे अनुयायी नहीं बनाना है, राष्ट्र के नेता उत्पन्न करना है। आप में से प्रत्येक कोई योग्य दिशा दिखाएगा, ऐसी अपेक्षा है।'' **जीवनी, पृ. 129**

उन्होंने लिखा है कि हमारा संगठन इसलिए है कि कार्यकर्ता विपुल संख्या में निर्माण हों। यदि आप कार्यकर्ता हैं तो आपको स्वयं होकर कार्य के विषय में सोचना चाहिए। तभी आप कार्य कर सकेंगे। केवल बताया हुआ कार्य करने से कार्यकर्ता नहीं होता। उसको स्वयं सोचकर अपने कार्यक्षेत्र की आयोजना करनी पड़ती है। लोकोत्तर संस्था, इस दृष्टि से तुम अपने संघ का विचार करो। सच्चे महान् व्यक्ति के समान लोकोत्तर संस्था भी अपनी छोटी सी ही आयु में प्रचंड कार्य कर डालती है। संघ के प्रत्येक स्वयंसेवक की कर्तृत्वशक्ति का फायदा यदि पूर्णरूप से मिला तो हम संघ की त्वरित प्रगति कर सकेंगे तथा इसी देह और इन्हीं आंखों से अपना कार्य पूर्णावस्था को पहुंचा हुआ देख सकेंगे।'' वे कहते हैं, ''हमारे कार्य का भविष्य में जो फल होगा, उसे देखकर निंदा-हंसी करनेवाले मारे शर्म के चुप हो जाएंगे।"हमारी सारी राजनैतिक, सामाजिक व आर्थिक समस्याएं, जो हमें आज डरा रही हैं, आसानी से हल हो जाएंगी।'' **जीवनी, पृ. 90**

''उपर्युक्त बातों में परम्परागत जीवन-मूल्यों में नव चैतन्य का संचार करने के लिए परिस्थिति के अनुसार जो नई कार्यप्रणाली संघ को आवश्यक प्रतीत होगी, उसे संघ अंगीकृत करेगा।'' **जीवनी, पृ. 124**

''हम यह नहीं चाहते कि हम पीढ़ियों और सदियों तक काम करते रहें और उसका फल कुछ भी न हो। हमारी तो कोशिश है कि हमारे जीते जी हम अपने उद्देश्य की पूर्ति देख सकेंगे।'' **जीवनी, पृ. 99**

परमपूज्य डॉक्टरजी हर खराबी के लिए दूसरों को दोष देना पसंद नहीं करते थे। देश की गुलामी के लिए भी वे मुगल और अंग्रेजों को दोष देना गलत मानते थे। इससे अपनी क्षमता और सामर्थ्य बढ़ाने में बाधा उत्पन्न होती है, ऐसा उनका मत था। अतः हर समस्या का निराकरण स्वसामर्थ्य से करना चाहिए और आवश्यक सामर्थ्य बढ़ाने में जुटाना चाहिए, यह उनका स्पष्ट मत था।

वे हर स्वयंसेवक से अपेक्षा करते थे कि वह संपूर्ण हिंदू समाज को अपना परिवार माने व तदनुसार अपना जीवन ढाले। वे आग्रहपूर्वक समझाया करते थे कि संघ का स्वयंसेवक केवल शाखा के समय भर के लिए अर्थात् एक घंटे के लिए स्वयंसेवक नहीं है, वह दिन के चौबीसों घंटे स्वयंसेवक है।

इससे एक ही संकेत मिलता है कि स्वयंसेवक अपने परिवार, विद्यालय, व्यवसाय या समाज में कार्यरत रहते समय यह न भूले कि वह स्वयंसेवक है। उसके प्रत्येक व्यवहार में राष्ट्रीय भावना प्रतिबिंबित हो तथा शेष समाज के लिए अपने व्यवहार से अनुकरणीय आदर्श प्रस्तुत करें। संपूर्ण समाज उसका अपना परिवार है, यह भावना उसके व्यवहार में पग-पग पर प्रकट हो।

गत चौंतीस वर्षों में राजनीतिक गतिविधियों के कारण समाज में जो हताशा एवं निराशा उत्पन्न हुई है, उसका निराकरण राजनीतिक नेतृत्व के द्वारा होने की संभावना कम है। कारण वे ही इस परिस्थिति के जनक हैं। अपने कार्यशैली में परिवर्तन करना स्वयं उनके लिए कठिन है। उसके लिए गैर-राजनीतिक शक्ति के माध्यम से ही लोकशक्ति का व्यापक प्रभाव निर्माण करना होगा। इस निराशाजनक अवस्था में समाज को अधिक काल तक रहने देना भविष्य की दृष्टि से अधिक हानिकर होगा।

वर्तमान अवस्था में समाज में भविष्य के प्रति आशा और विश्वास जगाने की क्षमता संघ के अतिरिक्त अन्य किसी भी नेतृत्व में या संगठन में नहीं है। कारण अन्य नेतृत्व ठीक दिशा से भटक गया है। वे समाज की नजरों में अपनी विश्वसनीयता खो बैठा है। उनके पास राष्ट्र के प्रति समर्पित, अनुशासनबद्ध एवं देशव्यापी संगठन भी नहीं है। वर्तमान परिस्थिति में आवश्यक काम की रूपरेखा संघ की अनुभवसिद्ध कार्यपद्धति का अंग है, यह अपने वर्तमान सरसंघचालक परमपूजनीय श्री बालासाहब के मार्गदर्शन से स्पष्ट हो जाता है—

''मैंने शुरू में ही कहा है कि समाज जीवन का कोई अंग या उपांग ऐसा नहीं है, जो हमारे लिए निषिद्ध है। समाज के विभिन्न अंगों और उपांगों में परिवर्तन आवश्यक है। इस परिवर्तन की दृष्टि से काम करना आवश्यक है। अतएव संघ के बारे में व्यक्त की जानेवाली यह धारणा भी पूर्णतः गलत है कि यह यथास्थितिवादी है। संघ यथास्थितिवादी कदापि नहीं है। संघ को इस बात का पता है कि समाज के सभी अंग-उपांग अमूल्य हैं, किंतु इस समय वे अस्वस्थ हैं और उनमें परिवर्तन की आवश्यकता है।'' **सामाजिक परिवर्तन की दिशा, पृ. 13**

''संघ के स्वयंसेवकों का सभी क्षेत्रों में जाना बिलकुल स्वाभाविक है, लेकिन विभिन्न क्षेत्रों में जाने के बाद यदि उनका व्यवहार वैसा ही होता है, जैसा अन्य लोगों का, तो वहां जाने से कोई लाभ नहीं।'' **सामाजिक जीवन की दिशा, पृ. 15**

''अपने देश में जहां काम की बहुत आवश्यकता है, ऐसा एक क्षेत्र है—वनवासियों का, और दूसरा है दलित बंधुओं का।'' **सामाजिक परिवर्तन की दिशा, पृ. 17**

''हम यह न भूलें कि आखिर समस्याओं का समाधान विधायक ढंग से ही होगा। उसके लिए उस समाज के लोगों के बीच में जाकर तरह-तरह की रचनात्मक योजनाएं बनाकर उन्हें उनकी समस्याओं को हल करने का उपाय बताने की आवश्यकता है।'' **सामाजिक परिवर्तन की दिशा, पृ. 17**

''संघ-स्थान संस्कार स्थान है। वहां हम जो संस्कार ग्रहण करते हैं, उन संस्कारों के अनुकूल अपना व्यवहार भी होना चाहिए। अब इस प्रकार की स्थिति आई है कि संघ के स्वयंसेवक और समाज भी अपने कार्य की तरफ इस दृष्टि से देखने लगा है कि पचास-बावन वर्षों में संघ ने क्या किया है? वह इसका मूल्यांकन अवश्य करनेवाला है। यह मूल्यांकन तीन प्रकार से होगा—

''लोग देखेंगे कि संघ के स्वयंसेवक के वैयक्तिक जीवन में क्या अंतर आया है?'' **सामाजिक जीवन की दिशा, पृ. 19**

''संघ के संस्कारों के अनुकूल वैयक्तिक व्यवहार अत्यंत आवश्यक है। और इसलिए इसके बाद लोग इस बात की तरफ अवश्य देखेंगे कि संघ के स्वयंसेवक का वैयक्तिक व्यवहार उसके संस्कार के अनुकूल है या नहीं।'' **सामाजिक जीवन की दिशा, पृ. 20**

''तदुपरांत लोग देखेंगे कि संघ के स्वयंसेवक के घर का वायुमंडल भी उसके संस्कारों के अनुकूल है या नहीं।'' **सामाजिक जीवन की दिशा, पृ. 20**

''तुम संघ के कार्यकर्ता हो...वकील हो तो दस वकीलों को संघ में ला सकते हो, अगर

दुकानदार हो तो दस दुकानदारों को संघ में ला सकते हो, डॉक्टर हो तो दस डॉक्टरों को संघ में ला सकते हो…तो क्या तुम अपनी श्रीमतीजी को संघ नहीं समझा सकते? विचार करने का यह कोई तरीका है? इस प्रकार से नहीं चलेगा। वैयक्तिक और पारिवारिक व्यवहार में भी संघ के संस्कार के अनुकूल ही हमारा व्यवहार होना आवश्यक है।'' **सामाजिक जीवन की दिशा, पृ. 21**

''इसी प्रकार समाज जीवन के समस्त अंगों-उपांगों के बारे में भी हमारा दायित्व है। हमें इस संबंध में भी विचार करना चाहिए और आगे आना चाहिए।'' **सामाजिक जीवन की दिशा, पृ. 21**

''अब जो समय आया है, उस पर हम गंभीरतापूर्वक विचार करें। श्रीगुरुजी के जीवन काल में संघ की भूमिका सांस्कृतिक थी। सांस्कृतिक भूमिका गुरुजी के आग्रह का विषय था। अब संघ को सामाजिक भूमिका अपनानी पड़ेगी। गुरुजी ने सांस्कृतिक भूमिका दी, उसका लाभ भी हुआ। उससे देश में सांस्कृतिक जागरण हुआ। हिंदू समाज में स्वाभिमान जागा, लेकिन अब हमको अपने कार्य को सामाजिक भूमिका प्रदान करके समाज जीवन के सब अंगों और उपांगों में जाना पड़ेगा और विधायक दृष्टि से जाना पड़ेगा। इसलिए हम सभी स्वयंसेवक यह सोचें कि यह दायित्व हमें उठाना ही है।'' **सामाजिक जीवन की दिशा, पृ. 23**

''शाखा का उस क्षेत्र के समाज जीवन से सहज संबंध रहना आवश्यक है। यह किस प्रकार से हो, इसके लिए हमें निर्देश देने की कोई जरूरत नहीं है। यह सोचने का काम आपका है। आज्ञा चाहिए, आज्ञा चाहिए, कहना बेकार की बात है। जिसको काम करना नहीं रहता है, उसको आज्ञा चाहिए और जिसको करना रहता है, वह अपनी सूझबूझ से क्या करना चाहिए, क्या नहीं, तय करता है। एक आधा ऐसी बात हो सकती है कि जिसमें आज्ञा और मार्गदर्शन की आवश्यकता हो। बाकी बस्ती के, गांव के इतने प्रश्न होते हैं कि उनके समाधान के लिए आज्ञा और मार्गदर्शन की आवश्यकता नहीं होती।'' **संघ शाखा-हमारी शक्ति का स्रोत, पृ. 12**

''हम यह भली प्रकार समझते हैं कि संघ कार्य का दृष्टिकोण रचनात्मक है। आज हजारों रचनात्मक कार्य हम अनेक क्षेत्रों में कर रहे हैं। हमारी सारी दृष्टि उस ओर है। कार्यकर्ता वहां लग रहे हैं। हमारा विश्वास है कि राजनीति राष्ट्र और समाज जीवन का महत्त्वपूर्ण अंग है, लेकिन वह राष्ट्र जीवन का सर्वस्व नहीं है। इसलिए जिसको राजनीति करना है, करे। हम तो राजनीति से दूर रहते हुए समाज जीवन में परिवर्तन लाएंगे और इस दृष्टि से हम काम भी कर रहे हैं। हमें इसमें सफलता अवश्य मिलेगी, ऐसा मेरा विश्वास है।'' **हिंदू संगठन एक राष्ट्रीय आवश्यकता, पृ. 30**

हमारी शाखाएं नगरों के विभिन्न क्षेत्रों में तथा ग्रामों में चल रही हैं। साधारणतः हर शाखा का अपना कार्यक्षेत्र निश्चित सा रहता है। वह शाखा के चारों ओर आधा या एक किलोमीटर में फैला हुआ होता है। ग्राम में शाखा का क्षेत्र संपूर्ण ग्राम को अपने में समाहित किए रहता है।

संघ संपूर्ण हिंदू समाज को अपना परिवार मानता है। हिंदुस्तान भर में फैला अपना समाज, स्वयंसेवक या किसी शाखा के नित्य संपर्क में नहीं रहता, किंतु एक शाखा के चारों ओर फैला हुआ—एक या आधे किलोमीटर में बसा हुआ समाज संघ के स्वयंसेवकों के सहज में ही नित्य

संपर्क में रह सकता है। वह उसे अपने चर्म-चक्षुओं से रोज देख सकता है। समाज के सभी लोग यद्यपि स्वयं अपने जीवन-यापन का कार्य करते हैं, फिर भी उनमें अनेक ऐसे लोग हो सकते हैं, जो गरीब हैं, अशिक्षित हैं, उपेक्षित हैं तथा पीड़ित हैं। कुछ ऐसे भी हो सकते हैं, जो पूर्णरूप से बेसहारा हैं। दु:ख से कहना पड़ता है कि अपना समाज संवेदनशीलता की उदात्त भावना खोता जा रहा है। व्यक्ति अपने परिवार के बाहर मानो देखता ही नहीं। इस कारण अपने समाज के गरीब पीड़ित एवं बेसहारा लोग आज उपेक्षित हैं।

परिवार में यह स्वाभाविक भावना होती है कि परिवार का पीड़ित असमर्थ या अक्षम व्यक्ति उपेक्षित न रहे। उसकी ओर परिवार का प्रत्येक व्यक्ति विशेष और अधिक ध्यान देता है। यह भावना परिवार में आज भी विद्यमान है, किंतु समाज से वह लुप्त हो चुकी है। समाज में यह पारिवारिक भावना फिर से जाग्रत् करना संघ का स्वयं स्वीकृत दायित्व है। अत: अपनी शाखा के स्वयंसेवक बंधुओं के माध्यम से अपने शाखा के क्षेत्र में जो भी गरीब, असहाय, पीड़ित एवं उपेक्षित हैं, उन्हें अपने परिवार का अंग मानकर उनकी पूछताछ तथा उनकी चिंता करने का कार्य संघ की हर एक शाखा प्रारंभ करे। उनकी कुटिया जैसी भी हो वह अपने घर का ही एक हिस्सा है। वह उस क्षेत्र के लोगों के सहयोग से कैसे ठीक-ठाक हो सकती है, यह देखना हमारा एक स्वयंसेवक के नाते कर्तव्य है।

इसका यह अर्थ नहीं कि हम गरीबों को परावलंबी बनाएं। स्वाभिमान शून्य व्यक्ति समाज का गौरव नहीं बन सकता। अत: अपनी बुद्धि, कल्पकता तथा प्रयासों द्वारा उसे आत्मनिर्भर बनाना ही अपने कार्य का रूप रहेगा। किसी कारण कोई पूर्णत: बेसहारा एवं अपंग है, उसकी व्यवस्था हमें अपने समाज के सभी लोगों के सहयोग से खड़ी करनी होगी। वह सहज में ही की जा सकेगी। कारण ऐसे बेसहारा लोगों की संख्या समाज में नगण्य सी रहती है। अत: संघ शाखा का स्वयंस्वीकृत दायित्व रहेगा कि अपनी शाखा के क्षेत्र में कोई उपेक्षित, उपेक्षित न रहे, कोई अछूत, अछूत न बना रहे, स्कूल न जा पानेवाले बच्चे अनपढ़ न रहें, गरीब अपनी बीमारी में बिना इलाज के तड़पता न रहे, गरीब अपने स्वाभिमान को कायम रखते हुए स्वावलंबन के साथ गरीबी से मुक्ति पाने की राह पर गतिमान हो, बेकार अपनी आजीविका के लिए कोई-न-कोई कमाई का साधन ढूंढ़ ले, ये सब काम करना अपनी शाखा का दायित्व है। अत: प्रत्येक शाखा इस दिशा में कार्यरत हो।

यही काम सामाजिक परिवर्तन का माध्यम एवं नवनिर्माण का साधन बनेगा। संघ के स्वयंसेवक यह कार्य बहुत रुचि एवं उत्साह के साथ करेंगे। इस कार्य से उनकी क्षमता, योग्यता एवं कल्पकता में वृद्धि होगी। संपूर्ण समाज में भविष्य के प्रति विश्वास एवं परस्पर सहयोग से काम करने का वातावरण निर्माण होगा। स्वयंसेवकों को अपनी प्रतिभा के विकास का अवसर मिलेगा। वे कर्तृत्ववान तथा समाज के अगुआ बनेंगे। हमारे समाज के उपेक्षितों का सामूहिक धर्म परिवर्तन भी रुकेगा।

निश्चित किए गए क्षेत्र में रहनेवाले समाज के उन महिला-पुरुषों का भी इस कार्य में सहयोग

अर्जित करना संभव होगा, जो अभी तक संघ के संपर्क में नहीं हैं। संवेदनशीलता हर मानव का जन्मजात स्वभाव है। उसके लिए उन्हें अवसर प्रदान करने का कार्य संघ शाखा करेगी। इस कारण संपूर्ण समाज में एक पारिवारिक भावना विकसित होगी। संघ समाजमय बनेगा तथा समाज संघमय दोनों की अभिन्नता ही संघ निर्माता की मूल आकांक्षा रही है। उसे हम साकार कर दिखा सकेंगे। यह कार्य करते समय हमें दो बातों का विशेष ध्यान रखना आवश्यक है—

- संघ शाखा अपने क्षेत्र की हर एक समस्या में स्वयं को न उलझा ले। संघ अपने को उपेक्षित, गरीब एवं पीड़ितों तक ही सीमित रखे। धीरे-धीरे हम बेकार युवा-युवतियों के लिए आजीविका के साधन उपलब्ध कराने का कार्य हाथ में ले सकेंगे। इस कार्य से हम समाज में एकात्मता निर्माण करने में सफल होंगे।
- हम लोग राजनीतिक मामलों में अपनी राय देने से स्वयं को बचाएं। विवादात्मक बातों से स्वयं को बचाए रखना समाज में पारिवारिक भावना बढ़ाने में सहायक होगा। किसी एक दल या पक्ष के रूप में संघ की प्रतिमा विकसित न हो, इसकी पूरी सावधानी बरतना अति आवश्यक है। इस समय अपना समाज राजनीतिक गुटों में ऐसा बंटता जा रहा है कि मानो वे एक-दूसरे के दुश्मन हैं। एक ही समाज का कल्याण करने की कामना रखनेवालों में आज ऐसी एक भी बात बची हुई नहीं दिखती, जिसके लिए वे एक जगह एकत्रित हो सकें।

हम केवल गरीब, पीड़ित अशिक्षित एवं उपेक्षित लोगों के कल्याण मात्र में जुट जाए। इस काम में सबका सहयोग लेने का प्रयास करें। हमारे स्वयंसेवकों की प्रामाणिकता, गरीब, पीड़ित एवं उपेक्षितों की सद्भावना तथा हमारे कार्य का रूप शाखाओं के छोटे-छोटे क्षेत्रों में सभी विचारों एवं दलों के लिए मिलनभूमि प्रस्तुत कर सकेगा। यह स्वयं में एक बहुत बड़ी उपलब्धि होगी। यह समय की बहुत बड़ी आवश्यकता है।

देश की बिगड़ती हुई दशा का वर्तमान समय में यही एक कारगर उपाय है। हमारी एक-एक शाखा से प्रारंभ होनेवाला यह कार्य प्रारंभ में साधारण सा लग सकता है, किंतु यह कार्य एक ही समय देशव्यापी स्तर पर प्रारंभ हो जाने के कारण अल्पकाल में ही अपना भव्य परिणाम दिखाने में सक्षम होगा। इससे राष्ट्र को ठीक दिशा तो मिलेगी ही, संपूर्ण राष्ट्र में भविष्य के प्रति आशा, विश्वास एवं नव चैतन्य निर्माण होगा।

देश की युवा-शक्ति, जो अपने देश में असीम मात्रा में है, राष्ट्र के नवनिर्माण में अर्थात् सर्वांगीण विकास में जुट पाएगी। इसी में से वह लोक-शक्ति, जिसकी कल्पना 1949 में परमपूज्य श्री गुरुजी ने की थी कि प्रजा-शक्ति अपने सूर्य समान प्रकाश से राज्य-शक्ति को चंद्रमा के आलोक के रूप में प्रकट करेगी, उद्भव होगी। इसी में से मानव मात्र के लिए कल्याणकारी भारतीय जीवन की विशेषता विकसित होगी।

यही संघ की आकांक्षा है। उसका साक्षात्कार संघ के तृतीय सरसंघचालकजी के जीवन में ही कर दिखाने के लिए संघ का प्रत्येक स्वयंसेवक सहज में ही जी जान से जुटेगा तथा स्वयं का जीवन भी सार्थक सिद्ध करेगा।

14

1 जनवरी, 1990

माननीय श्री शेषाद्रिजी,

दिसंबर के प्रथम सप्ताह में दिल्ली में प्रांत एवं सह-प्रांत प्रचारकों की बैठक हुई। उसमें भी शाखाओं में नियमित स्वयंसेवकों की उपस्थिति बढ़ती नहीं, इस विषय पर चर्चा हुई। यह चर्चा कम-अधिक मात्रा में बराबर होती है, किंतु अभी तक हम लोग किसी निष्कर्ष तक पहुंच नहीं पाए।

मैं 1980 से संघ से संबंधित विषयों पर माननीय उच्च-अधिकारियों की सेवा में अपना मंतव्य लिखता रहा हूं, किंतु आज तक किसी अधिकारी ने उन पर मुझसे चर्चा करना आवश्यक नहीं समझा। इसी से समझ गया कि मेरे सुझाव निरर्थक हैं। अतः मैंने लिखना बंद किया, किंतु मस्तिष्क में सतत चलनेवाली विचार की प्रक्रिया रोकी नहीं जा सकती।

इस विषय पर चर्चा चलाने के लिए अधिक समय उपलब्ध नहीं था। इस कारण अपनी बैठक समाप्त होते-होते आपसे मैंने अनुमति मांगी कि क्या इस विषय पर मैं अपने विचार लिखकर भेजूं? मैं यह भी उपयोगी समझता था कि ये विचार प्रादेशिक स्तर के इस बैठक के अन्य बंधुओं के पास भी भेजूं। आपने उसके लिए भी अनुमति प्रदान की, किंतु अन्य एक अखिल भारतीय अधिकारी ने तुरंत कहा कि ये सबके पास भेजने की आवश्यकता नहीं है। मैं समझ नहीं पाया कि प्रादेशिक स्तर के प्रचारकों में भी विचारों का आदान-प्रदान करना हम पसंद क्यों नहीं करते?

15

27 मार्च, 1990

माननीय श्री भाऊरावजी,

'राष्ट्र जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में संघ स्वयंसेवक कार्यरत हैं। इन सबको मिलाकर अपना एक परिवार है। अतः हम सभी को परस्पर सहयोग की भूमिका निभानी है,' इस बात पर अपनी नागपुर की बैठक में विशेष बल दिया गया था। फलस्वरूप मस्तिष्क में विचार-चक्र चल पड़ा। उनमें से कुछ बातें इस पत्र के द्वारा प्रस्तुत कर रहा हूं।

गत लोकसभा एवं विधानसभाओं के चुनावों में भाजपा को उल्लेखनीय सफलता मिली है। परिणामस्वरूप देश की राजनीति को नई दिशा मिलने की संभावना बढ़ी है। पूर्वी यूरोप तथा

14 *सभी स्तरों पर विचारों के आदान-प्रदान पर बल।*

सोवियत संघ में परिवर्तन की जो लहर चल पड़ी है, उस कारण भाजपा की सफलता की ओर देश–विदेश के विचारकों की दृष्टि आकृष्ट हुई है।

तीन राज्यों में भाजपा के मुख्यमंत्री बने हैं। मध्य प्रदेश एवं हिमाचल प्रदेश में तो प्रभावी बहुमत प्राप्त हुआ है। अतः इन दो प्रदेशों की सरकारें शुद्ध रूप से भाजपा की हैं। मध्य प्रदेश तथा हिमाचल प्रदेश के मुख्यमंत्री अर्थात् सर्वश्री (सुंदरलाल) पटवा एवं शांताकुमार संघ के केवल संस्कारित स्वयंसेवक ही नहीं हैं अपितु प्रचारक भी रहे हैं। इस तथ्य को अनेक समाचार–पत्रों ने बहुत प्रसिद्धि दी है। अनेक बुद्धिवादी कह रहे हैं कि वस्तुतः ये तीनों सरकारें संघ की हैं। संघ नेतृत्व ने इस सफलता को हिंदुत्व के प्रभाव का परिणाम कहा है। अतः हिंदुत्व पर आधारित सरकारों की सफलता–असफलता का प्रभाव देश और संघ के भविष्य पर पड़नेवाला है। अतः हमें इस बात की विशेष चिंता करनी होगी।

इस स्थिति में स्वतंत्र भारत की सरकारों की पृष्ठभूमि को ध्यान में लिया जाना जरूरी है। गत 43 सालों में सरकारों की गतिविधियों का जो रूप प्रस्तुत है, वह इतना पक्षपातपूर्ण एवं दुःखदाई है कि साधारण नागरिक सरकारी कामकाज से निराश है। मंत्री, मुख्यमंत्री या प्रधानमंत्री तक आदर्शहीनता, प्रशासनिक अक्षमता तथा मंत्रालयीन विषयों की अनभिज्ञता के (स्व. सरदार पटेल जैसे कुछ अपवादों को छोड़कर) कारण मंत्रालयों के सचिवों की मानसिकता एवं कार्यप्रणाली पर सर्वथा निर्भर रहते रहे हैं। मंत्रियों की दृष्टि इतनी संकुचित एवं स्वार्थपूर्ण रही है कि उन्होंने गत वर्षों में अपने व्यक्तिगत तथा दलगत हित साधन में प्रशासन एवं प्रशासकों का दुरुपयोग करने में कोई संकोच नहीं किया है। इस कारण लोगों की धारणा बनी है कि सत्ता पर जो भी आएगा, वह यही सब करता रहेगा। गरीबों का ध्यान कोई नहीं रखेगा। इस धारणा को बदले बिना भाजपा प्राप्त सफलता के बावजूद अपना भविष्य बना नहीं पाएगी। हम मानें या न मानें किंतु भाजपा की सरकारों की सफलता या असफलता के लिए संघ को ही जिम्मेदार माना जाएगा। इस तथ्य को नकारा नहीं जा सकता।

आत्मस्तुति एवं परनिंदा को अपनी संस्कृति ने महापाप माना है, किंतु दलीय पद्धति पर आधारित लोकतंत्र के कार्यान्वयन का माध्यम है—आत्मस्तुति एवं परनिंदा। इस माध्यम के कारण लोकतंत्र की सफलता के लिए आवश्यक परस्पर सद्भावना पर ही कुठाराघात होता है। एक–दूसरे के प्रति दुर्भावना व विद्वेष पनपता है। अन्यों के गुणों की कद्र करने एवं अपनी कमजोरियों को दूर करने की भावना का लोप होता है। गुणवत्ता व क्षमता अर्जित करने की प्रेरणा ही अवरुद्ध होती है। गैर–जिम्मेदारी की वृत्ति बढ़ती है। नेतृत्व संकुचित व व्यक्तिवादी बनता है। संगठन–शास्त्र की दृष्टि से यह सब हानिकर है। उपर्युक्त माध्यम के कारण ही राष्ट्रहित से दलीयहित एवं दलीयहित से व्यक्तिगत हित को प्राथमिकता मिलती है। इससे दलों में गुटबाजी पनपती है। व्यक्तिवाद अधिकाधिक बलशाली बनता है। दल अपने–अपने सिद्धांतों के कारण नहीं, नेता के कारण जाने जाते हैं। अर्थात् दल का नेता होने के स्थान पर नेता का दल बन जाता है। इस

15 *हिंदुत्व आधारित लोकतंत्र विकसित करने की आवश्यकता।*

प्रकार लोकतंत्र के नाम पर सामंतशाही का प्रचलन होने की संभावना बढ़ रही है।

हिंदू जीवन एवं हिंदू संस्कृति के अभिमानी हम लोगों ने उपर्युक्त बातों का अनुभव कर वर्तमान युग के योग्य हिंदू लोकतंत्र पद्धति के आविष्कार की दिशा में कोई सक्रियता नहीं दिखाई। पश्चिम में उपजी किसी-न-किसी पद्धतियों में से कुछ-न-कुछ अपनाकर सुधार की संभावना की अपेक्षा की जा रही है। मूल समस्या उपेक्षित हो रही है।

उपर्युक्त स्थिति के बावजूद इसी राजनीतिक पद्धति के अंतर्गत हम काम करने जा रहे हैं। संभवतः हिंदू श्रद्धा के आधार पर नीलकंठ शंकर भगवान् के समान उपर्युक्त पद्धति के विषधर को हमने गले लगाया है। कीचड़ से कमल उगाने की हमारी आकांक्षा हो सकती है। लगातार 39 साल के प्रयासों ने उपर्युक्त पद्धति के माध्यम ने ही हमें वर्तमान सफलता प्रदान की है। उस सफलता का लाभ उठाकर हमें हिंदुत्व आधारित लोकतंत्र की विधि विकसित करने की दिशा में बढ़ना चाहिए।

हिंदुओं की अखंड अनुभव परंपरा हमें बताती है कि आर्थिक सत्ता एवं शासन सत्ता को एक इकाई के रूप में अपनाना घातक है। कारण, यह निरंकुशता एवं एकाधिकार का मार्ग है। इन्हें एक-दूसरे से पृथक् रखकर भी उन पर धर्मसत्ता का अंकुश आवश्यक है। वर्तमान काल के अनुरूप उस दिशा में किस प्रकार व्यवस्था खड़ी की जा सकती है, यह निश्चित करने का यही समय है।

हमें और भी एक बात का विचार करना नितांत आवश्यक है। हिंदू शासन, अशोक के काल का अपवाद छोड़कर कभी भी सांप्रदायिक नहीं रहा। इस तथ्य को हम बड़े अभिमान से कहते आ रहे हैं। साम्प्रदायिक शासन की पद्धति अभारतीय है, यह हमारा कहना है। अतः अपनी सरकारों के संचालन में हमारा यह चिंतन प्रतिबिंबित होना चाहिए, तभी हिंदुत्व को पुनर्प्रतिष्ठा प्राप्त होगी।

अतः उपलब्ध संस्कारों की सफलता एवं आदर्श शासन व्यवस्था खड़ी करने की दिशा में गतिशील होने के लिए निम्न सुझाव उपयोगी हो सकते हैं—

प्रशासन में निष्पक्षता, प्रामाणिकता एवं नैतिकता का अभाव निरंतर बढ़ रहा है। दबंग व्यक्तियों के दबाव में, नीचे से ऊपर तक, प्रशासकीय निर्णय होते आ रहे हैं। क्षमता एवं गुणवत्ता की उपेक्षा होती है। अतः क्षमता अर्जित करने की प्रेरणा ही समाप्त हो रही है। ऐसी स्थिति में राष्ट्र का भविष्य कैसे बनेगा, यह प्रश्न है। अपनी सरकारें इस अनुचित दिशा को बदलेंगी, यह अपेक्षा है। यह अपनी प्रतिष्ठा का विषय माना जाना चाहिए। अतः—

- अनौपचारिक रूप से एक-एक सरकार के लिए एक-एक या सभी सरकारों को मिलाकर एक 'नैतिक सलाहकार समिति' गठित की जाएं। इस समिति में राजनीति से पूर्णतः अलिप्त और निष्पक्ष वृत्ति के लोग रखे जाए। इसमें वेद व उपनिषदों का एक ज्ञाता, इसलाम धर्म का एक उदारवादी विद्वान् मौलवी, ईसाई धर्म का एक राष्ट्रवादी कार्डिनल तथा पारसी धर्म का एक पंडित रखा जाए। इसके अतिरिक्त समाज विज्ञान की एक विद्वान् महिला, राष्ट्रीय एकता एवं एकात्मता का पुरस्कर्ता हरिजन एवं गिरिजन रखा जाना चाहिए। सातवां व्यक्ति हो उच्चतम न्यायालय का अवकाश प्राप्त न्यायाधीश, जो निर्भीक न्यायदान की कीर्ति से विभूषित हो। इस न्यायाधीश को ही इस समिति का संयोजक बनाना उपयुक्त होगा।

यह समिति इस बात का प्रयास करेगी कि शासन में, प्रशासन में तथा आम लोगों में नैतिकता का स्तर बढ़े, पक्षपात का निर्मूलन हो एवं भ्रष्टाचार पर अंकुश लगे।

इस समिति को न संवैधानिक, न कानूनी अधिकार होगा। इसका आधार केवल नैतिक होगा। यह अपने नैतिक प्रभाव के माध्यम से अपनी कार्यशैली विकसित करेगी। इस समिति के सुझावों को सरकार या सरकारी तंत्र अनिवार्य रूप से माने, यह आवश्यक नहीं होगा, किंतु इस समिति के सुझावों को समाचार-पत्रों में तथा प्रसार एवं प्रचारों के माध्यमों में उचित स्थान मिले, इसका ध्यान अवश्य रखना होगा। उससे नैतिक स्तर बढ़ने की दिशा में आम लोगों में सुसंवाद एवं लोक शिक्षण प्रारंभ होगा।

संभवतः ऐसी समिति का सुझाव मुख्यमंत्रियों या मंत्रिमंडलों को रुचिकर न अनुभव हो, किंतु ऐसी किसी व्यवस्था के बिना सरकारों की जनसाधारण में विश्वसनीयता बढ़ना संभव नहीं होगा।

सरकार के प्रत्येक मंत्रिमंडलीय विभाग के लिए उस विभाग का अनुभवी या जानकार व्यक्ति मंत्री के रूप में मिल पाना लगभग असंभव है। इस सिद्धता की ओर राजनेताओं ने कभी ध्यान ही नहीं दिया है। ऐसी स्थिति में नीति एवं कार्यान्वयन की प्रचलित दिशा में आवश्यक परिवर्तन करने के लिए हमें विशेष व्यवस्था करना आवश्यक है। अतः—

- हम हर प्रदेश के लिए विशेषज्ञों की एक समिति गठित करें। उसमें कृषि, औद्योगीकरण, विकेंद्रीकरण, पंचायत व्यवस्था, सबके लिए स्वास्थ्य, सबके लिए शिक्षा एवं रोजगार विषय के अनुभवी विशेषज्ञ रखे जाएं। यह भी कानूनी अधिकार संपन्न समिति न होकर एक अनौपचारिक सलाहकार समिति मात्र होगी। इस समिति के सुझाव भी अनिवार्य रूप से पालन करने का बंधन मंत्रिमंडल पर नहीं रहेगा, किंतु इस समिति के सुझावों को पर्याप्त प्रसिद्धि मिलनी चाहिए। इस समिति में प्रशासनिक कार्य का एक अनुभवी मर्मज्ञ एवं प्रबंध विज्ञान का विशेषज्ञ भी रखना आवश्यक है। इससे जन-सहकारी लोकतंत्र का रूप विकसित हो पाएगा तथा सरकार तंत्र में दायित्व की भावना पनप सकेगी।

16

नई दिल्ली, 21 मार्च, 1992

प्रिय श्री कपूर साहब,

आपका 18 मार्च, 1992 का छोटा सा हस्तलिखित पत्र पढ़ा। आश्चर्य एवं दुःख हुआ। आप समान धीर-गंभीर व्यक्ति का विचलित होना अपेक्षित नहीं था। इसी कारण मुझे आपका 20.12.91 का भी हाथ से लिखा दो पेज का भी पत्र निकालकर पढ़ना पड़ा।

इन दोनों पत्रों से प्रगट होता है कि आपने धारणा बना ली है कि आप पर भरोसा नहीं है। यह केवल शंका मात्र है। इसमें कोई तथ्य नहीं है। अन्यथा संघ ने आप पर इस नूतन विश्वविद्यालय के कुलपति का दायित्व सौंपा न होता। मा. श्री शेषाद्रिजी एवं रज्जू भैयाजी की और आपकी भेंट

इसी माह की आठ तारीख को लखनऊ में हुई थी। उनका आपके प्रति स्नेह व विश्वास अनुभव कर आपने स्वयं प्रसन्नता व्यक्त की थी। और अब केवल दस दिन में ही आपको संघ के लोगों का अविश्वास अनुभव होने लगा।

आप रात-दिन कितनी लगन के साथ काम कर रहे हैं। आपके काम की गतिशीलता अद्वितीय है। इसकी सभी लोग प्रशंसा करते हैं। आपके इन गुणों से संघ के छोटे-बड़े सभी प्रभावित हैं।

किंतु संघ ने जानबूझकर अपने स्वयंसेवकों की एक मानसिकता विकसित की है। उस मानसिकता को समझना जरूरी है। अन्यथा उनका सहयोग पाना कठिन होता जाएगा। संघ की स्थापना के काल में देश के चोटी के विचारकों एवं जननेताओं ने दृढ़ धारणा बना ली थी कि देश भर के हिंदुओं का संगठन खड़ा करना कुत्ते की पूंछ को सीधी करने की मूर्खता मात्र है। संघ ने इस चुनौती को स्वेच्छा से स्वीकार किया। 1925 में इस कार्य की नींव रखी। और इस असंभव काम को देशव्यापी स्तर पर खड़ा कर दिखाया है। अब इस बात को संघ के केवल प्रेमी ही नहीं, संघ के विरोधी भी मानने के लिए विवश हैं।

आज के इस युग में नौजवानों की मानसिकता से आप भली-भांति परिचित हैं। उनके जीवन में उपभोग वृत्ति एवं स्वार्थपरता की कितनी व्यापक एवं प्रबल आकांक्षा है, यह किसी से छिपा नहीं है। अनुशासनहीनता उनका स्वभाव बन गया है। इसके बावजूद संघ द्वारा प्रतिवर्ष सैकड़ों की संस्थाएं, अपनी जवानी की बली चढ़ाकर, राष्ट्रकार्य के लिए अपना जीवन समर्पित करनेवाले नवयुवक (सुशिक्षित) निकाले जा रहे हैं। उनके कान पर जब चित्रकूट ग्रामोदय सपना साकार करना असंभव सी बात है—ये शब्द पड़ते हैं तो उनके गले यह बात उतर नहीं पाती।

आपने अपने 20.12.91 के हस्तलिखित पत्र में प्रथम वाक्य लिखा है—''मानव को मानव बनाना एवं ग्राम व समाज की पुनर्रचना आज के युग में असंभव सा सपना है।'' यह भाषा संघ की मानसिकता से मेल नहीं खाती। इसी कारण संभवतः संघ के कार्यकर्ताओं की प्रतिकूल प्रतिक्रिया प्रगट होती होगी। हमें उनका सहयोग लेते समय इस बात का ध्यान अवश्य रखना होगा कि संघ की मानसिकता के विपरीत बातें न हों। कारण, आवश्यक कार्य असंभव भले ही दिखाई पड़े—उसे संभव बनाने में हमें अपना सबकुछ दांव पर लगाना है। संघ ने ही उनकी यह मानसिकता विकसित की है। अपने सुसंस्कारों द्वारा मुझे विश्वास है कि आप इस नाजुक पहलू को सहज में ही समझेंगे।

उपर्युक्त बातें लिखने का आप यह अर्थ न लगाएँ कि संघ का कार्यकर्ता सर्वांग परिपूर्ण है। उन्हें परिपूर्ण बनाने की प्रक्रिया सतत चलाए रखनी पड़ती है। संघ ही कार्य करता है। कारण,

16 *अपने हर कार्य की प्रेरणा व उसका श्रेय संघ को देना नानाजी का स्वभाव था। किसी को इस बारे में शंका हो तो वे बड़े आग्रहपूर्वक उसका समाधान किया करते थे। जब चित्रकूट ग्रामोदय विश्वविद्यालय के तत्कालीन कुलपति श्री राजनारायण कपूर कतिपय कारणों से पद छोड़ना चाहते थे। उस समय उन्हें लिखा गया पत्र।*

मानव के पतन की संभावना सदैव बनी रहती है। उसके लिए महर्षि और ब्रह्मर्षि विश्वामित्र का ही उदाहरण पर्याप्त है।

इसी संदर्भ में आपके 20.12.91 को लिखे पत्र में से एक और बात का उल्लेख करना उपयोगी होगा। उस पत्र में आपने लिखा था—''वर्तमान पद मेरे लिए कोई गौरव नहीं है। पर उस पद को गौरवशील बना दिया जाए यह प्रयत्न है मेरा।'' संघ की मानसिकता में यह चिंतन ठीक दिशा का द्योतक नहीं माना जाता। कारण, यह पद विश्वविद्यालय के विकास के लिए समर्पित एक माध्यम है। विश्वविद्यालय का गौरव बढ़ाना इस पद का कार्य है। विश्वविद्यालय का गौरव बढ़ेगा तो इस विश्वविद्यालय के केवल पदाधिकारियों का ही नहीं, विश्वविद्यालय के छोटे-बड़े सभी लोगों का गौरव बढ़ेगा। विश्वविद्यालय अस्तित्व किसी पद के लिए नहीं, हर एक पद विश्वविद्यालय के लिए अस्तित्व में लिया गया है। पंडित जवाहरलाल नेहरू और इंदिरा गांधी ने व उन्हीं की मानसिकता के अन्य नेताओं ने पद का गौरव बढ़ाने के चक्कर में भारत के गौरव की उपेक्षा की। उसी के दुष्परिणाम देश को भुगतने पड़ रहे हैं। संघ ने इस चिंतन को हमेशा ही गलत माना है। इस कारण उपर्युक्त भाव कहीं और किसी भी रूप में प्रगट हुआ तो संघ के व्यक्ति की प्रतिक्रिया सहज में ही प्रतिकूल होगी। कारण है, उसकी विकसित की गई मानसिकता। यह अविश्वास का कारण नहीं माना जाना चाहिए।

चित्रकूट ग्रामोदय विश्वविद्यालय शिक्षा क्षेत्र की एक अभिनव प्रयोगशाला है। प्रयोगशाला बनी बनाई लीक पर चलनेवाली प्रक्रिया नहीं हुआ करती। इसमें नित्य नूतन बातें उभरती रहेंगी। इस प्रयोगशाला में पदाधिकारी, पढ़ानेवाले, पढ़नेवाले सभी सहभागी होंगे। यह एक पारिवारिक रूप ग्रहण करती जाएगी। यहां के कार्य का अनुशासन प्रशासक एवं प्रशासित का नहीं, अपितु परिवार के सदस्यों जैसा आत्मीयतापूर्ण परस्पर-पूरकता का होगा। तभी सबकी प्रतिभाओं का विकास एवं उपयोग होगा। इसी प्रक्रिया के माध्यम से उपयुक्त व अपेक्षित शिक्षा पद्धति विकसित हो पाएगी।

मेरा विश्वास है कि आप धैर्य धारण कर उपर्युक्त पद्धति के विकास में संलग्न होकर कुछ ही काल के बाद अपने जीवन की सार्थकता अनुभव करने लगेंगे।

मैंने जो कुछ इस पत्र में लिखा है, वह आप के प्रति अंत:करण की असीम आत्मीयता के कारण और आप में मेरे अविचल विश्वास के कारण वस्तुस्थिति को स्पष्ट शब्दों में अंकित किया है। विश्वविद्यालय की प्रयोगशाला में आपका योगदान बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसकी अनुभूति आपको कुछ सालों बाद करने को मिलेगी। यह मैं विश्वास के साथ करता हूं। आप भावुक बन कुलपति पद से हटने का विचार मन में भी न आने दें। हां, कुछ सावधानी बरतना आवश्यक है। आप निस्संदेह होकर कार्य में जुटे रहें।

इस विश्वविद्यालय का कार्य स्वयं स्वीकृत महान् चुनौती है। आजादी के गत 45 सालों में जो संभव नहीं हो पाया, उसे संभव कर दिखाना है। इसके संभव होने में मुझे तनिक भी संदेह नहीं

अपितु पूरा विश्वास है। कारण, हम सफलता का श्रेय लेने के लिए काम में संलग्न नहीं हैं। श्रेय बांटना हमारा काम है।

इस कार्य में हमें संघ शक्ति का पूरा योगदान मिल रहा है। अन्यथा यह विश्वविद्यालय अस्तित्व में ही नहीं आता। यह विश्वविद्यालय वस्तुतः संघ का ही सपना है। यह नाना देशमुख का व्यक्तिगत सपना नहीं है। नाना देशमुख के जीवन से संघ हटाकर देखें तो आप शून्य के अतिरिक्त कुछ नहीं पाएंगे। यह सब संघ प्रेरणा का ही परिणाम है।

मेरा पूरा भरोसा है कि आपका शुद्ध एवं निर्मल हृदय इस पत्र में अंकित आशय को सहज में ही ग्रहण करेगा। कारण, आप के प्रति भी असीम आत्मीयता ने ही मुझे यह पत्र लिखने के लिए प्रेरित किया है। हम दोनों को मिलकर सबके सहयोग से सभी बाधाओं को लांघकर सफलता पानी है। ईश्वर अपने साथ है।

17

दिल्ली, 6 मार्च, 1993

माननीय श्री रज्जू भैया,

आपकी अनुमति लेकर जयपुर जा रहा हूं। मस्तिष्क में कुछ विचार उठे। सतत संघर्षशील रहना लाभदायी नहीं होगा। गांधीजी इस बात को समझते थे। कोई आंदोलन वे बहुत लंबा खींचते नहीं थे। दस साल की अवधि दिया करते थे। 1956 में डॉ. लोहिया ने सतत संघर्ष की शुरुआत की थी। मैंने उनसे सहज में ही कहा था कि सतत संघर्ष की कार्यशैली संभवतः व्यावहारिक न रहे। इस पर उन्होंने कहा था कि जब अधिकांश समाज अशिक्षित एवं निरक्षर रहता है तो सतत संघर्ष के अतिरिक्त अन्य उपाय परिणामजनक नहीं होता। किंतु 1962 तक उन्हें अनुभव होने लगा कि सतत संघर्ष ने उनके खास-खास लोगों को भी थका दिया है। तब उन्होंने 1962 के बाद ही गैर-कांग्रेसवाद का दौर प्रारंभ किया था।

अपना संघर्ष 1986 से सतत चल रहा है। उसमें व्यापक स्तर पर लोगों को जुड़ना पड़ रहा है। हमारे पास अद्वितीय संगठन शक्ति है। फिर भी अधिकांश कार्यकर्ता पारिवारिक हैं। उनके पारिवारिक जीवन पर सतत संघर्ष का विपरीत परिणाम होता है। यह बात आपके भी ध्यान में आई है।

इसका एक अन्य पहलू भी है। हम से ही प्रेरित राजनीतिक दल भी कार्य कर रहा है। उसके अन्य राजनीतिक कार्यक्रम उपेक्षित हो रहे हैं। राजनीतिक क्षेत्र में प्रभावी होने के लिए तथा शासन क्षमता अर्जित करने के लिए अन्य पहलुओं की उपेक्षा घातक होगी। इन सब बातों का विचार करने पर मुझे लगता है कि हम अपने संघर्ष को कुछ काल के लिए कानूनी लड़ाई का रूप प्रदान करें। संभवतः तात्कालिक दृष्टि से यह नीति उपयुक्त हो सकती है।

17 *संगठन शक्ति के उपयुक्त प्रयोग पर बल।*

विराट् पुरुष

18

25 जनवरी, 1994

प्रिय श्री देवेंद्रजी,

आपसे मेरे पुराने स्नेह संबंध हैं। अनेक विषयों पर आप और मैं मिलकर विचार–विनिमय करते रहे हैं, किंतु शोध संस्थान से अलिप्त होने का निर्णय आपने मुझसे सलाह किए बिना किया, इसकी अपेक्षा नहीं थी।

आप अपनी इच्छा से शोध संस्थान के कार्यों में सक्रिय हुए थे और स्वेच्छा से ही आपने स्वयं को अलिप्त कर लिया है। इसके बावजूद अपने परस्पर संबंध पूर्ववत् स्नेहपूर्ण रहेंगे, ऐसा मेरा विश्वास है।

आपके 31 दिसंबर, 94 के पत्र में कुछ ऐसे कटाक्ष हैं कि मुझे यह पत्र लिखना आवश्यक हो गया है। कारण, आपको कुछ बातों की जानकारी नहीं है। हो भी नहीं सकती। कारण, इस कार्य के प्रारंभ में मेरा आपसे संपर्क कम हो गया था।

स्व. पं. दीनदयालजी की हत्या 1968 की 11 फरवरी को हुई थी। 30, डॉ. राजेंद्र प्रसाद मार्ग पर 13 फरवरी को ही जनसंघ की कार्यकारिणी की बैठक हुई थी। उसमें प्रिय श्री अटलजी का जनसंघ में अध्यक्ष के रूप में चयन किया गया था। उसी बैठक में पं. दीनदयाल उपाध्याय स्मारक समिति के गठन का भी प्रस्ताव पारित किया गया था। प्रस्ताव में ही इस स्मारक समिति के गठन का दायित्व मुझ पर सौंपा गया था। तदनुसार मुले जी? श्री माधवरावजी के साथ परामर्श करते हुए मैंने स्मारक समिति के संविधान, उद्देश्य एवं कार्यक्रमों का प्रारूप बनाया था। उसे स्व. माधवरावजी ने स्व. प.पू. गुरुजी को दिखाकर कुछ परिवर्तन करते हुए मुझे वापस दिया था। जनसंघ के अजमेरी गेट स्थित कार्यालय में उसे टाइप कराकर सात लोगों के हस्ताक्षरों के साथ पंजीकरण के लिए दिल्ली के रजिस्ट्रार कार्यालय में फाईल किया गया था। इस प्रकार संघ के प्रमुख अधिकारियों के परामर्श से पंजीकृत दस्तावेज ही दीनदयाल शोध संस्थान की अधिकृत प्रारंभिक भूमिका है।

दीनदयाल शोध संस्थान दीनदयालजी की स्मृति कायम रखने के लिए है। आपको स्मरण होगा कि दीनदयालजी द्वारा खोजे हुए एकात्म मानववाद को संघ की प्रारंभ से ही मान्यता रही है।

दीनदयालजी द्वारा प्रस्तुत एकात्म मानववाद की अवधारणा पर विस्तृत चर्चा करने के लिए ग्वालियर में (विजयवाड़ा अधिवेशन के पूर्व) देश भर के प्रमुख कार्यकर्ताओं की बैठक हुई थी।

उसमें मा. श्री बाला साहब ने नागपुर से आकर भाग लिया था।

18 *संस्थान के कामकाज को लेकर नानाजी के एक वरिष्ठ सहयोगी के मन में कुछ संदेह पैदा हो गए थे। नानाजी ने उनका विस्तार से उत्तर दिया। संस्थान के उपाध्यक्ष रहे श्री देवेंद्र स्वरुप को लिखा गया पत्र।*

उसके बाद दीनदयालजी प.पू. गुरुजी से मिलने नागपुर गए थे। उनके साथ मैं भी था। उस समय गुरुजी ने प्रसन्न होकर कहा कि तुम्हारा एकात्म मानवदर्शन तो अपने परंपरागत जीवन दर्शन का संक्षेप में किंतु युगानुकूल भाष्य है।

इस दर्शन को केवल बौद्धिक गतिविधियों तक सीमित रखना अपेक्षित नहीं है। तदनुसार सामाजिक जीवन रचना खड़ी करना आवश्यक है। उसी पावन कार्य में दीनदयाल शोध संस्थान संलग्न है। इसी के लिए शोध संस्थान की स्थापना हुई है।

देश के सम्मुख अनेक गंभीर चुनौतियां हैं। उनका मुकाबला किया जाना अति आवश्यक है, किंतु सभी आवश्यकताओं का बोझ इस शोध संस्थान पर लादा जाएगा तो संस्थान जिस काम के लिए स्थापित हुआ है, उसमें बाधा पहुंचेगी।

आप भली-भांति जानते हैं कि संघ ने अलग-अलग महत्त्वपूर्ण कामों के लिए अलग-अलग संगठन खड़े किए हैं। आपको अधिक प्रिय अनुभव होनेवाले कार्य के लिए संघ की अनुमति से आप एक स्वतंत्र संगठन खड़ा करोगे तो संघ को प्रसन्नता होगी और आपका सपना भी प्रभावी रूप में साकार हो पाएगा।

मा. श्री बाला साहेब ने सरसंघचालकत्व का दायित्व ग्रहण किया तो उन्होंने सामाजिक परिवर्तन के कार्य पर विशेष बल देना प्रारंभ किया। सामाजिक अवस्था की प्रत्यक्ष अनुभूति में से उन्होंने इस कार्य को विशेष महत्त्वपूर्ण समझा। अतः दीनदयाल शोध संस्थान द्वारा युगानुकूल सामाजिक पुनर्रचना के विभिन्न प्रयोग पूज्य बाला साहेब के निर्देशन के ही अनुसार है।

यह कार्य इतना कठिन किंतु नितांत आवश्यक है कि संस्थान अन्य कोई नया दायित्व ग्रहण कर स्वीकृत कार्य की अवहेलना नहीं कर सकता।

केवल वैचारिक कामों की महत्ता एवं आवश्यकता को मैं कम नहीं मानता, किंतु बौद्धिक दृष्टि से उच्चतम, आकलन की दृष्टि से अचूक विचारकों को मैं देखता हूं, वे सामाजिक अवस्था का अच्छा निदान करने की बेजोड़ क्षमता रखते हैं, किंतु वे अपनी समान रूप से शिक्षित पत्नी में सामाजिक दायित्व निभाने की प्रेरणा नहीं जगा पाते। अपने बच्चों को अपनी गृहस्थी के किसी सामाजिक दायित्व निभाने के संस्कार नहीं दे पाते।

क्या ऐसी स्थिति में सामाजिक पुनर्रचना का कार्य द्वितीय दरजे का स्थान पाएगा? इस पर आप गंभीरता से विचार करें, यह मेरा अनुरोध है।

आपने संघ और शोध संस्थान के रिश्ते की बात उठाई है। आपने यह भी लिखा है कि संघ के शीर्ष नेतृत्व के साथ परामर्श कर संस्थान का काम चलाया जाना चाहिए।

मेरा संघ जीवन सबके सामने स्पष्ट है। मैं भी अपने बारे में न कुछ लिखता हूं न कहता हूं, किंतु मेरे सुदीर्घ संघ जीवन में प्रथम बार मेरी संघनिष्ठा पर प्रश्न-चह्न उठाया गया है। उससे मैं हतोत्साहित हूं। इसी कारण आपकी जानकारी के लिए निम्न बातें लिख रहा हूं।

मैं 1928 के शीत काल से स्वयंसेवक के नाते संघ में सक्रिय हूं। 1940 से स्वीकृत प्रचारक जीवन बिता रहा हूं। इतने लंबे संघ जीवन में क्षण मात्र के लिए भी न मैं संघ कार्य से दूर रहा न

निष्क्रिय। आज तक किसी ने भी मेरी संघनिष्ठा पर या संघ के रिश्ते पर या शीर्ष नेतृत्व के आदेश पालन पर उंगली नहीं उठाई थी। संघ जीवन में मुझे अनेक क्षेत्रों में काम करने के आदेश मिले। अपनी क्या पसंद है, इसका क्षण मात्र मैंने कभी विचार नहीं किया। जो भी काम सौंपा गया, पूरी निष्ठा एवं लग्न से करता आया हूं। आपने किस भावावेश में जानबूझकर संघ के साथ के रिश्ते का और शीर्ष नेतृत्व से परामर्श का सवाल खड़ा किया है, यह समझ पाना मेरी बुद्धि से परे है।

आपने यह भी लिख दिया है कि ''कहीं ऐसा न हो कि इन सोलह सालों में अर्जित विशाल अचल संपत्ति और सरकार तथा उद्योगपतियों से प्राप्त होनेवाली आर्थिक सहायता का मोह हमें बांध ले।'' क्या इतने सालों तक साथ-साथ रहकर भी आप इसी संदेहास्पद मानसिकता से ही प्रभावित है? मैं अन्य किसी के आर्थिक मोह के विषय में उल्लेख करने का अभ्यस्त नहीं हूं, किंतु दीनदयाल शोध संस्थान में आपने लिखी ऐसी प्रवृत्ति कभी अंकुरित न हो, इस दिशा में मैं प्रयत्नशील रहा हूं और हूं। मैंने 19 सितंबर, 1991 को शोध संस्थान के सचिव के नाते कार्यरत प्रि. महेशजी को पत्र लिखा था, जो सभी संबंधित लोगों को उन्होंने (प्रतिलिपि) भेजा था। आपको भी मिला होगा। उसमें आर्थिक पहलू का भी उल्लेख किया था।

अपने जीवन के 75 साल पूर्ण होने पर संघ के शीर्ष नेतृत्व से अर्थात् मा. श्री रज्जू भैया से हठ करता रहा कि वे संघ के किसी स्वयंसेवक को शोध संस्थान का अध्यक्ष के नाते दायित्व सौंपें। कुछ देर से ही क्यों न हो, रज्जू भैया ने मेरा आग्रह स्वीकार किया। अब मैं शोध संस्थान की प्रबंध समिति का भी औपचारिक सदस्य नहीं हूं। क्या यह आपके संदेह के लिए कोई गुंजाइश उपलब्ध करने की दिशा है?

आपने शोध संस्थान के कार्यों का मूल्यांकन करने की बात लिखी है। मैं इसका स्वागत करता हूं। कारण, इससे कार्यों के प्रगति की दिशा ठीक बनी रहती है और गति भी अधिक तेज होती है। किंतु मूल्यांकन के लिए दीनदयाल शोध संस्थान को ही केवल क्यों चुना जाए? किसी को इसकी गतिविधियों में रुचि न होने के कारण अपनी अरुचि का निशाना बनाने के लिए? क्या यह न्यायसंगत होगा? मैं विधायक दृष्टि से चाहूंगा कि संघ की प्रेरणा एवं मान्यता से चलनेवाले सभी कामों का तुलनात्मक मूल्यांकन करना अधिक न्यायोचित एवं सभी कामों की दिशा तथा गति के लिए बहुत लाभदायी सिद्ध होगा। क्या इस संबंध में भी आपने किसी अधिकारी को सुझाव दिया है?

19

04 फरवरी, 1995

माननीय श्री रज्जू भैया,

मेरे लिखने का विशेष महत्त्व नहीं है यह मैं जानता हूं, किंतु मन में उठनेवाले प्रश्न आपको भी न बताऊं तो मन की घुटन असह्य होने लगती है। अन्यथा पत्र लिखकर आपका समय खराब न करता।

दलगत राजनीति से अलिप्त, संगठित जन-शक्ति पर आधारित राष्ट्रीय नेतृत्व की आज सर्वाधिक आवश्यकता प्रतीत हो रही है। कारण, देश में सक्रिय राजनीतिक दल, लोकतंत्र की दिखावटी हामी भरते हुए व्यक्तिवाद को ही वरीयता दे रहे हैं। गुटबाजी उनकी कार्यशैली बनी है। सत्तालोलुपता के शिकार बन अपने समाज का निरंतर विघटन कर रहे हैं। अंतहीन संकटों से घिरे अपने राष्ट्र की उन्हें चिंता है, यह उनके आचरण से प्रगट नहीं होता।

इन गुमराह दलीय राजनेताओं को समझा-बुझाकर ठीक राह पर लाने के लिए समाज के संगठित, शक्ति-संपन्न, निष्पक्ष राष्ट्रीय नेतृत्व की वर्तमान काल में महती आवश्यकता है। ऐसे नेतृत्व का अभाव बुरी तरह खटक रहा है।

इस चिंताजनक परिस्थिति में समाज को एक परिवार के रूप में संगठित करने का व्रत लिए हुए हम संघ के स्वयंसेवक क्या करें, यह प्रश्न मन को कचोट रहा है।

20

चित्रकूट, 11 **अप्रैल**, 1995

प्रिय श्री देवेंद्रजी,

आपके मन में मेरे प्रति जो आक्रोश भरा हुआ था, वह आपने दो मार्च के पत्र द्वारा उगल दिया है। आपको उससे राहत मिली होगी। यह अच्छा हुआ। मैं अनेक दोषों का पुलिंदा हूं—इसकी मुझे भी कल्पना थी। आपने उसकी पुष्टि की। अतः आपका आभारी हूं।

मेरी ही त्रुटियों से अनेक श्रेष्ठजन शोध संस्थान से हटे हैं, अब और कोई हटे या नहीं, यह भी कहा नहीं जा सकता।

आप संघ के काफी पुराने कार्यकर्ता हैं। मैं भी गत पैंसठ सालों से अखंड रूप से संघ कार्य में सतत सक्रिय हूं। लगभग प्रारंभ से ही विभिन्न अधिकारियों के विश्वासपात्र एवं विशेष दायित्व वहन करनेवाले कार्यकर्ता संघ कार्य से भी अलग होते रहे हैं। आप उच्च कोटि के विचारक एवं दूरदृष्टि प्राप्त इतिहासज्ञ हैं। इस वस्तुस्थिति का तथ्यात्मक विश्लेषण कर आप मार्गदर्शन करने की क्षमता रखते हैं, किंतु आप केवल मुझ पर ही अपनी दृष्टि केंद्रित किए हुए हैं। दीनदयाल शोध संस्थान ने केंद्रीय कार्यालय के रूप में दिल्ली में केवल एक बड़ा भवन बनाया है। शेष तो कामचलाऊ ही स्थान है। शोध संस्थान का यह कार्य संघनीति के प्रतिकूल नहीं कहा जा सकता। संघ को भी कार्य की आवश्यकताओं से पूर्ण करने के लिए देश में विभिन्न स्थानों पर बड़े से बड़े भवन बनाने पड़े हैं। शोध संस्थान का गर्भकाल कब से कब तक माना जाए? वस्तुतः पं. दीनदयालजी के

19 *समाज के नेतृत्व के अभाव पर चिंता।*

20 *संघ और संस्थान के रिश्तों को परिभाषित करते हुए नानाजी ने अपने वरिष्ठ सहयोगी को विनम्रता लेकिन बेबाकी से अपने मन की बात कही।*

देहावसान के तीसरे दिन ही जनसंघ के प्रस्ताव द्वारा यह अस्तित्व में आया। उसी माह अर्थात् 1968 के फरवरी में ही इसका उद्देश्य, कार्यविधि तथा नियम लिपिबद्ध कर पेपर्स सोसायटीज नियम के अंतर्गत दिल्ली में रजिस्ट्रार के दफ्तर में दाखिल किए गए थे। इस कार्य में जनसंघ कार्यालय में तत्कालीन कार्यरत श्री योगेंद्रजी के अतिरिक्त कोई अन्य सहायक नहीं रहा। यह निर्विवाद सत्य है कि मैं समय-समय पर कलम के धनियों की सहायता अवश्य लेता रहा।

मुझे इस प्रसंग पर सहज में ही पूज्य बाला साहेब के एक बौद्धिक का स्मरण आ रहा है। उन्होंने कहा था कि विफलता को अपनानेवाला कोई नहीं होता। वह लावारिस ही बनी रहती है, किंतु सफलता के जनक बनने की होड़ लग जाती है। उनके इस कथन में कितनी सार्थकता है, इसकी मुझे इस समय अनुभूति हो रही है। आपने अच्छा ही किया कि अपने परिवार के किसी व्यक्ति को सामाजिक कार्य के लिए मेरे साथ नहीं जोड़ा, किंतु दूसरे भी सफल सामाजिक कार्य थे। आप स्वयं भी सामाजिक कार्य के अनुभवी है। किसी-न-किसी सामाजिक कार्य में अपनी संतान को लगा सकते थे। आप जैसे विचारक तथा भविष्य के गर्भ में छिपी संभावनाओं के आकलनकर्ता भी सामान्य लोगों के समान अपनी संतान को केवल पारिवारिक सुख-सुविधाओं में सीमित देखते हुए संतोष अनुभव करें तो देश और समाज का भविष्य कैसे बनेगा?

दीनदयाल शोध संस्थान का लक्ष्य एवं मार्ग पंजीकृत आलेख में अंकित है। 1950 में गोरखपुर में प्रारंभ किए गए सरस्वती शिशु मंदिर से मेरी सीमाएं सबको ज्ञात हैं। उससे अधिक की मुझसे अपेक्षा करना व्यावहारिक भी नहीं है।

दीनदयाल शोध संस्थान कुछ कर पाने की अवस्था में आया तब से ही कई लोगों ने अपनी-अपनी मनोकामनाओं को मूर्तरूप देने के लिए शोध संस्थान का उपयोग करने के प्रयास किए।

यह ईश्वर की कृपा ही थी कि ऐसे प्रयासों के बावजूद शोध संस्थान अपनी लक्ष्य सिद्धि के मार्ग से विचलित नहीं हुआ। परिणामस्वरूप उपर्युक्त लोग बहुत नाराज हुए हैं। उसके लिए कोई उपाय भी नहीं है। अतः इस विषय को आगे बढ़ाने की न आवश्यकता है, न मुझमें क्षमता ही है। मेरे कारण आपको जो भी कष्ट हुआ हो, उसके लिए मैं आपकी क्षमा चाहूंगा।

21

2 जुलाई, 1996

परम पूजनीय सरसंघचालकजी,

अपने समाज में विघटन की आंधी ने खतरनाक रूप ले लिया है। अपनी-अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए राजनेताओं ने जातिवाद की नाजुक भावनाओं का लाभ उठाना शुरू किया है। परस्पर घृणा को इतना बढ़ा दिया है कि टकराव की स्थिति पहुंच गई है। देश विभाजन के कटु अनुभव से राजनेताओं की आंखें खुली नहीं हैं। उपर्युक्त बातों के दुष्परिणाम महा भयंकर होने की संभावनाएं बढ़ रही हैं।

अभी हुए लोकसभा चुनावों ने क्षेत्रीय दलों को केंद्रीय सत्ता में स्थान दिलाया है। उनकी क्षेत्रीय

आकांक्षा बहुत बढ़ गई है। उनका व्याप बढ़ सकता है। इसी के साथ बहुराष्ट्रवादी कम्युनिस्टों को केंद्र में अतिमहत्त्वपूर्ण मंत्रालय मिले हैं। फलस्वरूप देश के विघटन की संभावनाएं बढ़ी हैं। दुर्भाग्य का विषय है कि विघटनकारी तत्त्वों के साथ संवाद करनेवाली समन्वयकारी शक्ति देश में नजर नहीं आती। परिणामस्वरूप विघटन की विभीषिका निरंकुश बनती जा रही है।

वस्तुतः मत–मतांतरों में समन्वय करने का सामर्थ्य केवल हिंदुत्व में ही रहा है, किंतु हिंदुत्व के नाम से मंडित शक्ति ने एक दलीय रूप ले लिया है। ऐसी विषम परिस्थिति में खंडित भारत की अखंडता बनाए रखने का आवश्यक काम कौन करें, यह समझ में नहीं आ रहा है। यह निर्विवाद सत्य है कि राष्ट्रजीवन में राजनीतिक कार्य परमावश्यक है, किंतु इस तथ्य को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता कि राजनीति तथा राजसत्ता अस्थिर तत्त्व है। उसके बनने–बिगड़ने की प्रक्रिया चलती ही रहती है। राष्ट्रजीवन में स्थिर एवं स्थायी तत्त्व है केवल समाज। इसी कारण अपनी अखंड अनुभव परंपरा ने अपने समाज को सनातन माना है। इस चिरंतन तत्त्व को सदैव सुसंगठित एवं एकात्म बनाए रखना ही सर्वाधिक महत्त्व का कार्य है। इसी बात को प.पू. गुरुजी ने एक बार कहा था कि ''सर सलामत तो पगड़ी पचास।''

जिस राजनीति को बहुत महत्त्व दिया जा रहा है, उसने अभी हुए लोकसभा चुनाव के माध्यम से उपयोगी तथ्य प्रगट किया है। अब उत्तर प्रदेश के चुनाव भी आ पहुंचे हैं। अतः लोकसभा चुनाव उत्तर प्रदेश में प्राप्त मतों का संक्षेप में विश्लेषण करके देखना उपयोगी होगा—

उ.प्र. में भाजपा को	**1,53,87,669**	**मत मिले हैं।**
मुलायम पार्टी को	**0,95,87,743**	**मत मिले हैं।**
काशीराम पार्टी को	**0,94,83,745**	**मत मिले हैं।**
मुलायम काशीराम मिलकर	**1,90,71,488**	**मत मिले हैं।**
भाजपा को मिले मतों से		
इन दोनों को मिलाकर	**0,36,83,819**	**मत अधिक मिले हैं।**
इनमें 10 प्रतिशत मुसलमान वोट	**0,20,00,000**	**हटाएं, तब भी**
भाजपा के मतों से उन्हें	**0,16,83,819**	**अधिक मत हैं।**

ये मत हिंदुओं के ही हैं। इनमें अधिसंख्य मत पिछड़ी मानी जानेवाली एवं हरिजन जाति के हैं। इससे स्पष्ट है कि हिंदू समाज का यह अधिक परिश्रमशील, साहसी एवं पराक्रमी वर्ग अपने संगठन से गत सत्तर साल के काम के द्वारा जुड़ नहीं सका है। यह वर्ग बहुमत में है। इसके बिना हिंदू संगठन अधूरा ही रहेगा। अब तो इस वर्ग के साथ जातिवादी राजनेताओं के निहित स्वार्थ जुड़ गए हैं। ऐसी स्थिति में क्या राजनीतिक प्रक्रिया के द्वारा हम अपने संगठन से इस वर्ग को जोड़ पाएंगे? हिंदू समाज को सुसंगठित करने का पूज्य डॉक्टरजी द्वारा निर्धारित संघ का सपना कैसे साकार होगा?

21 *सब वर्गों को साथ लेकर चलने का सुझाव। (पत्र लिखने के समय प्रोफेसर राजेंद्र सिंह सरसंघचालक थे।)*

प.पू. डॉक्टरजी स्वराज्य प्राप्ति के काल में राजनीति में बढ़-चढ़कर काम करते रहे हैं, किंतु इसी काल में अपने अनुभवों के आधार पर उन्होंने स्वयं को राजनीति से अलिप्त होकर संघ की स्थापना की। संघ प्रतिज्ञा में स्वराज्य प्राप्ति का लक्ष्य रखा कि संघ को सब प्रकार की राजनीतिक गतिविधियों से अलिप्त रखना स्वराज्य प्राप्ति के किसी संघर्ष में संलग्न होने दिया, न संघ के नाम से उन्होंने कोई संघर्ष छेड़ा। हिंदू समाज के संगठन के अतिरिक्त किसी भी काम में उन्होंने संघ शक्ति को बिखरने नहीं दिया। उनकी इस कार्यशैली से हमें कौन सा संदेश ग्रहण करना चाहिए?

देश की राजनीति दलीय आधार पर कार्यरत है। इस दलीय पद्धति ने समाज के विघटन का ही काम किया है। सत्तालोलुपता एवं भ्रष्टाचार को बढ़ाया है। रचनात्मक एवं सृजनात्मक कार्यों से प्रचलित राजनीति कोसों दूर है। उसने नैतिकता को रसातल में पहुंचा दिया है। परस्पर दोषारोपण इस राजनीति का चरित्र बन गया है। लोकतंत्र के आवरण में व्यक्तिवाद को बढ़ावा मिला है। गुटबाजी से कोई भी दल मुक्त नहीं है। आदर्शवाद ने दिखाने के दांत का रूप ले लिया है। उसके दुष्परिणाम सिद्धांतवादी संगठन पर भी पड़ रहे हैं। समय से विचारकर निर्णय का समय आया है। आप सब समझते हैं और मैं स्वयं भी जानता हूं कि मैं प्रज्ञावान नहीं हूं। एक बहुत मामूली किंतु निष्ठावान स्वयंसेवक हूं। संभवतः इसी कारण गत सोलह वर्ष से लिखे हुए मेरे पत्रों की उपेक्षा हो रही है। मन की व्यथा असह्य होने पर आपके सम्मुख उसे व्यक्त करता हूं। संभवतः इसी व्यथा में शेष जीवन बीत जाएगा। त्रुटि के लिए क्षमाप्रार्थी हूं।

22

19 सितंबर, 1996

प्रिय श्री तरुण विजयजी,

कई बार मन में आया कि आपको पत्र लिखूं, किंतु लिख नहीं पाया। आज लिख रहा हूं। हम दोनों संघ के स्वयंसेवक हैं, एक ही पथ के पथिक, एक ही ध्येय के आराधक। मैं देहातों में रहता हूं। हूं भी देहाती ही। उन्हीं में काम करता हूं। मेरा कार्यक्षेत्र सीमित है। वैचारिक स्तर भी तदनुकूल है। आप संपादक हैं। प्रबुद्ध लोगों में रहना आपके लिए अपरिहार्य है। आपका क्षेत्र बहुत व्यापक है। लोगों के चिंतन को चालन देना, उनका मार्गदर्शन करना आपका काम है।

कार्य एवं क्षेत्र की इतनी भिन्नता होने पर भी ध्येय तो एक ही है। संघ की दैनिक प्रार्थना से ही हम प्रेरणा पाते हैं। इसी कारण आपसी संवाद आवश्यक है। इसी कारण पत्र लिखने की आवश्यकता अनुभव हुई।

कार्यक्षेत्र भिन्न होते हुए भी एक-दूसरे के कार्य के विषय में तथा कार्यों के प्रतिफल के संबंध में मस्तिष्क में विचार उठते ही हैं। कारण, लक्ष्य की एकता और उसे प्राप्त करने की चिंता समसमान है। यही संघ के संस्कार हैं, जिनमें हम लोग पले और बढ़े हैं।

आवश्यक हो या अनावश्यक, पर विचार तो मस्तिष्क को झकझोरते ही हैं। पाञ्चजन्य और

इंडिया टुडे सामने आते हैं। पाञ्चजन्य से इंडिया टुडे की आयु आधे से अधिक नहीं है। वह एक व्यक्ति के बलबूते पर चलता है। उसके पास ध्येयवादी लोगों का किसी भी प्रकार का संगठन नहीं है, किंतु उसके पाठक देश में ही नहीं, विदेशों में भी बहुत बड़ी संख्या में हैं। यद्यपि वह अश्लील या नग्न चित्रोंवाली पत्रिका नहीं है, सर्वथा गंभीर है।

पाञ्चजन्य के लिए विश्वव्यापी तथा ध्येयवादी संगठन का आधार है। पाञ्चजन्य भी सब लोगों को अपने दृष्टिकोण से प्रभावित करने के लिए ही चलाया गया है, किंतु वह अधिकतर संघप्रेमी लोगों तक ही सीमित है। व्यापक स्तर पर आम लोगों में प्रचलित नहीं है। मैं प्रवासी हूं। प्रवास में पढ़नेवाले लोगों को इंडिया टुडे पढ़ते देखता हूं। खोजने पर भी किसी प्रवासी के पास पाञ्चजन्य दिखाई नहीं देता। ऐसा क्यों? यह प्रश्न मन में उठता है। यदि संघ के या संघप्रेमियों के लिए पाञ्चजन्य सीमित रखना है तो उपर्युक्त स्थिति के कारण चिंतित होने का कारण नहीं है। फिर भी मन में दूसरा प्रश्न खड़ा होता है कि पाञ्चजन्य के पाठक संघप्रेरित होने पर भी उनमें आदर्शवाद की कमी क्यों बढ़ रही है? यह मैं दोष ढूंढ़ने की कलुषित वृत्ति के कारण नहीं लिख रहा हूं। अपितु ये प्रश्न मन को कुरेदते रहते हैं। इस कारण व्यक्तिगत रूप में ही प्रगट कर रहा हूं।

इसका अर्थ यह न समझें कि मैं जिन कामों में लगा हूं, वे दोष रहित हैं। उनमें भी समय-समय पर कमियां अनुभव होती हैं। आपस में सामूहिक चिंतन कर हम उन कमियों को दूर करने में लगे हैं। उसमें भी आप जैसे विचारक सहायक बनें, यह हमारी अपेक्षा है। तभी एक ही पथ के पथिक होना सार्थक होगा। इसीलिए मेरा कहना है कि हम लोगों में संवाद की प्रक्रिया निरंतर चलती रहनी चाहिए, किंतु इसका अभाव है।

उपर्युक्त बातों के अतिरिक्त भी मूलभूत बातें हैं, जिन पर संवाद की जरूरत है। अपनी प्रार्थना में अंतर्निहित बातों को साकार करना हमारा स्वीकृत कर्तव्य है। वह ही हमारी सफलता की कसौटी है। हम अपनी अखंड अनुभव परंपरा के अभिमानी हैं। अपनी सभ्यता एवं संस्कृति के चिरंतन जीवन-मूल्यों को परिवर्तनशील परिस्थिति में भी कायम रखना हमारा दायित्व है। अतः उस दृष्टि से भी हमारा सतर्क, सजग एवं क्रियाशील रहना जरूरी है।

23

5 अक्तूबर, 1996

माननीय श्री शेषाद्रिजी,

भारतीय जनता पार्टी संघ के साथ अभिन्न रूप से जुड़ी है। वैधानिक रूप से सदस्य न होते हुए भी स्वयंसेवकों को विशेषतः चुनावों के काल में भाजपा के काम में संलग्न होना ही पड़ता

22 *लक्ष्य की एकता के प्रति जागरूकता बढ़ाने का प्रयास। (श्री तरुण विजय उस समय साप्ताहिक पाञ्चजन्य के संपादक थे।)*

है। भाजपा का नेतृत्व करनेवाले प्रमुख महानुभाव संघ के ही कार्यकर्ता हैं। अतः भाजपा में घटनेवाली धारणाओं का अनुकूल या प्रतिकूल परिणाम संघ कार्य पर अनिवार्य रूप से होता है।

उपर्युक्त वास्तविकता का संकेत है कि संघ अपनी योजना से चल रहे भाजपा को ठीक दिशा में चलाने की तत्परता बरतने का दायित्व निभाए। जब तक पं. दीनदयालजी जनसंघ का दायित्व संभालने के लिए थे, राजनीति के क्षेत्र में चलनेवाला अपना कार्य ठीक दिशा में प्रगति करता रहा। उस विधि का मर्म समझने की आज आवश्यकता है।

दीनदयालजी राजनीति के क्षेत्र में प्रत्यक्ष रूप में कार्यरत थे। वे न कभी विधायक बने, न सांसद। 1963 में उन्हें उपचुनाव लड़ने के लिए बाध्य किया गया था। तत्कालीन पूज्य सरसंघचालकजी भी उस उपचुनाव में दीनदयालजी को लड़ाने के स्थान पर जौनपुर के कार्यकर्ता श्री राजनीति सिंह को लड़ाना उपयुक्त मानते रहे। जिस दिन उस उपचुनाव का परिणाम घोषित हुआ, उस दिन पू. गुरुजी काशी में थे। दीनदयालजी जौनपुर से मुझे साथ में लेकर गुरुजी से मिलने काशी गए थे।

गुरुजी से भेंट होते ही गुरुजी ने कहा, ''बहुत अच्छा हुआ। यदि कहीं तुम लोकसभा में पहुंच जाते तो अर्थ और सत्ता की लालच से प्रभावित होनेवाले अपने कार्यकर्ताओं के मोह पर अंकुश लगानेवाला सक्षम कार्यकर्ता जनसंघ में बचता ही नहीं। ऐसी स्थिति में तुम्हारा जनसंघ भी अन्य दलों के समान पदलोलुप ही बन जाता।'' गुरुजी के इस मंतव्य का मर्म समझना आज अधिक आवश्यक है।

वर्तमान काल में भाजपा में सक्षम एवं चोटी के सभी संघकार्यकर्ता सांसद बन बैठे हैं। स्वतंत्र भारत का प्रथम मंत्रिमंडल बना था। तब गुरुजी ने अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए कहा था कि नेहरू और पटेल में से एक को सत्ता से अलिप्त रहना चाहिए था। इससे हम आज सहज में ही समझ सकते हैं कि गुरुजी की दृष्टि कितनी व्यावहारिक थी।

राजनीति के क्षेत्र में आर्थिक लाभ एवं शासकीय अधिकार के स्थान बहुत सीमित रहते हैं, किंतु उन स्थानों को पाने की लालसा रखनेवालों की संस्था अनगिनत रहती है। उपर्युक्त आकर्षण का मोह इतना प्रबल होता है कि वह स्वयं की योग्यता-अयोग्यता का विचार करने ही नहीं देता। इसी कारण राजनीतिक संगठन में ऐसे लोगों की भूमिका बहुत महत्त्वपूर्ण होती है, जिन में क्षमता तो सर्वोच्च हो किंतु वह स्वयं उपर्युक्त मोह से पूर्णतः अलिप्त बना रहे। इसी आवश्यकता पूर्ति के लिए गुरुजी ने दीनदयालजी का चयन किया था। इसी कारण जनसंघ के अध्यक्ष पदों पर भी कम अधिक योग्यता के लोगों के होते हुए भी जनसंघ का कार्य निरंतर प्रगति करता रहा।

जनसंघ के अध्यक्ष पद पर दीनदयालजी आरूढ़ होना नहीं चाहते थे। उनका अध्यक्ष बनना गुरुजी की इच्छा के भी प्रतिकूल था। यह काम वैसा ही हुआ था जैसे 1963 में दीनदयालजी का जौनपुर से सभा का उपचुनाव लड़ना। मैं इन सब बातों का प्रत्यक्षदर्शी हूं। कारण, दीनदयालजी साधारणतः सदैव मुझे साथ में रखा करते थे।

23 *दीनदयालजी की कार्यशैली समझने की आवश्यकता पर ज़ोर।*

राजनीतिक कार्य का संचालन करने के लिए उपर्युक्त मर्म को सदैव ध्यान में रखना आवश्यक है। अन्यथा राजनीति बेकाबू हो जाती है। 1947 के बाद की राजनीति की गति इस बात का नग्न उदाहरण है।

भाजपा की बिगड़ती हालत संभाल पाना तथा उसे ठीक दिशा में बढ़ाना अधिक कठिन नहीं है, किंतु संघ के किसी अधिकारी को यह काम सौंपकर राजनीतिक दल को आदर्शवादी बनाए रखना संभव नहीं है। उसके लिए प्रत्यक्ष राजनीति क्षेत्र में कार्यरत आदर्शवादी सक्षम नेतृत्व की ही व्यवस्था करनी होगी।

इस समय दीनदयालजी की भूमिका निभाने का काम करने की क्षमता प्रिय श्री लालजी आडवाणी में है। वे संघ के अविचल निष्ठावान कार्यकर्ता हैं। अध्यनशीलता एवं बुद्धिमत्ता से भी वे विभूषित हैं। राजनीतिक सूझबूझ विकसित करा लेना उनके लिए संभव है। मानवीय कमजोरियों से वे मुक्त हैं। सर्वसाधारण कार्यकर्ताओं के साथ मिल-जुलकर काम करना उनके लिए कठिन नहीं है। भाजपा के अध्यक्ष पद का भी उनका कार्यकाल पूर्ण होने जा रहा है। उनकी पारिवारिक आजीविका चलाने का दायित्व भाजपा को नहीं, संघ को ही निभाना चाहिए। कारण, उन्हें अब लोकसभा या राज्य सभा में पहुंचने से अपेक्षित दायित्व निभाना संभव नहीं होगा। विवाहित प्रचारकों की प्रथा संघ में काफी पुरानी है।

आवश्यक हो तो भाजपा के संविधान में संशोधन करना चाहिए। वरिष्ठ महामंत्री के स्थान की व्यवस्था करनी चाहिए। अध्यक्ष पद पर रहे व्यक्ति को महामंत्री पद पर काम करने में कठिनाई नहीं होनी चाहिए। अन्यथा वे किसी भी पद पर न रहते हुए वरिष्ठतम मार्गदर्शक (केंद्रीय समिति सदस्य रहकर) के नाते भी दीनदयालजी का दायित्व निभा सकते हैं।

उपर्युक्त निवेदन के अतिरिक्त एक और बात अति आवश्यक अनुभव होती है। देश की राजनीतिक परिस्थिति ने भाजपा को केंद्रीय तथा कई प्रदेशों में सत्ता पाने की स्थिति में पहुंचाया है। फलस्वरूप भाजपा में सत्ता संचालन की क्षमता निर्माण करना नितांत आवश्यक है। आजादी की अर्धशताब्दी बीत रही है। सत्ता पाने की होड़ सभी दलों में लगी है, किंतु सत्ता संचालन की क्षमता अर्जित करने का प्रयास कोई दल नहीं करता। भाजपा की स्थिति भी वही है।

संघ द्वारा समर्थित दल की यह दशा संघ के लिए भी घातक बन रही है। स्वीकृत संसदीय लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था में मंत्रिमंडल का गठन अनिवार्य है। राष्ट्र जीवन के विभिन्न कार्यों के सुव्यवस्थित संचालन के लिए मंत्रालयों की व्यवस्था की गई है। हर एक मंत्रालय के लिए उस कार्य का समझदार एवं अनुभव प्राप्त मंत्री की उपलब्धि अनिवार्य है। यह कार्य एक दिन में नहीं होता। इस क्षमता प्राप्ति के लिए व्यावहारिक धरातल पर प्रशिक्षण की आवश्यकता है। इसकी पूर्ण रूप से उपेक्षा हो रही है। उसके दुष्परिणाम देश को भुगतने पड़ रहे हैं। देश निराशा एवं हताशा के भंवर में फंसा है।

दुर्भाग्य है कि वर्तमानकालीन राष्ट्रनायक वक्तृत्व कला के ही प्रशंसक बने हुए हैं। कर्तृत्व की उपेक्षा हो रही है। कोरी उपदेशात्मकता कभी भी परिणामजनक सिद्ध नहीं होती, यह मानव इतिहास

का निष्कर्ष है। मैं अपेक्षा करता हूं कि आप इन बातों पर गौर करेंगे। आप संघ के शीर्ष स्थान पर हैं। इसी कारण एक स्वयंसेवक के नाते अपना मन आपके सम्मुख प्रगट करने का साहस किया है।

24

24 अक्तूबर, 1997

पूज्य प्रिय रज्जू भैया,

देश की राजनीति में आई अवनति केवल शासन एवं प्रशासन को ही नहीं बिगाड़ रही है, वह सामाजिक जीवन को भी छिन्न-भिन्न कर रही है। फलस्वरूप लोगों में भविष्य के प्रति निराशा छा गई है। उपाय के रूप में कुछ बुद्धिवादी संविधान का ढांचा बदलने को कह रहे हैं तो अन्य नेतागण निर्वाचन कानून में सुधार करने पर बल दे रहे हैं। सभी के सुझावों का आधार विदेशों में प्रचलित प्रणालियां ही हैं। अपनी समस्याओं का निराकरण इन उपायों से होने की गुंजाइश दिखाई नहीं देती।

स्वतंत्र भारत ने शासन की लोकतंत्र प्रणाली अपनाई है। उसे सफल सिद्ध कर दिखाने में ही अपनी प्रतिभा तथा प्रतिष्ठा है। अपना संविधान लागू होने के बाद बीते 47 साल के कार्यकाल का विश्लेषण करना उपयोगी होगा। उसी से समझ में आएगा कि इस काल में अपने लोकतंत्र का प्रवास केवल चुनाव-तंत्र तक ही पहुंच पाया है। चुनाव प्रक्रिया लोकतंत्र का प्रवेश द्वार है। वह स्वयं में लोकतंत्र नहीं है। सही अर्थ में अपने देश में अभी तक लोकतंत्र का शुभारंभ हुआ ही नहीं है।

आजादी पाने के बाद से देश के नागरिक अपनी देशभक्ति की भावना दैनंदिन जीवन में किस रूप में उतारें, यह किसी को भी स्पष्ट नहीं है। देश के नागरिक गत पचास सालों से देश कार्य की दृष्टि से निष्क्रिय बने हुए हैं। जिस स्वतंत्र देश की व्यवस्था में यह स्थिति हो, उसे लोकतंत्र कहना लोकतंत्र की विडंबना मात्र है। हम कदम-कदम पर दोहराते रहते हैं कि हमें दूसरे देशों की देखा-देखी काम नहीं करना चाहिए। हमें अपना मार्ग स्वयं निर्धारित करना चाहिए, किंतु प्रत्यक्ष व्यवहार तदनुरूप नहीं हो रहा है। यह चिंता का विषय है।

देश में आए दिन विचार गोष्ठियां होती हैं। जनजीवन के विभिन्न विषयों पर विद्वत्तापूर्ण बहस होती है। बड़े-बड़े शोध ग्रंथ लिखे जाते हैं। राष्ट्रीय एवं अंतरराष्ट्रीय पत्रिकाओं में खोजपूर्ण लेख छपते हैं। इन सबका व्यावहारिकता से सरोकार नहीं रहता।

प्राचीन भारत में विचार एवं व्यवहार में युक्ति होती थी। वे एक-दूसरे के पूरक हुआ करते थे। इसी आधार पर प्राप्त अनुभूति ही कार्य की दिशा निर्धारित करती थी। पुरातनतम वैदिक ज्ञान आधुनिकतम विज्ञान की कसौटी पर भी खरा उतर रहा है। अपनी परंपरागत चिंतन प्रक्रिया का यह जीता-जागता रूप है, किंतु स्वतंत्र भारत के बुद्धिवादियों ने चिंतन को अनुभूति से तलाक दिलाया है। यह कम्युनिस्ट कार्यशैली है। उनकी अनुभूति शून्य चिंतन प्रक्रिया के आधार पर

24 *वर्तमान सत्ता की राजनीति और लोकतंत्र की व्यावहारिक दिशा पर चिंता।*

खड़ी व्यवस्था व्यावहारिकता की धरातल पर एक शताब्दी तक भी टिक नहीं पाई। इसके बावजूद हमारे आधुनिक विचारक उन्हीं का अनुगमन करने में ही अपना पुरुषार्थ समझ रहे हैं। वस्तुतः विचार शून्य व्यवहार एवं व्यवहार शून्य विचारक भयानक अपघात का कारण बनता है। स्वतंत्र भारत में यही सब हो रहा है।

चुनावों की घोषणा होते ही सभी राजनीतिक दल अपना-अपना चुनाव घोषणा-पत्र लेकर मैदान में उतरते हैं। आधुनिकतम प्रचार साधनों के माध्यमों से मतदाताओं को लुभाते हैं। अपने जनहित के कार्यक्रमों से आम लोगों को आश्वस्त करते हैं। चुनाव घोषणा-पत्र प्रत्येक उम्मीदवार का सार्वजनिक शपथ पत्र होता है। उसी आधार पर मतदाता उसे विजयी बनाते हैं। अतः विजयी विधायक या सांसद का नैतिक दायित्व है कि वह अपने पांच वर्ष के काल में अपने चुनाव घोषणा-पत्र के अनुसार अपने चुनाव क्षेत्र में जन-सहयोग के द्वारा सर्वांगीण विकास में संलग्न हों। तभी देश के नागरिकों के हितार्थ सामाजिक विकास के द्वारा, जिसमें आर्थिक विकास भी अंतर्निहित है, अपनी देशभक्ति की भावना व्यावहारिक जीवन में उतारना संभव होकर देश में लोकतंत्र साकार हो पाता।

किंतु चुनाव समाप्त होते ही सभी राजनीतिक दल एवं निर्वाचित विधायक तथा सांसद अपने घोषणा-पत्र को दरकिनार कर देते हैं। उन्होंने चुनाव क्षेत्र के लोगों को क्या आश्वासन दिया था, इसकी उन्हें याद तक नहीं रहती। उन्हें प्रतिमाह वेतन, भत्ता एवं अनेक सुविधाएं प्राप्त होती हैं। वे किस काम के लिए चुनकर आए हैं—यह सोचने समझने की न दलों को परवाह होती है, न विधायकों को अथवा सांसदों को। चुनाव के बाद चल पड़ता है केवल सत्ता संघर्ष का तांडव। यही सिलसिला चलता रहा तो संविधान में परिवर्तन करने से या निर्वाचन कानून में सुधार करने मात्र से देश की दुर्दशा घटेगी नहीं—बढ़ती ही जाएगी।

राजनीतिक दल तथा उसके विधायक एवं सांसद चुनाव के बाद अपने चुनाव घोषणा-पत्र के अनुसार अपने-अपने चुनाव क्षेत्रों में जन-सहयोग से काम करने का अपना नैतिक दायित्व निभाने लग जाएं तो लोकतंत्र साकार होने के साथ-साथ निम्न सुपरिणाम प्रगट होंगे—

- हर एक विधायक एवं सांसद को अपने निर्वाचन क्षेत्र का पूरा परिचय होगा।
- निर्वाचन क्षेत्र की सभी आबादियों की समस्याओं एवं आवश्यकताओं की अनुभूति होगी।
- निर्वाचन क्षेत्र में उपलब्ध प्राकृतिक संसाधन कौन-कौन से हैं और कितनी-कितनी मात्रा में उपलब्ध हैं, इसका स्वअर्जित ज्ञान होगा।
- उपलब्ध प्राकृतिक संसाधनों का निर्वाचन क्षेत्र के निवासियों की उन्नति तथा बेकारी मिटाने में किस प्रकार सदुपयोग किया जा सकता है, इस पर विचार करना संभव होगा। तदनुसार सबकी सलाह से योजना बन सकेगी। स्थानीय आधार पर उपयुक्त तकनीकी विकसित करने की प्रेरणा प्राप्त होगी।
- आबादियों के निवासियों के सक्रिय सहयोग से विकास की सर्वांगीण संभावना बढ़ेगी।
- हर एक चुनाव क्षेत्र के नागरिकों को अपने इलाके का विकास करने का अवसर प्राप्त होगा। यही सच्ची स्वतंत्रता होगी।

- प्रशासनिक कर्मचारी सरकार की क्षेत्रीय योजनाओं का स्थानीय लोगों द्वारा बनी योजनाओं से समन्वय कर सकेंगे। इस प्रकार लोकतंत्र व्यावहारिक धरातल पर साकार होने लगेगा।
- व्यक्तिगत हित साधन के स्थान पर सामाजिक हितों के कामों को प्राथमिकता मिलने लगेगी। जातिवाद संप्रदायवाद या ऊंच-नीच की विभेदकारी भावनाएं उभरने की संभावनाएं घटेंगी।
- नागरिकों में परस्पर विद्वेष के स्थान पर सहयोग पनपना प्रारंभ होगा। समाज में बढ़ रही विषमता घटने लगेगी।
- विधायकों एवं सांसदों के व्यवहार से देश के चप्पे-चप्पे में उपलब्ध प्राकृतिक संसाधनों का उपयोग व्यक्तियों या घरानों के लिए होने के स्थान पर समाज की समृद्धि बढ़ाने में होने लगेगा।
- लोगों में रचनात्मक एवं सामाजिक वृत्ति पनपेगी। आबादियों में कमजोर बने हुए लोगों की उपेक्षा नहीं होगी।
- विधायक एवं सांसदों की लोकप्रियता बढ़ेगी। उन्हें चुनाव पर अनावश्यक व्यय करना नहीं पड़ेगा।
- विधानसभाओं एवं लोकसभा की कार्यवाही का स्तर ऊंचा उठेगा। निरर्थक बहस और परस्पर दोषारोपण की वृत्ति घटेगी। आवश्यकता पड़ने पर विधायक या सांसद मंत्रित्व का दायित्व निभाने में सक्षम सिद्ध होंगे।
- विधानसभाओं एवं लोकसभा की कार्यवाही नगरपालिकाओं एवं ग्राम पंचायतों के लिए अनुकरणीय बन पाएगी।
- इसी से विकेंद्रीकरण की प्रक्रिया पनपेगी तथा सफलता प्राप्त कर पाएगी।
- विधायकों एवं सांसदों की सुरक्षा स्वयं जनता करेगी। उनकी सुरक्षा के लिए सरकारी धन का अपव्यय नहीं होगा। भाषणबाजी के स्थान पर कर्तृत्व पनपना प्रारंभ होगा।
- इसी से नई पीढ़ी का ठीक दिशा में विकास होगा।

संघ का स्वयंसेवक होने के कारण राष्ट्रजीवन के किसी भी क्षेत्र में गड़बड़ी दिखाई देती है तो मन अस्वस्थ होता है। मस्तिष्क में विचार प्रक्रिया चल पड़ती है। मन में उभरे विचार अधिकारियों तक पहुंचाना मैं अपना धर्म मानता हूं। तदनुसार यह पत्र।

25

16 अप्रैल, 1998

पूज्य प्रिय रज्जू भैया,

मैं अपने बाल्यकाल से आज तक अखंड रूप से संघ-संस्कारों में पलता आ रहा हूं। अन्य आंदोलनों-संस्थाओं या विचारों के प्रभावों से पूर्णतः मुक्त रहा हूं। इस लंबे काल में संघनिष्ठा अविचल बनी रही। यह आजीवन बनी रहेगी, यह विश्वास है।

संघ जीवन के इस सुदीर्घ-काल में संघ के गंतव्य को अपनी अल्पबुद्धि के द्वारा समझने का

सतत प्रयास करता आ रहा हूं। मेरे इस प्रयास को अपनी नित्यप्रति की संघ प्रार्थना ने बहुत सुगम बना दिया है। संघ के गंतव्य को समाज के सर्वसाधारण नागरिकों के व्यावहारिक जीवन में उतारकर दिखाना एक स्वयंसेवक के नाते मैंने अपना दायित्व समझा है।

संघ के अपने आदर्श स्वयंसेवक स्व. दीनदयालजी की स्मृति में दीनदयाल शोध संस्थान की स्थापना की गई थी। उसी के माध्यम से मैं दो दशकों से उपर्युक्त लक्ष्यसिद्धि में प्रयोगात्मक प्रयासों में रात-दिन लगा हुआ हूं। सफलता-असफलता के झूले में झूलता हुआ लक्ष्यप्राप्ति के प्रति विश्वास वृद्धिंगत होने का अनुभव कर रहा हूं।

गत तीन साल में दीनदयाल शोध संस्थान ने जो कार्य प्रारंभ किया, उससे यह अनुभव दृढ़तर होता गया कि समाज स्वयं अपने बलबूते पर अपना सर्वांगीण-विकास कर सकता है। इन तीन वर्षों में व्यापक स्तर पर जनसहयोग बढ़ता ही जा रहा है। अनुभव के आधार पर लग रहा है कि अपने संघ की प्रत्येक शाखा इन कार्यक्रमों में से अनेक कार्यक्रम अपने ग्राम में क्रियान्वित कर सकती है।

26

चित्रकूट, 10 सितंबर, 1998

पूज्य प्रिय रज्जू भैया,

भारत स्वतंत्र हुआ उस समय पं. नेहरू और सरदार पटेल कांग्रेस के सर्वोच्च नेताओं के रूप में उभरे थे। दोनों को ही शासनारूढ़ बनाकर गांधीजी ने बड़ी भूल की थी। परिणामस्वरूप कांग्रेस का आदर्शवाद तिरोहित हुआ तथा नवस्वतंत्र भारत का शासन प्रारंभ से ही स्वावलंबन, स्वाभिमान एवं स्वपराक्रम की भावना से वंचित रहा, जो स्वातंत्र्य संग्राम की मूल प्रेरणाएं थीं। उसके दुष्परिणाम देश भुगत रहा है।

उस भूल से हमें बचना चाहिए था, किंतु अवसर पाते ही श्री अटलजी को प्रधानमंत्री और श्री लालजी को गृहमंत्री बनाकर हमने भी वही भूल दोहराई। इसके परिणाम अधिक घातक होंगे।

यह भूल होने की मुझे आशंका थी। अतः गत लोकसभा चुनावों के पूर्व 26 दिसंबर, 97 को ही मित्र के नाते पत्र लिखकर प्रिय लालजी से अनुरोध किया था कि वे न लोकसभा का चुनाव लड़ें, न राज्य सभा में जाना स्वीकार करें। उस पत्र की प्रतिलिपि उसी दिन आपके लिए केशव कुंज पहुंचा दी थी। अपेक्षा थी कि इस गंभीर बात पर आप अवश्य विचार करेंगे।

व्यावहारिकता की आवश्यकता होती है हर एक कार्य में, विशेषतः राजनीति के क्षेत्र में संतुलन

25 *शोध संस्थान के कार्यों पर संघ संस्कारों के प्रभाव को दरशाता पत्र ।*

26 *हिंदू समाज को कौटुंबिक आधार पर संगठित करने की संघ की कल्पना पर जीवनपर्यंत बल देते रहे नानाजी।*

बनाए रखने की विधि 'इन बिल्ट' बनाई जानी चाहिए। अन्यथा विफलता अवश्यंभावी होती है। महात्मा गांधी तथा जयप्रकाश नारायण इस विफलता के ज्वलंत उदाहरण हैं।

मुझे तीव्रता से अनुभव हो रहा है कि हम सब संघ कार्य के संबंध में विचार करें। पूज्य डॉक्टरजी ने संघ को कौटुंबिक इकाई के रूप में विकसित करने की विधि अपनाई थी। उन्हीं के काल में देश भर के स्वयंसेवक उसकी अनुभूति भी करने लगे थे। कुटुंब में मंदबुद्धि या विकलांग घटक भी उपेक्षित अनुभव नहीं करता। कौटुंबिक जीवन की यह विशेषता है। इसी कारण डॉक्टरजी कौटुंबिक जीवन में सहज उपलब्ध आत्मीयता आधारित परस्पर-पूरकता को हिंदू समाज में प्रचलित करने के काम को ही संघ कार्य कहा करते थे। इसी को वे हिंदू संगठन का मूल मंत्र बताया करते थे। उनकी दृढ़ धारणा थी कि इसी एक कार्य से हिंदू जनजीवन में व्याप्त सभी दोष दूर होकर हिंदू समाज सर्वशक्तिसंपन्न बन सकता है। इसी आधार पर वे कहा करते थे कि संघ को हिंदू संगठन के अतिरिक्त अन्य किसी भी काम को करने की आवश्यकता नहीं है। वे बार-बार कहा करते थे कि संघ कार्य पूर्ण रूप से सकारात्मक एवं सृजनशील है। उनका स्पष्ट कहना था कि प्रतिक्रियात्मकता व सद्भावना अस्थायी होती है न कि स्थायी। हिंदू समाज सनातन अर्थात् चिरस्थायी इकाई है। हमें अपने संघ कार्य को सभी प्रकार के विवाद से मुक्त रखना होगा। उसके बिना हम अपना लक्ष्य सिद्ध कर नहीं सकते।

डॉक्टरजी से प्राप्त कार्यपद्धति की व्यावहारिकता समझने की दृष्टि से 1946 की एक घटना बहुत उपयोगी है। उन दिनों मैं गोरखपुर में प्रचारक था। उसी साल 16 अगस्त को मुसलिम लीग ने अपनी घोषित 'डायरेक्ट ऐक्शन' को चालू किया था। कलकत्ते में असंख्य हिंदुओं को मौत के घाट उतारा था। गोरखपुर में भी मुसलमानों की आबादी काफी होने के कारण गोरखपुर के हिंदुओं में भय व्याप्त हुआ था। गोरखपुर में संघ शाखाएं प्रभावी थीं।

पूर्व निश्चित कार्यक्रम के अनुसार मा. श्री आपटेजी* गोरखपुर में ही थे। हिंदुओं में से तीस-पैंतीस प्रतिष्ठित व्यक्ति मा. आपटेजी से मिलने के लिए पहुंचे थे। सबका एक ही आग्रह था कि आए हुए संकट में हिंदू समाज को बचाने की जिम्मेदारी संघ को वहन करनी चाहिए।

मा. आपटेजी ने साफ शब्दो में कहा, ''राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ न ऐसे कामों के लिए अस्तित्व में आया है, न वह इस दायित्व को स्वीकार करेगा।'' आपटेजी का कहना सुनते ही मिलने आए लोगों में से प्रतिष्ठित एडवोकेट पं. हरिहर प्रसादजी दूबे (जो बाद में जिला संघचालक बने) उत्तेजित होकर बोले, ''यदि संघ हिंदुओं की रक्षा करने की जिम्मेदारी निभाना नहीं चाहता तो उसे हिंदू संगठन के नाम से काम करने का अधिकार भी नहीं हो सकता। ऐसे संघ की गोरखपुर में कोई आवश्यकता नहीं है।''

इस पर मा. आपटेजी ने शांत भाव से उन से अनुरोध किया—''कृपा कर आप क्षणमात्र के लिए धीरज रखें। संघ की भूमिका समझने का कष्ट करें। आसन्न संकट की भयानकता का मैं

** श्री उमाकांत उपाख्य बाबा साहेब आपटे, संघ के प्रथम प्रचारक।*

अनुभव कर रहा हूं। इस संकट से अपने समाज को बचाना ही होगा, किंतु अपना विशाल हिंदू समाज अपनी रक्षा के लिए किसी एक संस्था का या संगठन का मुखापेक्षी बना रहे, यह संघ की कार्यपद्धति में बैठता नहीं है। किसी अन्य के द्वारा रक्षित हिंदू समाज सदा सर्वदा कमजोर ही बना रहेगा। हिंदू समाज की यह असहाय अवस्था संघ के लिए असह्य है। हम सभी के लिए भी लज्जास्पद होगी। वैसे भी संघ न तात्कालिक समस्याओं के निराकरण के लिए बना है, न वह प्रतिक्रियावादी संगठन है। वह किसी काम के क्षेत्र का भी अभिलाषी नहीं है।'' उन्होंने आगे कहा, ''इस संकट का मुकाबला करने की उपयुक्त रणनीति यहां के प्रमुख हिंदू मिलकर बनाएं। जो भी कार्य योजना बनेगी, उसके अनुसार संघ के स्वयंसेवक संघ के नाते नहीं, हिंदू होने के कारण हर मोर्चे पर प्रथम पंक्ति में डटे हुए आप पाएंगे।''

यह रही है संघ की मौलिक एवं अभूतपूर्व कार्यपद्धति। यह अनोखी कार्यपद्धति डॉक्टरजी की दिमागी उड़ान मात्र नहीं थी। उन्होंने हिंदू समाज की अवनति के मूल कारणों की खोज की थी। उसके लिए उन्होंने सामाजिक, राजनीतिक तथा क्रांतिकारी संस्थाओं में प्रत्यक्ष कार्य किया था। अंतरंग गतिविधियों को समझा था। उनके तात्कालिक एवं दूरगामी परिणामों का उन्होंने विश्लेषण कर देखा था।

उन्होंने स्वयं देखा था कि हिंदू समाज के उत्थान के लिए, हिंदू संस्कृति की रक्षा के लिए तथा हिंदू राष्ट्र की स्थापना के लिए कतिपय संस्थाएं अस्तित्व में आईं। विख्यात महानुभावों का उन्हें नेतृत्व मिला। उनके अथक परिश्रम के फलस्वरूप कुछ तात्कालिक लाभ भी हुए, किंतु हिंदू समाज पूर्ववत् दुर्बल ही बना रहा। इससे डॉक्टरजी बहुत व्यथित हुए थे। उसी व्यथा में से ही संघ की अभिनव कार्यपद्धति का आविष्कार हुआ है।

डॉक्टरजी मानव मन की कमजोरियों को भी समझते रहे हैं। उन्होंने अनुभव किया था कि निस्स्वार्थ भाव से समाज सेवा में संलग्न उच्च कोटि के साधक भी अहंकार के वशीभूत होकर व्यक्तिवादी बन अपना लक्ष्य ही खो बैठते हैं। इसी कारण डॉक्टरजी ने इतिहास के महान् से महान् व्यक्तित्व को आदर्श के रूप में स्वयंसेवकों के सम्मुख नहीं रखा। सर्वस्व समर्पण का प्रतीक भगवा ध्वज को रखा। उन्होंने हर एक कार्य दूरदृष्टि एवं स्थायित्व का विचार रखकर निश्चित किया था।

संघ की कार्यपद्धति दूरगामी है। तदनुसार कार्य करने के लिए असामान्य निष्ठा, अविचल धैर्य, अडिग संयम एवं टिकाऊ सातत्य नितांत आवश्यक है।

आजादी पाते ही उपर्युक्त जीवनावश्यक गुणों का द्रुत गति से अभाव होता जा रहा है। स्वातंत्र्य संग्राम के काल में देश में व्याप्त सभी बुराइयों के मूल में विदशी सत्ता का अस्तित्व है, इसका गहन वातावरण व्यापक स्तर पर निर्माण करना जरूरी था। राजसत्ता अपने हाथ में आते ही सभी प्रकार की समस्याओं का निवारण होगा। अभाव दूर होगा, खुशहाली आएगी—ऐसा प्रचार किए बिना सर्वसाधारण देशवासियों में स्वातंत्र्य संग्राम के प्रति लगाव निर्माण करना संभव नहीं था। स्वातंत्र्य संग्राम की सफलता की ये आवश्यकताएं थीं।

दुर्भाग्य से स्वतंत्र भारत का नेतृत्व करनेवाला वर्ग स्वयं अपने द्वारा किए गए प्रचार का शिकार

बना। उसके दिमाग में जम गया कि राजसत्ता के माध्यम से ही देश और समाज का सर्वांगीण विकास होगा। परिणामस्वरूप स्वतंत्र भारत में केवल सत्ता संघर्ष का ही तांडव हो रहा है।

यह विस्मृत हो गया है कि स्थायी शक्ति समाज में होती है, शासन में नहीं। राजसत्ता चंचल एवं अस्थिर होती है। उसका निर्माण समाज ही किया करता है। सामाजिक जीवन नैतिकतापूर्ण एवं सुसंगठित न रहा तो देश का शासन सुशासन प्रदान नहीं कर सकता। यह ऐतिहासिक तथ्य है। पूज्य डॉक्टरजी ने इसका साक्षात्कार किया था।

स्वतंत्रता प्राप्ति के साथ-साथ संघ की शाखाओं ने अपने क्षेत्र के सभी स्तरों के हिंदुओं में परस्पर-पूरकता का जीवन निर्माण करने में ही अपनी शक्ति केंद्रित की होती तो आज आजादी के पचास साल बाद अपना हिंदू समाज सामाजिक एवं आर्थिक विषमता की विभीषिका से पर्याप्त मात्रा में मुक्त हुआ होता। वह एक कुटुंब का रूप ग्रहण कर सुखद जीवन का अनुभव कर पाता। अन्य धर्मावलंबी अपने समाज की ओर अपने आप आकर्षित होते। अखंड भारत की अवधारणा व्यावहारिक लगने लगती।

अतीव दु:ख का विषय है कि संघ के अधिकारियों ने भी अपना सुनिश्चित मार्ग छोड़कर सत्ता संघर्ष का विघटनकारी मार्ग अपनाना पसंद किया।

स्वतंत्र भारत के स्वीकृत संविधान ने संसदीय लोकतंत्र पद्धति अपनाई है। सभी बालिग महिला-पुरुषों को मताधिकार प्राप्त है। अत: घर-घर में मतदाता विद्यमान हैं। सत्ता पाने का माध्यम है चुनाव। चुनाव दलगत आधार पर होते हैं।

हिंदू समाज को संगठित करने का लक्ष्य सम्मुख रखकर कार्यरत स्वयंसेवकों को घर जाकर दलीय आधार पर मत प्राप्त करना पड़ रहा है। परिणामस्वरूप अपने ही द्वारा हिंदू समाज का दलीय आधार पर विभाजन हो रहा है। संघ की मूल धारणा के प्रतिकूल काम करने के लिए स्वयंसेवकों को लगाया जा रहा है। इस मार्ग से संघ का हिंदू समाज के संगठन का लक्ष्य कैसे सिद्ध होगा?

अपने स्वयंसेवक केंद्र तथा कुछ प्रदेशों में सत्तारूढ़ हुए हैं। संभव है, इससे संघ अधिकारियों को संतोष अनुभव हो रहा हो, किंतु क्या सत्तारूढ़ स्वयंसेवक शासन चलाने में अपेक्षित सफलता पा रहे हैं? सत्तारूढ़ स्वयंसेवकों तथा संघ अधिकारियों में चल रहा मनमुटाव लोगों में चर्चा का विषय बनता जा रहा है। संघ कार्य पर उसका विपरीत परिणाम हो रहा है।

अपनी प्रचलित कार्यपद्धति उपदेशकों, लेखकों तथा भाषण देनेवालों का निर्माण कर रही है। क्या ऐसे लोग अपना मूल लक्ष्य सिद्ध कर पाएंगे? अपने शासकों द्वारा देश को अपेक्षित सुशासन न दे पाने के कारण सर्वसाधारण लोगों में अधिक हताशा फैलेगी। उसकी जिम्मेदारी भा.ज.पा. की नहीं, संघ की मानी जाएगी। सत्ता संघर्ष को अपनाने का क्या यही प्रतिफल अपेक्षित था?

पूज्य डॉक्टरजी की हिंदू समाज को कौटुंबिक आधार पर संगठित करने की अवधारणा पूर्णत: व्यावहारिक है, यह मैं अपने अल्प अनुभव के आधार पर कह सकता हूं।

आवश्यकता है संघ के प्रमुख अधिकारियों द्वारा अपने कार्य की दिशा पर पुनर्विचार करने की। अन्यथा हिंदू समाज पूर्ववत् विघटित एवं दुर्बल ही बना रहेगा। लाखों स्वयंसेवकों के विश्वव्यापी होते हुए डॉक्टरजी का हिंदू संगठन का सपना सपना ही बना रहेगा। इसी एक व्यथा ने यह पत्र

लिखने के लिए बाध्य किया है। आशा करता हूं कि इस पत्र पर तो आप सब संघ के काम की बागडोर संभालनेवाले अधिकारी विचार करेंगे।

27

नागपुर, 12 दिसंबर, 1998

माननीय श्री शेषाद्रिजी,

नौ तथा दस दिसंबर को मैं अ.भा. कार्यकर्ता बैठक में उपस्थित रहा। शेष दिनों में उपस्थित नहीं रह पा रहा हूं। कृपया क्षमा करें।

अपने समाज को हिंदुत्व के आधार पर संगठित शक्ति के रूप में खड़ा करने का अपना ध्येय है। उस लक्ष्य को सिद्ध करने के लिए ही हम अखिल विश्व में संघ शाखाओं का विस्तार कर रहे हैं।

जहां भी संघ की शाखाएं (विशेषतः भारत में) कार्यरत हैं, उन-उन आबादियों के सभी परिवारों में परस्पर-पूरकता के द्वारा घर-घर में खुशहाली का जीवन विकसित करने में अपने स्वयंसेवक जुट जाएं तो अपनी दैनिक प्रार्थना के अनुसार अपना राष्ट्र सहज में ही परम वैभव प्राप्त कर सकता है। संपूर्ण हिंदू समाज अपना कुटुंब है, यह परमपूज्य डॉक्टरजी की अवधारणा भी साकार हो सकती है।

1917 में रूस में साम्यवादी क्रांति सफल हुई, ऐसा माना जाता था। फलस्वरूप विश्व के अधिसंख्य नौजवान उससे प्रभावित हुए थे। कुछ काल तो ऐसा बीता कि लोग समझने लगे थे कि पूरा संसार साम्यवाद के रंग में रंग जाएगा, किंतु केवल सत्तर साल के काल में ही स्वयं रूस में ही साम्यवादी जीवन रचना अपने आप लड़खड़ा गई। अमानवीयता के आधार पर खड़ी जीवन रचना अधिक काल टिका नहीं करती, यह अनुभवसिद्ध तथ्य है।

अब संसार में अकेले पूंजीवाद का ही बोलबाला है। वह ही सर्वशक्तिमान जीवन रचना है, ऐसा माना जा रहा है। उसी दिशा में कदम बढ़ाने का वातावरण बना है। इस प्रणाली में पूंजी के लालच में अधिकाधिक धन बटोरने का प्रयास होता है। स्वचालित यांत्रिकी का विस्तार होने लगता है। सर्वसाधारण लोगों को आजीविका के साधनों से वंचित किया जाता है। पूंजीवाद की इस अमानवीय वृत्ति के कारण यह जीवन रचना भी आगामी तीस-पैंतीस सालों में स्वयं ही लड़खड़ाएगी।

उस स्थिति में मानव मात्र वैकल्पिक जीवन रचना की खोज में भटकेगा। उस शून्य की अवस्था में मानवीयता से परिपूर्ण हिंदुत्व आधारित जीवन रचना का अनुकरणीय नमूना प्रस्तुत करना आवश्यक है। क्या उस दिशा में हम गतिशील हैं? दुर्भाग्य की बात है कि हम अपने ही निष्ठावान कार्यकर्ताओं द्वारा इस दिशा में किए जानेवाले कामों में भेदभाव का व्यवहार करने लगे हैं। व्यष्टि, समष्टि तथा परमेष्टि के शब्दों का प्रयोग अवश्य करते हैं, किंतु अधिकारियों

27 *अन्य क्षेत्रों में कार्य करनेवाले कार्यकर्ताओं के प्रति संघ अधिकारियों की क्या दृष्टि रहे, इसकी नानाजी सतत चिंता करते रहे।*

की पसंद और नापसंद ही हावी रहती है।

संगठन कार्य में अधिकाधिक लोगों को जोड़ना एवं सभी साथियों को साथ ले चलना, सफलता की कुंजी है। यही संघ की कार्यप्रणाली रही है, किंतु अब यह इतिहास की बात बन गई है।

प्रभुकृपा से भारत के शासन की बागडोर अपने हाथ में आई है। अपना ही बहुत पुराना स्वयंसेवक, राजनीतिक क्षेत्र में पैंतालीस साल के अनुभव से विभूषित, राजनीति का सर्वाधिक सफल खिलाड़ी, इस समय देश का श्रेष्ठतम लोकप्रिय नेता, विश्व में अपनी प्रतिभा की धाक जमाया हुआ, अद्वितीय वक्ता ही देश का प्रधानमंत्री बना हुआ है। वस्तुतः हमें ऐसे अभूतपूर्व स्वयंसेवक का गौरव करना चाहिए।

28

चित्रकूट, 22 जुलाई, 1999

चि. प्रिय सुदाम,

तुम्हारा 9 जुलाई का पत्र मिला। बीस जून को मराठवाड़ा के हिंगोली नगर में सार्वजनिक कार्यक्रम था। उस कार्यक्रम की अध्यक्षता डॉ. अशोक राव कुकड़े ने की थी। उसी प्रसंग के निमित्त मेरी उनसे भेंट हुई थी।

मैं स्वयं अधिक सक्रिय नहीं हो सकता। मेरा स्वास्थ्य अधिक आयु होने के कारण आवश्यक दौड़-धूप करने की अनुमति नहीं देता। सोनदरा गुरुकुल मेरे सपनों का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। उसका समुचित मार्गदर्शन सतत होता रहे, इसकी मुझे चिंता है। यह कार्य संघ के सर्वव्यापी एवं सतत चलनेवाले संगठन के द्वारा ही संभव है। इसी कारण मा. श्री बबनरावजी को गुरुकुल की समिति का अध्यक्ष बनाया गया है। किंतु गुरुकुल का दायित्व वहीं तक सीमित न रहे, इसी कारण मा. प्रांत संघचालकजी की भेंट होने के बाद मैंने उनसे साग्रह अनुरोध किया कि वे गुरुकुल की ओर विशेष ध्यान देने की कृपा करें।

दीनदयाल शोध संस्थान का संपूर्ण कार्य खड़ा किया गया है, वह संघ के स्वयंसेवक के नाते ही किया है। उसमें किसी व्यक्ति विशेष का महत्त्व नहीं है। वस्तुतः सभी काम संघ के ही हैं।

मैं समझता रहा कि तुम्हें उपर्युक्त बातों की कल्पना होगी। कारण, दीनदयाल शोध संस्थान संघ का ही एक अभिन्न अंग है। दीनदयालजी स्वयं संघ के आदर्श स्वयंसेवक माने जाते रहे। अतः उनकी स्मृति में चलनेवाले कार्य भिन्न नहीं हो सकते। इसलिए यह कार्य नए सिरे से संघ को सौंपा गया है, ऐसी बात नहीं है। मैं भी सब कामों को देखता था। वह भी संघ की योजना के अनुसार ही था। अतः मा. श्री अशोक राव इस कार्य की ओर विशेष ध्यान देंगे, इसमें कोई नई बात नहीं है। इस समय उन्हें विशेष रूप से कहना इसलिए जरूरी हो गया कि मेरे लिए

28 *संघ के स्वयंसेवक के नाते कार्य करने की प्रेरणा। श्री सुदाम संस्थान के बीड़ प्रकल्प के प्रमुख कार्यकर्ता थे।*

गुरुकुल के काम की ओर आवश्यक ध्यान देना संभव नहीं हो रहा है।

गुरुकुल के कार्य में तुम्हारी भूमिका वही है और रहेगी जो गुरुकुल का शुभारंभ हुआ, तब से रही है। इसी कारण मा. श्री अशोकरावजी ने तुमसे ही चर्चा की है। शेष कुशल। सभी को स्नेहपूर्ण शुभाशीर्वाद।

29

26 अप्रैल, 2001

माननीय श्री शेषाद्रिजी,

इंग्लैंड की पार्लियामेंट में श्री चर्चिल ने तत्कालीन अपने प्रधानमंत्री से कहा था, ''आप भारत को आजादी देने जा रहे हैं, किंतु भारतीय लोग अपने देश का शासन चला नहीं पाएंगे।'' यह हमारे लिए चुनौती थी। उसे किसी ने स्वीकार किया, ऐसा दिखाई नहीं देता।

भारत स्वतंत्र होने के बाद संघ के नेतृत्व को शासन सत्ता पाने की प्रबल अभिलाषा हुई। चुनावों में संघ अपनी शक्ति लगाने लगा। अन्य दलों द्वारा शासन की दुर्दशा होने के कारण अपने लोगों को शासन चलाने का अवसर मिला। क्या हमारे अपने लोग शासन का ठीक से संचालन कर पा रहे हैं?

अभी-अभी पड़ोसी बंगलादेश ने हमारी सीमा पर बसे गांव पर कब्जा किया और हमारे शासकों को उसकी समय से भनक तक नहीं लगी। इसका अर्थ क्या हुआ?

हमारी सीमा सुरक्षा के सोलह जवान बंगलादेश द्वारा हलाल किए गए और अपना शासन बेखबर रहा। उन जवानों की क्षत-विक्षत लाशें मरे पशुओं के समान पहुंचाई गईं। अखबारों में छपे इसके चित्र देखकर आम लोगों के मन पर अपने शासकों के प्रति क्या भावना पैदा हुई है?

देश में लाखों की संख्या में बंगलादेशी घुसपैठिए आ बसे हैं। उनके क्या इरादे हैं, इसकी शासन को जानकारी है? उन्हें क्यों रहने दिया जा रहा है? क्या वे आई.एस.आई. के सहायक नहीं बन रहे हैं?

देश भर में पाकिस्तानी आतंकवादियों का जाल फैल रहा है। देश की राजधानी में भी उनके कारनामें प्रकट हो रहे हैं। वे काबू के बाहर सिद्ध हो रहे हैं। क्या यह सुरक्षा की दृष्टि से ठीक है? क्या हम इसे अपने लोगों की शासकीय निपुणता मानते हैं? हमने शासन-सत्ता चाही, किंतु उसे चलाने की अपने लोगों में क्षमता विकसित क्यों नहीं की?

आर्थिक प्रश्न को लेकर संघ के वरिष्ठ विचारक अत्यधिक असंतुष्ट हैं। वे आगामी 9 अगस्त से सरकार की आर्थिक नीति के विरुद्ध देशव्यापी अभियान छेड़ने जा रहे हैं। इससे अपने स्वयंसेवकों तथा आम लोगों की संघ परिवार के बारे में क्या धारणा बनेगी?

हमारी पचहत्तर सालों की तपस्या के क्या ये ही प्रतिफल अपेक्षित थे?

29 *संघ-प्रेरित राजनीतिक दल देश की शासन व्यवस्था में कहां असफल हो रहा है, नानाजी यह बताने में कभी संकोच नहीं करते थे।*

30

26 जनवरी, 2002

प्रिय श्री श्रीकृष्णजी माहेश्वरी,

अपने देश एवं समाज की स्थिति दिन-प्रतिदिन अधिकाधिक चिंताजनक हो रही है। उसमें सुधार की संभावना नजर नहीं आती। कारण, आवश्यक दिशा में प्रयास होते हुए दिखाई नहीं देते। समाज का विघटन द्रुतगति से हो रहा है। जातिगत, भाषागत, मजहबी तथा क्षेत्रीय भावनाएं भड़काना राजसत्ता पाने का आधार बना है। इस कारण राजनीतिक दल स्वयं विघटन के शिकार हैं। विधानसभा में बहुमत होने पर भी एकाधिक बार मुख्यमंत्रियों को बदलना पड़ रहा है। यह सत्ता के सदुपयोग की अक्षमता का परिचायक है।

आम लोग सभी प्रकार के नेतृत्व से निराश हैं। वे दिशाहीन बने हैं। अपने-अपने पारिवारिक भविष्य में ही अपनी संपूर्ण शक्ति और समय खर्च कर रहे हैं। मानो उनका सामाजिक जीवन के साथ कोई नाता-रिश्ता ही न हो। अतः व्यावहारिक धरातल पर देश से देशभक्ति की भावना समाप्त सी है। देश की इस विषम परिस्थिति में देशव्यापी संघ संगठन के अतिरिक्त व्यावहारिक धरातल पर इस दुर्दशा को कौन ठीक करेगा?

संघ की स्थापना एक 'रिलीफ सोसाइटी' के रूप में काम करने के लिए नहीं हुई थी। वह तो संगठन के द्वारा राष्ट्र जीवन को परम वैभव के शिखर पर पहुंचाने के लिए हुई थी। उसी के लिए अपना मानव निर्माण का हेतु रहा है, किंतु हमारे अपने संस्कारित लोग भी सत्ता के लालच में पथभ्रष्ट हो रहे हैं। इसी कारण, मैंने मा. श्री शंकर प्रसादजी (ताम्रकार)* को पत्र लिखा है। महाकौशल प्रांत के आप दोनों संघचालक और कार्यवाह हैं। सतना में ही रह रहे हैं। अतः आप दोनों का नित्य संपर्क हो सकता है। दोनों ने मिलकर निर्णयात्मक कदम बढ़ाया तो बिगड़ी परिस्थिति को संभालने का मार्ग प्रशस्त हो सकता है। विश्वास है, आप दोनों मिलकर इस विषय पर विचार कर आवश्यक कदम बढ़ाएंगे। एक स्वयंसेवक के नाते हृदय की पीड़ा तथा उपाय व्यक्त किया है।

31

26 जनवरी, 2002

मा. श्री शंकर प्रसादजी,

स्वावलंबन अभियान की छोटी सी पुस्तिका आपने पढ़ी। आपको कार्य की दिशा पसंद है, यह जानकर खुशी हुई। मैं 1928 से अर्थात् बाल्यकाल से ही संघ का स्वयंसेवक हूं। तब से आज

30 *संघ की भूमिका को रेखांकित करता पत्र।*
**श्री ताम्रकार संस्थान के उपाध्यक्ष हैं।*

तक किसी अन्य संस्था या विचार प्रणाली से न संबंध आया, न रखा। अतः मैं जो कुछ भी हूं, वह संघ का ही प्रतिफल है। जो कर रहा हूं, वह भी संघ की प्रेरणा के कारण ही कर रहा हूं।

संघ की प्रार्थना में संघ का समुचित प्रतिपादन है। उसे साकार करना प्रत्येक शाखा एवं स्वयंसेवक का कर्तव्य है। मैं समझता हूं स्वावलंबन अभियान उसी दिशा में एक व्यावहारिक प्रयास है। संघ की लक्ष्य सिद्धि का साधन अपनी शाखाएं हैं। शाखा चलाना स्वयं में लक्ष्य नहीं है। शाखाओं के द्वारा प्रार्थना में वर्णित लक्ष्य को व्यावहारिक धरातल पर साकार करना शाखाओं का दायित्व है।

उसी के अनुसार चित्रकूट में आकर आप सबके सहयोग से एक स्वयंसेवक के नाते मैं शोध संस्थान के माध्यम से कार्य कर रहा हूं। स्व. श्री दीनदयालजी संघ के एक आदर्श स्वयंसेवक माने जाते थे। इस बात को गुरुजी ने अनेक बार कहा था। दीनदयालजी ने एकात्म मानव के नाते मनुष्य की व्याख्या की थी, जिसे संघ ने मान्यता दी थी। उन्हीं की स्मृति के रूप में दीनदयाल शोध संस्थान संघ के लक्ष्य को साकार करने में संलग्न है।

यह पत्र लिखने का मेरा हेतु निम्नलिखित है—आप महाकौशल प्रांत के प्रांत संघचालक हैं। सुशिक्षित, विचारक एवं कर्तृत्ववान हैं। संघ के निष्ठावान स्वयंसेवक हैं। महाकौशल प्रांत के संघ कार्य का दायित्व वहन कर रहे हैं। मुझे लग रहा है कि जो कार्य दीनदयाल शोध संस्थान चित्रकूट के चारों ओर के 500 गांवों में करने का प्रयास कर रहा है, वह कार्य संघ की प्रत्येक शाखा अपने-अपने कार्यक्षेत्र में सहज में ही कर सकती है। इस दिशा में महाकौशल प्रदेश की सभी संघ शाखाएं कार्यरत हों तो देश में फैली अन्य शाखाओं के लिए अनुकरणीय नमूना सिद्ध हो सकती हैं। इससे आपके द्वारा संघ कार्य में एक और पहलू जुड़ जाएगा, जो संघ के लक्ष्य की पूर्ति में सहायक सिद्ध होगा। मैं इस पत्र की प्रतिलिपि प्रांत कार्यवाह मा. श्री श्रीकृष्णजी की सेवा में भी भेज रहा हूं।

32

रक्षाबंधन, 2003

प्रिय श्री मदनदासजी,

दिन-प्रतिदिन देश का शासन एवं प्रशासन अधिकाधिक कमजोर होता जा रहा है। समाज में अव्यवस्था बढ़ रही है। असुरक्षा का वातावरण देशव्यापी बना है।

ऐसी ही स्थिति काफी लंबे काल से नेपाल में चली आ रही थी। इसका लाभ माओवादियों ने उठाया। माओवादियों के द्वारा नेपाल में जो विध्वंस हो रहा है, उस पर शासक और प्रशासक काबू पाने में असमर्थ सिद्ध हो रहे हैं।

अपने देश में नक्सलवादी नाम से विध्वंस करनेवालों का व्याप बढ़ रहा है। नक्सलवादियों के द्वारा जो विध्वंस हो रहा है, उस पर सरकार काबू नहीं पा रही है। इसी के साथ अपहरण, डकैती, हत्याएं

31 *व्यावहारिक कार्यों के लिए संघ के स्वयंसेवकों को प्रेरणा।*

और बलात्कार की घटनाएं भी निरंतर बढ़ रही हैं। देश की राजधानी दिल्ली भी इससे अछूती नहीं है।

राष्ट्र जीवन के सभी क्षेत्रों में नेतृत्व का स्तर निरंतर घट रहा है। नया नेतृत्व आदर्शवादी न होकर अवसरवादी बन रहा है। देश की राजनीति पूर्णत: सिद्धांतहीन हो गई है। हरेक राजनीतिक दल गुटबाजी से जर्जर है। देश और समाज की स्थिति बिगड़ने के बावजूद तथाकथित नेतृत्व बेपरवाह है। सत्ता में बने रहने के लिए या सत्ता प्राप्त करने के लिए विधि-निषेध की चिंता किसी को भी दिखाई नहीं देती।

पाकिस्तान से घुसपैठ करनेवाले आतंकवादी, बंगलादेश से आकर अवैध रूप से बसनेवाले बंगलादेशी, अपहरण एवं डकैती डालनेवाले और चोर-उचक्कों का दमन तब तक संभव नहीं हो पाएगा, जब तक समाज में इस दृष्टि से चेतना निर्माण नहीं की जाएगी। केवल शासन के द्वारा इन समस्याओं का निराकरण नहीं होगा।

परिवारों में अपनी संतान आर्थिक दृष्टि से संपन्न हो, यही एक चिंता सभी परिवारों में व्याप्त है। फलस्वरूप, नई पीढ़ी में देशभक्ति और समाजनिष्ठा का सर्वथा अभाव हो गया है। प्रचलित शिक्षा दिशाहीन है। अत: देश की कर्तृत्वशाली एवं सृजनशील प्रतिभाएं निजी समृद्धि के लिए विदेशों में शरण ले रही हैं। उनके दिल में अपने देश के करोड़ों अभावग्रस्त बंधु-बांधवों के लिए कोई लगाव नहीं है।

उपर्युक्त वस्तुस्थिति में परिवर्तन कर नई पीढ़ी में देशभक्ति एवं समाज निष्ठा अंकुरित एवं पल्लवित किए बिना देश का भविष्य बनने की संभावना नहीं हो सकती, किंतु इस तथ्य की ओर कौन ध्यान दे रहा है?

समाज के सभी स्तरों के परिवारों में जन्म पानेवाली संतान ही समाज के घटकों के रूप में उपलब्ध होती है। जन्म देनेवाले माता-पिता स्वयं इस बात को नहीं समझते कि उनकी संतान अपने समाज की घटक भी है और उस नाते से भी अपनी संतान में भावना विकसित करनी चाहिए। ऐसी स्थिति में केवल भावुकता भरे आंदोलन, यात्राएं, विशाल एकत्रीकरण, उपदेश, प्रवचन, कथा-कथन, लेखन, भाषण आदि पारिवारिक जीवन में सामाजिक दायित्वबोध निर्माण नहीं करते। ऐसी स्थिति में क्या हम लोगों को विशेष विचार और उपाय करना आवश्यक नहीं है? देश इस मूलभूत आवश्यकता पूर्ति की अपेक्षा और किससे करे?

33

09 अगस्त, 2004

प्रिय श्री शंकर प्रसादजी,

मैं 1927 के दिसंबर से अर्थात् 11 वर्ष की आयु से संघ में हूं। आज तक के लंबे काल में

32 *देश की शासन व्यवस्था पर नानाजी निरंतन चिंतन-मनन करते रहते थे, लेकिन अपनी मनोव्यथा संघ अधिकारियों के सम्मुख ही रखते थे। श्री मदनदास देवी उन दिनों संघ के सह सरकार्यवाह थे और तत्कालीन एनडीए सरकार व संघ के बीच सेतु का महत्वपूर्ण दायित्व निभा रहे थे। इन दिनों आप संस्थान के पालक अधिकारी हैं।*

क्षणमात्र के लिए भी अन्य किसी संस्था के संपर्क में नहीं रहा। अतः जो भी हूं और जैसा भी हूं, संघ के कारण ही हूं, किंतु यह दावा नहीं कर सकता कि मैं संघ को पूर्ण रूप से समझ पाया हूं। इसके बावजूद मेरी अपनी धारणा है कि मैं संघ का ही कार्य कर रहा हूं। परमपूज्य डॉक्टरजी ने संघ स्वयंसेवक के सम्मुख गुरु के रूप में किसी व्यक्ति को नहीं, अपने ध्वज को ही रखा था। अतः मैं अविचल निष्ठा से ध्वज को ही गुरु मानता हूं।

34

23 अगस्त, 2004

माननीय श्री मोहनजी,

संघ के स्वयंसेवक के नाते अपने कर्तव्य का पालन करने के लिए मुझे यह पत्र लिखना पड़ रहा है।

नागपुर में 1940 में हुए संघ के ओ.टी.सी. का स्मरण हो आया है। उस ओ.टी.सी. में पहली बार देश के सभी प्रदेशों से स्वयंसेवक प्रशिक्षार्थी के रूप में उपस्थित हुए थे। मैं स्वयं उत्तर प्रदेश से उसमें प्रशिक्षार्थी रहा हूं।

परमपूज्य डॉक्टरजी का स्वास्थ्य ठीक नहीं था। इसके बावजूद वे उस ओ.टी.सी. के अनौपचारिक समारोप में उपस्थित हुए थे। संघ स्वयंसेवकों के लिए उनका वह अंतिम संदेश सिद्ध हुआ है। उन्होंने कहा था, ''आप सबका स्नेह मुझे इस कार्यक्रम में खींच लाया है। अद्वितीय विविधताओं से विभूषित अपने देश के सभी अंचलों से आप सब स्वयंसेवक इस ओ.टी.सी. में उपस्थित हैं। लघु भारत के दर्शन का यह विशेष खुशी का सुअवसर है। एक दूसरे के प्रति आपकी आत्मीयता रूप, रंग, भाषा व वेशभूषा की भिन्नता हमें एकात्मता के सूत्र में पिरोने में बाधा नहीं पहुंचा पाती। संघ की यह विशेषता ही संपूर्ण हिंदू समाज को सामर्थ्यशाली बनानेवाली शक्ति है।''

परमपूज्य डॉक्टरजी के इस संदेश की पृष्ठभूमि में श्री अशोकजी के 11 अगस्त, 2004 को कानपुर में दिए गए वक्तव्य ने मुझे मर्माहत किया है। समाचार-पत्र में प्रकाशित उनके वक्तव्य के कटिंग्स साथ में संलग्न कर रहा हूं।

संघ परिवार के घटकों में एक दूसरे के प्रति सार्वजनिक स्तर पर ऐसा व्यवहार क्यों हो रहा है? इसके मूल में क्या कारण है? इस पर समुचित विचार कर समय से आवश्यक उपाय करना क्या संघ नेतृत्व का दायित्व नहीं था? हम आपस में ही लड़ते रहेंगे तो हिंदू समाज को संगठित करने का काम कैसे संभव होगा?

संघ की मूल धारणा क्या थी? पूज्य डॉक्टरजी ने हिंदू समाज की दुर्दशा के लिए दूसरों को

33 *ध्वज के प्रति अविचल निष्ठा। श्री मोहनराव भागवत उस समय संघ के सरकार्यवाह थे। इन दिनों आप सरसंघचालक हैं।*

दोष देने की नीति कभी भी अपनाई नहीं थी। हिंदू समाज को सामर्थ्यशाली बनाना ही सभी समस्याओं एवं संकटों के निवारण का एकमात्र उपाय है, यह उनका निष्कर्ष था। याचक की भूमिका को वे सर्वथा त्याज्य मानते थे। क्या संघ के अनुयायियों को इस पौरुषपूर्ण मार्ग की अवहेलना करनी चाहिए?

आजकल संघ के नेतागण भी धर्मांतरण पर रोक लगाने के कानून की याचना करने लगे हैं। क्या यह वृत्ति हिंदू समाज को बचा पाएगी? क्या भ्रष्टाचार विरोधी कानून नहीं हैं? क्या डकैतियां डालने के विरुद्ध कानून नहीं है? क्या बलात्कार के विरुद्ध कानून नहीं है? क्या इन कानूनों से उपर्युक्त अपराध रुक पा रहे हैं?

करोड़ों हिंदू अभावग्रस्त हैं। दिन में दो समय भर पेट भोजन तक उन्हें नहीं मिलता। उनके बच्चे कुपोषण के शिकार हैं। दरिद्रता से त्रस्त माता-पिता अपनी लड़कियां डेढ़-दो सौ रुपयों में बेच रहे हैं। लड़कियों का व्यापार जोरों से चल रहा है। मुसलमान व ईसाइयों को अपनी संख्या बढ़ाने का यह सुगम साधन उपलब्ध कराने में हिंदुओं की असहनीय गरीबी कारण बन रही है। क्या धर्मांतरण पर प्रतिबंध का कानून हिंदुओं की इस अभावग्रस्तता को मिटा पाएगा?

हिंदू कहलाने में न हरिजनों में रुचि बची है, न पिछड़ी कही जानेवाली जातियों में। इन जातियों के नेता अपनी-अपनी जातियों के संगठन बनाकर राजनीतिक एवं आर्थिक लाभ उठा रहे हैं। कारण, हम हिंदू मात्र की सामाजिक, आर्थिक एवं नैतिक स्थिति सुधारने के कार्य की उपेक्षा कर रहे हैं। हम भी नारों के सहारे वैतरणी पार करने में लगे हैं। भावनाओं के आधार पर तात्कालिक लाभ भले ही मिले। सामर्थ्यशाली स्थायी समाज का निर्माण केवल भावनाओं के सहारे नहीं हो सकता। फलस्वरूप हताशा अधिक गहरी होती जा रही है। वह ही आपसी कलह का कारण बनी है। परमपूज्य डॉक्टरजी के मंत्र की अवहेलना से हम निष्ठावान बूढ़े स्वयंसेवकों की मानसिकता में तनाव बढ़ रहा है।

आशा है, आप इस वस्तुस्थिति पर ध्यान देकर संघ को अपने मूल लक्ष्य की दिशा में गतिशील बनाएंगे।

35

30 जून, 2005

माननीय सरकार्यवाहजी,

मैं एक पुराना स्वयंसेवक हूं। स्वयंसेवक होने के नाते मैं बयानबाजी कर नहीं सकता।

देश भयानक संकट से गुजर रहा है। केंद्रीय सरकार पर कम्युनिस्ट हावी हैं। दूसरी ओर,

34 *संघ परिवार के सभी घटकों में आपसी सामंजस्य बना रहे, इस पर नानाजी का सदैव आग्रह रहता था। उन दिनों विश्व हिंदु परिषद के अध्यक्ष श्री अशोक सिंघल ने तत्कालीन एनडीए सरकार के बारे में एक टिप्पणी की थी।*

नक्सलवादियों ने अपना जाल उत्तर से दक्षिण तक फैला रखा है। माओवादी उनके जाल को अधिक खतरनाक बना रहे हैं।

इस परिस्थिति में विकल्प की भूमिका में रा.ज.ग. के अतिरिक्त कोई राजनीतिक संगठन सक्षम नहीं है। यदि उसको हमने इस समय कमजोर किया तो यह संगठन भी बिखर जाएगा। इस परिस्थिति में श्री आडवाणी को हटाकर हम लोग कहीं देश को कम्युनिस्टों की झोली में न डालें।

संघ परिस्थिति निरपेक्ष संगठन है, किंतु भा.ज.पा. को एक राजनीतिक संगठन होने के कारण परिस्थिति सापेक्ष कदम उठाने पड़ते हैं। वह परिस्थिति निरपेक्ष हो नहीं सकता।

मेरा सुझाव है कि सूरत की बैठक में परिस्थिति का सही आकलन कर देश के हित में भा.ज.पा. को इस समय कमजोर नहीं करना चाहिए।

36

05 जून, 2006

प्रिय श्री मोहनरावजी,

परमपूज्य गुरुजी के जन्मशताब्दी समारोह का वर्ष संघ को देश में पूर्ववत् प्रतिष्ठा प्राप्त करा देनेवाला स्वर्णिम अवसर सिद्ध हो सकता है।

संपूर्ण हिंदू समाज को एक अभिन्न परिवार के रूप में संगठित करने का एकमेव लक्ष्य सम्मुख रखकर संघ का जन्म हुआ था, किंतु 1945 के बाद से संघ के कुछ पुराने और प्रभावी कार्यकर्ताओं में संघ-कार्य को लेकर आपसी सहमति का अभाव हुआ। फलस्वरूप, विवाद होने लगा। उसकी परिणति 1951 में 'भारतीय जनसंघ' के रूप में प्रकट हुई।

विभिन्न प्रदेशों में संघ के निष्ठावान व पुराने प्रचारकों को आदर्शवादी राजनीति का प्रशिक्षण दिए बिना ही, 'भारतीय जनसंघ' को संगठित करने का दायित्व सौंपा गया। संघ की शाखाएं चलाने की बातों पर आग्रहपूर्वक जोर अवश्य दिया जाता रहा, किंतु संघ के स्वयंसेवक अधिकांश समय राजनीति की ही चर्चा में लिप्त रहने लगे। संपूर्ण हिंदू समाज को एक परिवार के रूप में संगठित करने का अनोखा कार्य दुर्लक्षित होता गया। गांधीजी की हत्या के बाद ही संघ पर प्रतिबंध लगा। संघ स्वयंसेवक जेल में बंद किए जाने लगे। उस काल में संघ की शाखा लगाना गैर-कानूनी था। अतः एकत्रीकरण करने के लिए विभिन्न नामों से कार्य खड़े किए गए। प्रतिबंध हटने के बाद भी उन कार्यों ने अपना स्थायी रूप बनाए रखा। परिणाम स्वरूप, संघ की शक्ति बंट गई। वह हिंदू संगठन करने में केंद्रित नहीं रही।

राजसत्ता में स्थान पाने की महत्त्वाकांक्षा देश में बहुत प्रबल बनी। परिणामस्वरूप, विभिन्न

35 *भाजपा को लेकर नानाजी के मन में कई शंकाएं थीं, लेकिन परिस्थितियों के मद्देनजर वे उसे कमजोर करने के पक्ष में भी नहीं थे।*

दल अस्तित्व में आते गए। 'भारतीय जनसंघ' भी उन्हीं में से एक है। उसने अपना राजनीतिक संगठन खड़ा नहीं किया। वह संघ के संगठन पर ही आश्रित बना रहा। आज भी संघ के संगठन पर ही वह सर्वथा आश्रित है। संघ और जनसंघ (अब भाजपा) हिंदू राष्ट्र का नारा अवश्य लगाते हैं, किंतु उनकी गतिविधियों में हिंदू समाज में पारिवारिक जीवन विकसित करने का संघ का मूल लक्ष्य नदारद है।

संघ की शाखाएं और उनके संघचालक देखते ही आ रहे हैं कि देश में क्षेत्रीयता एवं जातीयता सत्ता प्राप्ति के सुगम साधन बनने लगे हैं। देश के अलग-अलग अंचलों में हिंदुओं की एकाध जाति के मूल आधार पर लोग सत्ता प्राप्त कर रहे हैं। अपनी जाति के आधार पर तिकड़म कर बिहार में एक व्यक्ति ने लगातार 15 वर्ष सत्ता-सुख भोगा। हरियाणा में एक ही परिवार की दो पीढ़ियों ने अपनी जातिगत वोट बैंक के आधार पर राजसत्ता का भरपूर लाभ उठाया। उत्तर प्रदेश में भी एक ही व्यक्ति का परिवार तथाकथित पिछड़े के नाम पर सत्ता-सुख भोग रहा है। दलितों को लेकर एक महिला ने तीन बार उत्तर प्रदेश की सरकार पर अपना अधिकार जमाया था।

यह सबकुछ संघ के सिद्धांतों के विपरीत है, किंतु इसके निराकरण की दिशा में संघ ने कोई कदम नहीं उठाया। अपितु सत्ता-मोह में हिंदुओं को विघटित करनेवाले दलों का सहारा लेने और देने में संघ के राजनीति में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में सक्रिय स्वयंसेवकों को संकोच नहीं हुआ।

1947 के बाद स्वतंत्र भारत में सत्तालोलपुता के कारण हिंदू समाज जितना छिन्न-भिन्न हुआ है, उतना देश के इतिहास में कभी भी नहीं हुआ था। देश जातियों और क्षेत्रीयता के आधार पर टुकड़ों-टुकड़ों में बंटने की दिशा में तेजी से बढ़ रहा है, जिसमें हम भी सहभागी बने हुए हैं। क्या राजसत्ता के लिए अपने सिद्धांतों की तिलांजलि देना उचित है?

देश के लाखों स्वयंसेवकों को नित्यप्रति एकात्मता-स्तोत्र के माध्यम से 'अखण्डं भारतम् स्मरेत' का पाठ पढ़ाया जाता है। क्या संघ नेतृत्व का यह व्यवहार अपने मूल ध्येय के प्रति प्रामाणिकता का परिचायक है?

संघ को देश की राजनीति में सक्रिय होकर 55 वर्ष बीत गए हैं। इसके पूर्व समाज को संगठित करने के संघ के अनूठे कौशल का संघ-विरोधी भी लोहा मानते थे। निस्स्वार्थ भाव से राष्ट्र-सेवा करनेवाला संघ ही एकमेव देशव्यापी संगठन है, यह धारणा समाज के सभी लोगों की थी। किंतु राजनीति में कार्य करते-करते संघ के शीर्षस्थ नेताओं से लेकर स्थानीय कार्यकर्ता सार्वजनिक रूप से आपस में ही एक-दूसरे की बखिया उधेड़ रहे हैं।

सन् 2004 का चुनाव हारकर केंद्रीय सत्ता से अपदस्थ संघप्रेरित भाजपा की मुंबई में शीर्षस्थ नेताओं की बैठक सातसितारा होटल में हुई। इतना धन कहां से आया? स्वतंत्र भारत की सभी सरकारें काले धन के आधार पर बनती आ रही हैं। परिणामस्वरूप, स्वतंत्र भारत में भ्रष्टाचार सभी स्तरों पर सर्वव्यापी बन गया है। क्या ऐसी सरकारें सामान्य नागरिकों को कभी सुशासन

37 *नानाजी का स्पष्ट मत था कि ग्राम विकास का महती कार्य राजसत्ता के माध्यम से नहीं हो सकता। सिर्फ संघ ही इस काम को करने में सक्षम है।*

दे पाएंगी? क्या यह राजनीतिक तौर-तरीका सामान्य जनों से समरसता निर्माण कर सकेगा?

पूजनीय डॉक्टरजी और पूज्य गुरुजी की तसवीरें अपने प्रमुख कक्ष में टांगनेवाले सांसदों को घूस लेकर सदन में प्रश्न पूछने के लिए पकड़ा गया। क्या ऐसी स्थिति में राजनीति के माध्यम से संघ स्वतंत्र भारत का भविष्य उज्ज्वल बना पाएगा?

स्वतंत्रता पाकर कांग्रेस सरकारों ने औद्योगीकरण के आधार पर संपन्न बने देशों की प्रगति की दिशा अपनाई। उन देशों में शहरीकरण को महत्त्व दिया जाता है। भारत ग्राम आधारित देश है। अतः हमें ग्रामवासियों की सुख-सुविधाओं को प्राथमिकता देनेवाले आर्थिक नीति की दिशा अपनाना आवश्यक था। संघप्रेरित राजनीतिक पार्टी को अपने देश की इस विशेषता को ध्यान में रखना चाहिए था। हमारी संस्कृति पिछड़े देशों की प्राकृतिक संपदा हड़पकर स्वयं को संपन्न बनाने की शिक्षा नहीं देती। अतः संघप्रेरित राजनीतिक संगठन को अपनी संस्कृति के अनुसार आर्थिक विकास की दिशा अपनानी चाहिए थी, किंतु स्व. पं. दीनदयालजी के 'एकात्म मानव दर्शन' को तिलांजलि देकर भाजपा ने 1980 से गांधीवादी समाजवाद को अपनाया, जो कांग्रेस निर्धारित शहरीकरण का मॉडल था। परिणामस्वरूप, 60 वर्ष के स्वतंत्रता काल में 70 फीसदी आबादीवाले ग्रामीण भारत की घोर उपेक्षा हुई। शहरी लोगों की सुख-सुविधाओं तथा सुंदरीकरण के लिए बेहिसाब कर्जा लेकर शहरों को सजाया जा रहा है। भाजपा भी वही काम करती आ रही है। फलस्वरूप, देश के विभिन्न अंचलों में ग्रामीण जनता बेकारी, गरीबी और कर्जदारी की यातनाओं से तंग आकर आत्महत्याएं कर रही हैं।

सत्तालोलुप राजनेताओं द्वारा बड़ी-बड़ी घोषणाएं करने के बावजूद ग्रामीण भारत में बढ़ रहा आत्महत्याओं का दर्दनाक सिलसिला दूर होना संभव नहीं है।

संघ का कार्य देशव्यापी है, लाखों स्वयंसेवक आज भी नित्यप्रति संघ शाखाओं में आते हैं। यदि संघ ने राजनीतिक मोह-माया से पूर्णतः मुक्ति पाई और ग्रामीण भारत के प्रत्येक गांव को आत्मनिर्भर बनाकर देश का भविष्य उज्ज्वल बनाने का काम अपनाया तो अपना देश दुनिया में अनुकरणीय सामाजिक जीवन का नमूना खड़ा कर सकता है। इसी की आज मानव मात्र के लिए आवश्यकता है।

'आत्मवत् सर्वभूतेषु' हमारी संस्कृति का मूलमंत्र है। अतः देश के नागरिकों में जाति, मजहब, क्षेत्र, रंग-रूप और भाषा-भेद की भावना त्याग कर देश के सभी नागरिकों को एक परिवार के रूप में विकसित करने का काम व्यावहारिक धरातल पर संघ ही कर सकता है।

अपने देश के ग्रामीण बंधु-बहनें सरल, निष्पाप और कर्तृत्ववान हैं, यदि उनके बीच रहकर काम किया गया तो प्रत्येक ग्रामीण आबादी सहज में ही स्वावलंबी बन सकती है। कारण, वह प्राकृतिक संपदा से संपन्न है। यह प्रयोगसिद्ध अनुभव है।

संघ ने यदि गुरुजी के जन्मशताब्दी समारोह वर्ष में दृढ़ता के साथ यह कदम उठाया तो संघ का कार्य सार्थक सिद्ध होगा। इससे केवल परमपूज्य डॉक्टरजी और गुरुजी की ही आत्मा प्रसन्न नहीं होगी, अपितु स्वातंत्र्य संग्राम में बलिदान करनेवाले सभी हुतात्माओं की आत्माएं संतुष्ट होंगी।

यह काम केवल राजसत्ता द्वारा कदापि संभव नहीं हो सकता—इस तथ्य को स्वतंत्र भारत में नजरअंदाज किया गया है। अब यह काम देर से ही क्यों न हो, संघ ही कर सकता है। संघ ने यदि सही दिशा में कदम बढ़ाया तो देश में संघ सहज में ही सर्वप्रिय बनेगा और देश का हर नागरिक संघ-कार्य से जुड़ने में गर्व अनुभव करेगा।

□□□